THE

CHOWKHAMBA SANSKRIT SERIES

Work No. 15

THE

S'IVASTOTRĀVALĪ

OF

UTPALADEVĀCHĀRYA

With the Sanskrit commentary of

KṢEMARĀJA

Edited with Hindi commentary

BY

Rājānaka Lakṣmaṇa

THE

CHOWKHAMBA SANSKRIT SERIES OFFICE

VARANASI-1

1964



श्री राजानक लक्ष्मण जी

(श्री स्वामी ईश्वरस्वरूप जी)

प्राक्कथन

श्री स्वामी ईश्वर स्वरूप जी[1] (ब्रह्मचारी लक्ष्मण जी) ने आध्यात्मिक तथा साहित्यिक जगत में ऐसी अमर ख्याति प्राप्त की है कि उनके विषय में किसी परिचयात्मक बात के कहने का साहस करना दिवाकर को दीपक दिखाने के समान होगा। स्वामी जी उच्च कोटि के महात्मा, सफल योगी, संस्कृत के धुरंधर विद्वान्, प्रकाण्ड पण्डित तथा सिद्धहस्त लेखक और अद्वैत-शैव-दर्शन के पारंगत हैं। कहना न होगा कि कश्मीर-शैव-शास्त्र-सागर की गहराई में पड़े हुए बहुमूल्य रत्नों का सर्वोत्कृष्ट पारखी कहलाए जाने का गौरव यदि आजकल किसी को प्राप्त हो सकता है, तो वह स्वामी जी ही हैं।

'शिवस्तोत्रावली' का पहिला संस्करण चौखम्बा संस्कृत सीरीज कार्यालय वाराणसी से आज से लगभग साठ वर्ष पहले छप चुका था, पर वह अब बहुत वर्षों से अप्राप्य हो गया है। तब से इसके दूसरे संस्करण की जो मांग चली आ रही थी, वह अब उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही है। उसी मांग की पूर्ति के लिए यह संस्करण प्रकाशित किया जा रहा है।

पहला संस्करण केवल एक ही हस्तलिखित प्रति के आधार पर प्रकाशित किया गया था। उसके संपादक को अन्य हस्तलिखित प्रतियों आदि के रूप में कोई भी वांछनीय सुविधा उपलब्ध न थी। फलतः उस संस्करण में बहुत सी अशुद्धियाँ रह गई थीं।

स्वामी जी ने अपनी प्रमुख शिष्याओं ब्रह्मचारिणी शारिका देवी तथा प्रभा देवी के अनुरोध से इस ग्रन्थ का जो अत्युत्कृष्ट संस्करण तैयार किया है, वही अब प्रकाशित किया जा रहा है। स्वामी जी ने भिन्न भिन्न स्थानों और सज्जनों से इसकी पाँच-छः हस्तलिखित प्रतियां प्राप्त करने का प्रशंसनीय उद्योग किया। इनमें से चार तो अपेक्षाकृत बहुत शुद्ध थीं। इन्हीं चार प्रतियों के आधार पर इन्होंने कष्ट-साध्य परिश्रम करके शुद्ध और उपयुक्त पाठों की पूरी जांच की। परिणाम-स्वरूप पहले

---

१. स्वामी जी के शिष्य तथा भक्त इनको इसी प्रिय नाम से पुकारते हैं।

संस्करण के सभी अशुद्ध पाठों को बहिष्कृत करने और उनके स्थान पर शुद्ध तथा उपयुक्त पाठ रखने में ये सफल हो गए।

इस संस्करण में अत्यन्त अनूठे ढंग से सरल तथा सुबोध हिन्दी-टीका दी गई है। उपयोगी और महत्त्वपूर्ण पाद-टिप्पणियों ने सोने पर सुहागे का काम किया है। इसकी प्रशंसा के संबन्ध में अधिक कहने की आवश्यकता नहीं है। केवल इतना कहना पर्याप्त होगा कि यह पुस्तक स्वामी जी की पहले प्रकाशित की गई सभी पुस्तकों की तरह अधिक उपयोगी होगी। पाठक इस बात का स्वयं अनुभव करेंगे।

स्वामी जी के पिछले प्रकाशनों का जैसा आदर हुआ, वैसा ही, बल्कि उससे भी अधिक आदर इस ग्रन्थ का भी होगा, ऐसी पूर्ण आशा है।

जिया लाल कौल

भूमिका

कश्मीर के शैव-शास्त्र-साहित्य रूपी आकाश को जिन अनेक शैव-शास्त्र-आचार्य रूपी तारों ने अपनी कृतियों के प्रकाश से सदा के लिए देदीप्यमान और उज्ज्वल बनाये रखा है, उन में से एक प्रमुख तारा कहलाये जाने का गौरव जिस को प्राप्त हो सकता है, वह आचार्य उत्पल देव जी हैं। न केवल शैव-दर्शन संबंधी मूल ग्रन्थों के उत्कृष्ट लेखक तथा उच्च कोटि के दार्शनिक के रूप में ही वरन् एक कुशल टीकाकार के रूप में भी इन की ख्याति सदा अमर रहेगी।

संस्कृत के बड़े-बड़े महाकवियों की भाँति शैव-शास्त्र के आचार्यों ने भी अपनी कृतियों में अपने तथा अपने जीवन के विषय में कुछ भी नहीं लिखा है। उन्हों ने इस संबंध में मौन का आश्रय लेना ही उचित समझा। अपने विषय में लंबी चौड़ी बातें लिख कर सामान्य लेखक यश को प्राप्त करना चाहते हैं, पर इन महान् आचार्यों को यश की प्राप्ति की लालसा भला क्यों होती, जब कि यश आपसे आप ही इन के चरण-कमलों को चूमता रहा है। आचार्य उत्पल देव जी के विषय में भी कुछ जानने के लिए उपयुक्त सामग्री उपलब्ध नहीं है। फलतः पाठकों को आचार्य जी की जीवन-लीला की थोड़ी सी जानकारी कराने की इच्छा होते हुए भी उस इच्छा को पूर्ण करना हमारे लिए संभव नहीं।

शैव-शास्त्र-साहित्य की उत्पत्ति का श्रीगणेश, इसका प्रचार तथा विकास पहले मौखिक और तदनन्तर लिखित रूप में किन दिव्य पुरुषों के हाथों और कैसे हुआ, इसका सुन्दर दिग्दर्शन उत्पल देव जी के गुरुदेव आचार्य सोमानन्द जी ने अपने सुप्रसिद्ध तथा महत्वपूर्ण ग्रन्थ 'शिवदृष्टि' के अन्त में दिया है। उसकी जरा सी झांकी पाठकों के अवलोकनार्थ यहां प्रस्तुत की जाती है। शैव-शास्त्र-सागर के रत्नों के पारखियों के लिए उन रत्नों के उद्गम-स्थान तथा मूल स्रोत के विषय में थोड़ी सी जानकारी अवश्य रोचक तथा लाभदायक होगी, इसी विचार से ऐसा किया जाता है।

चिरकाल तक शैव-शास्त्रों के रहस्यपूर्ण सिद्धान्त ऋषियों के मुख-कुहरों में ही छिपे रहे। कलियुग के आने पर वे ऋषि कलापि नामक ग्राम आदि दुर्गम स्थानों में जा बैठे। इस प्रकार शैव-दर्शन का प्रचार लुप्त होने

लगा। यह देख कर इस शास्त्र के मूल गुरु भगवान् शंकर के हृदय में दया-भाव उमड़ आया। वे 'श्रीकंठ' के रूप में उत्तराखण्ड में स्थित कैलास पर्वत पर घूमते-घामते नीचे उतर आए और दुर्वासा नामक ऋषि को यों आदेश दिया—'तुम शैवागम का पुनरुद्धार करो, जिस से इस का प्रचार सुचारु रूप में चलता रहे।' भगवान् के आदेश को पा कर महर्षि दुर्वासा ने त्र्यम्बकादित्य नामक एक मानसिक पुत्र को उत्पन्न किया और उसे अद्वैत-शैव-दर्शन का उपदेश दिया। त्र्यम्बकादित्य त्र्यम्बक नामक गुफा में चला गया और वहां त्र्यम्बक नामक एक मानसिक पुत्र को जन्म दिया। उस का पुत्र भी सिद्ध पुरुष बन गया और अपने मानसिक पुत्र को उपदेश दे कर स्वयं आकाश-मण्डल में अन्तर्हित हो गया। इस प्रकार मानसिक पुत्र उत्पन्न कर के उसे ज्ञानोपदेश देने का क्रम चौदह पीढ़ियों तक जारी रहा। ये चौदह सिद्ध अन्तर्मुख अवस्था में ही रह कर शैव-दर्शन का प्रचार करते रहे। इस परम्परा का पन्द्रहवां सिद्ध भी इस अद्वैत शास्त्र का प्रकाण्ड पण्डित बन गया, पर किसी अंश में बहिर्मुख होने के कारण अपने पूर्वजों की भाँति योग-बल से मानसिक पुत्र को जन्म देने में असमर्थ रहा। लौकिक व्यवहार करते करते एक बार उसकी दृष्टि एक ऐसी ब्राह्मण कन्या पर पड़ी, जो सर्व-गुण-सम्पन्न तथा शुभ लक्षणों वाली थी। वह उस के माता-पिता के पास गया और उन से उस के विषय में प्रार्थना की। उन के स्वीकार करने पर उस ने उस के साथ ब्राह्म रीति से विवाह किया और उसे अपने घर ले आया। इस (पन्द्रहवें सिद्ध) से संगमादित्य नामक एक पुत्र उत्पन्न हुआ। एक बार घूमते घामते संगमादित्य शारदा-देश (कश्मीर) में पहुँचा। यहां कदाचित् इसके प्राकृतिक सौंदर्य तथा मनोहर जलवायु को देख कर इस पर मुग्ध हुआ अथवा इस देश को शारदा (सरस्वती) का कृपापात्र समझ कर इससे आकृष्ट हुआ और स्थायी रूप से यहीं रहने लगा। संगमादित्य का पुत्र वर्षादित्य था। वर्षादित्य के पुत्र का नाम अरुणादित्य और उस के पुत्र का नाम आनन्द था। आचार्य आनन्द भी अपने पूर्वजों की भाँति अद्वैत-शैव-दर्शन का प्रकाण्ड पण्डित था। आचार्य श्री उत्पल देव जी के गुरुदेव आचार्य सोमानन्द जी इन्हीं आचार्य आनन्द के सुपुत्र थे।

श्रीमान् आचार्य अभिनव गुप्त जी ने श्रीतन्त्रालोक के छत्तीसवें आह्निक में उपर्युक्त वर्णन में एक और विशेष बात का उल्लेख किया है। उस के

अनुसार महर्षि दुर्वासा ने अपने योग-बल से तीन मानसिक पुत्रों को जन्म दिया और उन्हें इस 'शैव-सिद्धान्त' का उपदेश किया। उसने अद्वैत-शैव-शास्त्र का उपदेश अपने पहले पुत्र त्र्यम्बक नाथ को, द्वैत-शैव-शास्त्र का ज्ञान दूसरे पुत्र आमर्दक नाथ को और द्वैताद्वैत-शैव-शास्त्र की शिक्षा तीसरे पुत्र श्रीनाथ को दी। कालान्तर में यही तीन आचार्य क्रम से शैव-दर्शन की तीन शाखाओं के प्रवर्तक माने जाने लगे। श्री त्र्यम्बक नाथ ने एक मानसिक पुत्री को उत्पन्न किया, जो अर्ध-त्र्यम्बक शाखा की प्रवर्तिका मानी जाती है। इस प्रकार संकलन-रूप में शैव-दर्शन साढ़े तीन शाखाओं में विभक्त हुआ।

ऊपर जो कुछ कहा गया है, उससे यही सिद्ध होता है कि भगवान् दुर्वासा से लेकर आचार्य श्री सोमानन्द के समय तक शैव-दर्शन के पठन-पाठन का प्रचार केवल मौखिक रूप में और वंश-परंपरा द्वारा होता रहा। श्री सोमानन्द जी ने इस परंपरा की दिशा को बदल दिया। उन्होंने जहां शैव-दर्शन के मुख्य सिद्धान्तों के विषय पर 'शिव-दृष्टि' नामक पहला ग्रन्थ लिख कर शैव-दर्शन-साहित्य का सूत्रपात किया, वहां अपने शिष्य श्री उत्पल देव जी को इस शास्त्र की शिक्षा-दीक्षा दे कर शिष्य-परंपरा द्वारा इस शास्त्र के पठन-पाठन के प्रचार की प्रणाली को जन्म दिया। इस शिष्य-परंपरा के पहले आचार्य श्री उत्पल देव जी थे। अब ये शैव-आचार्य शैव-दर्शन के मूल सिद्धान्तों के विषय पर स्वतंत्र रूप में मौलिक ग्रन्थों की रचना करने लगे और इसके साथ-साथ अपने पूर्ववर्ती आचार्यों, विशेषतः अपने गुरुओं की मौलिक कृतियों पर टीकायें (वृत्तियां आदि) लिखने लगे। इस प्रकार शैव-शास्त्र का वह विशाल साहित्य उत्पन्न हुआ, जो अब उपलब्ध है और जिसके अधिकांश ग्रन्थों को जम्मू व कश्मीर सरकार के रिसर्च-कार्यालय ने प्रकाशित किया है। कहना न होगा कि यह साहित्य इतना उच्च कोटि का, महत्त्वपूर्ण तथा विशाल है कि यह संसार के किसी भी उन्नत देश के गर्व और गौरव का कारण हो सकता है। तभी तो प्राचीन काल से हमारे देश का नाम ही शारदा-देश पड़ गया है।

जैसे कि ऊपर कहा जा चुका है, श्री उत्पल देव जी का गुरु आचार्य सोमानन्द था। इन के पिता जी का नाम 'उदयाकर' तथा इन के सुपुत्र का नाम 'विभ्रमाकर' था। इन्हों ने कश्मीर के किस विशेष नगर या स्थान को अपने जन्म से पवित्र और सुशोभित किया था, इस बात के जानने का

सौभाग्य हमें प्राप्त नहीं है। श्री सोमानन्द के शिष्य होने के कारण ये उन के समकालीन थे और संभवतः अवस्था में उन से कुछ छोटे ही रहे होंगे। श्री सोमानन्द का स्थिति-काल ईसा की नवीं शताब्दी का उत्तरार्ध कहा जाता है, अतः उत्पल देव जी का स्थिति-काल नवीं शताब्दी के उत्तरार्ध तथा दसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध के आस-पास रहा होगा।

श्री उत्पल देव जी की जिन कृतियों का अब तक पता चला है, उन के नाम ये हैं—

(१) ईश्वरप्रत्यभिज्ञा
(२) ईश्वरप्रत्यभिज्ञा-वृत्ति
(३) ईश्वरप्रत्यभिज्ञा-टीका
(४) संबन्धसिद्धि
(५) अजडप्रमातृसिद्धि
(६) ईश्वरसिद्धि
(७) शिवदृष्टि-वृत्ति
(८) शिवस्तोत्रावली

इन में से छः ग्रन्थों को जम्मू व कश्मीर सरकार के रिसर्च-कार्यालय ने प्रकाशित किया है और यह ग्रन्थ उपलब्ध हैं। तीसरी ईश्वरप्रत्यभिज्ञा-टीका अनुपलब्ध होने के कारण अभी छपी नहीं है। आठवीं पुस्तक अर्थात् 'श्री शिवस्तोत्रावली' 'चौखम्बा संस्कृत सीरिज, वाराणसी' द्वारा ई० सन् १९०२ में प्रकाशित हुई थी, पर अब चिरकाल से अप्राप्य हो गई है।

कहा जाता है कि श्री उत्पल देव जी अपने जीवन-काल में कुछ समय के लिए भक्ति-भाव की पराकाष्ठा के कारण मस्ताना दशा को प्राप्त हुए थे। उन की इस मस्ती की दशा में ही 'शिवस्तोत्रावली' की रचना हुई। उन्होंने अपने अन्य ग्रन्थों की तरह सामान्य रूप में इस ग्रन्थ को नहीं लिखा, बल्कि अपनी मस्ती की दशा में ही, हिन्दी के सुप्रसिद्ध संत कवि कबीर की भाँति, वे तात्कालिक और मौखिक कविता के रूप में श्लोकों को कहते जाते और उन के प्रधान शिष्य उन को लिख डालते। कुछ काल के पश्चात् श्री राम तथा आदित्यराज नामक आचार्यों ने इन श्लोकों को क्रम-बद्ध कर के इन्हें भिन्न-भिन्न स्तोत्रों का रूप दे दिया। इस के बाद आचार्य श्री विश्वावर्त्त ने इन सारे श्लोकों को बीस अलग-अलग स्तोत्रों में विभक्त किया और अपने

बुद्धि-बल से विषय की दृष्टि से प्रत्येक स्तोत्र का स्वतंत्र रूप में नामकरण-संस्कार किया। कहते हैं कि उत्पल देव जी ने स्वयं केवल तीन स्तोत्रों, तेरहवें, चौदहवें और पन्द्रहवें के नाम क्रमशः संग्रहस्तोत्र, जयस्तोत्र और भक्तिस्तोत्र रखे। शेष सत्रह स्तोत्रों के नाम तो आचार्य विश्वावर्त्त ने ही रखे। प्रत्येक स्तोत्र का नाम उस स्तोत्र के आदि और अन्त में दिया गया है। श्री क्षेमराज जी ने भी अपनी 'शिवस्तोत्रावली' की वृत्ति (टीका) के प्रारम्भ में उपर्युक्त बातों की ओर संकेत किया है। ऐसा जान पड़ता है कि उपर्युक्त तीन स्तोत्र अर्थात् संग्रह-स्तोत्र, जय-स्तोत्र तथा भक्ति-स्तोत्र आचार्य उत्पल देव जी को बहुत प्यारे थे और इसी लिए उन्हों ने इन तीन स्तोत्रों के नाम स्वयं रखे। विचार करने पर मालूम होता है कि वस्तुतः ये तीन स्तोत्र अन्य स्तोत्रों की अपेक्षा अत्यन्त सुन्दर, मनोमुग्धकारी तथा प्रभावोत्पादक बन पड़े हैं। इस प्रकार शिवस्तोत्रावली का वह रूप निश्चित हुआ, जिस में वह अब उपलब्ध है।

'शिवस्तोत्रावली', जैसे कि इस के नाम से ही सूचित होता है, संस्कृत-स्तोत्र-साहित्य की एक ऐसी अनूठी पुस्तक है, जिस में भगवान् शंकर की स्तुति के गीत गाये गये हैं। इस में अद्वैत-शैव-दर्शन के मूल सिद्धान्तों के आधार पर चरम सीमा को पहुंची हुई समावेश-मयी भक्ति की पूर्ण अभिव्यक्ति हुई है। या यों कहा जाय कि इन स्तोत्रों की पृष्ठ-भूमि या आधार-स्तम्भ शैव-शास्त्र के सिद्धान्त हैं। इस के अध्ययन से मालूम होता है कि ग्रन्थकार अर्थात् आचार्य उत्पल देव जी पूर्ण सिद्ध और योगी तथा शैव-शास्त्र के मूल तत्त्वों के सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक (अर्थात् अनुभव-सिद्ध) दोनों, पक्षों या रूपों के पूर्ण ज्ञाता थे। इस में उन्हों ने प्रकट रूप से लौकिक स्तोत्रों के रूप में समावेश-मयी भक्ति और उस की सफलता से मिलने वाले परमानन्द का ऐसा सजीव, सुन्दर तथा प्रभावोत्पादक चित्रण किया है कि यह 'भक्ति-देवी' नाटककार भवभूति के शिखरिणी-पद्यों की तरह, मयूरी के समान हमारे सामने मानो सांगोपांग रूप धारण कर के नाच उठती है और हमें आनन्द-सागर में प्लावित कर डालती है। यों तो सारे ग्रन्थ का विषय एक ही अर्थात् भगवान् शंकर की स्तुति है, किन्तु प्रत्येक स्तोत्र में वर्णन की शैली ऐसी विलक्षण, अनूठी तथा पहले की अपेक्षा नवीनता लिए हुए दिखाई देती है कि सभी स्तोत्र अपने सीमित रूप में एक दूसरे से भिन्न-भिन्न प्रतीत होते हैं। इस प्रकार इस ग्रन्थ की

रचना में कुशल स्तोत्र-कार ने अपनी योग्यता तथा प्रतिभा से एकता में अनेकता और अनेकता में एकता की झलक ऐसे ही प्रस्तुत की है, जैसे भारतीय संस्कृति में एकता में अनेकता और अनेकता में एकता की झलक स्पष्ट रूप में दिखाई पड़ती है। ग्रन्थकार के वचनों में ऐसा चमत्कार और जादू भरा पड़ा है कि ग्रन्थ का विषय आध्यात्मिक तथा गूढ़ और इसी लिए सामान्य पाठक के लिए कदाचित् नीरस होते हुए भी इस का अध्ययन साहित्य-रसिकों को उत्कृष्ट कविता के रसास्वादन का आनन्द प्रदान करने की पूरी क्षमता रखता है। सच तो यह है कि आचार्य उत्पल देव जी की प्रतिभा सर्वतोमुखी है और इस ग्रन्थ के सीमित क्षेत्र में भी हमें उस की पूरी झलक मिलती है।

इस रचना के अवलोकन से मालूम होता है कि आचार्य उत्पल देव जी का संस्कृत भाषा पर पूर्ण अधिकार था। संस्कृत के सुप्रसिद्ध गद्यकार बाणभट्ट की भाँति इन्हों ने भी इस पुस्तक की भाषा में सरल और कठिन, दोनों शैलियों का प्रयोग किया है। कहीं-कहीं श्लोक ऐसी सरल भाषा में रचा गया है कि उसे कई छोटे-छोटे वाक्यों में विभक्त किया जा सकता है और उसका आशय आसानी से समझा जा सकता है। इसके विपरीत कहीं-कहीं भाषा-काठिन्य का अवश्य अनुभव होता है। कुछ श्लोक ऐसे हैं, जिनका पूर्वार्ध केवल एक समस्त-पद है और उत्तरार्ध में भी एक समास के सिवा और कुछ नहीं। ऐसे लंबे समास हमें नाटककार भवभूति के उन लंबे समासों का स्मरण कराते हैं, जो उसकी भाषा-शैली को विशेषता प्रदान करते हैं। भवभूति की भाँति ही उत्पल देव ने भी कुछ असाधारण शब्दों का प्रयोग किया है, पर इनकी संख्या बहुत थोड़ी है। ऐसा होते हुए भी इसमें कृत्रिमता कहीं भी नहीं खटकती।

शिवस्तोत्रावली की जो विवृति (संस्कृत टीका) यहाँ प्रकाशित की जाती है, वह श्री क्षेमराज जी ने लिखी है। क्षेमराज जी कश्मीर के शैव-दर्शन-साहित्य के सुप्रसिद्ध आचार्य श्री अभिनवगुप्त जी के मुख्य शिष्य कहे जाते हैं। श्री अभिनवगुप्त जी का स्थितिकाल ईसा की दसवीं शताब्दी के अन्त तथा ग्यारहवीं शताब्दी के प्रारम्भ के आस-पास कहा जाता है। क्षेमराज उन के शिष्य होने के कारण उन के समकालीन थे और संभवतः अवस्था में उन से कुछ छोटे रहे होंगे। अतः इन का स्थितिकाल ग्यारहवीं शताब्दी का पूर्वार्ध माना जा सकता है। इन्हों ने भी अपने गुरुदेव की

ॐ तत् सत्

अथ

वैधुरवैजयनामधेयं सप्तमं स्तोत्रम्

त्वय्यानन्दसरस्वति
समरसतामेत्य नाथ मम चेतः ।
परिहरतु सकृदियन्तं
भेदाधीनं महानर्थम् ॥ १ ॥

नाथ = हे स्वामी !
त्वयि = आप
आनन्द-सरस्वति=आनन्द-सागर में
समरसताम् = समरसता अर्थात् तन्मयता को
एत्य = प्राप्त हो कर
मम = मेरा
चेतः = हृदय
भेद्-अधीनं = भेद-प्रथा पर आश्रित (अर्थात् भेद-प्रथा से होने वाली)
इयन्तं = (अज्ञान रूपी) इतनी
महा-अनर्थं = बड़ी आपत्ति को
सकृत् = एक बार ही (अर्थात् सदा के लिए)
परिहरतु = दूर करें ॥ १ ॥

आनन्दसरस्वति—हर्षसमुद्रे[१], समरसतां—समावेशैकध्यम्[२] सकृत्—एकवारं, परिहरतु—यथा न पुनर्भवतीत्यर्थः[३] । इयन्तम्—अपर्यन्तम् ॥१॥

एतन्मम न त्विदमिति
रागद्वेषादिनिगडदृढमूले ।

---

१. ख० पु० प्रहर्षसमुद्रे—इति पाठः ।
२. ख० पु०, च० पु० समावेशकैवल्यम्—इति पाठः,
ग० पु० समावेशं प्राप्य—इति च पाठः ।
३. ख० पु० पुनर्भवेत्—इति पाठः ।

भाँति शैव-दर्शन-साहित्य की अनुपम सेवा की है और पुराने शैवाचार्यों के बहुत से ग्रन्थों तथा तंत्रों पर टीकाएँ लिखी हैं। इन की रचनाओं से इन के अगाध पाण्डित्य तथा प्रतिभा का परिचय मिलता है। इन की कुछ मुख्य कृतियों के नाम ये हैं :—

(१) प्रत्यभिज्ञाहृदयम्
(२) शिवसूत्रविमर्शिनी
(३) स्पन्दनिर्णय
(४) शिवस्तोत्रावली-विवृति

कश्मीर के साहित्य-सेवियों ने जो स्तोत्र-ग्रन्थ लिखे हैं उनमें से ये दो प्रमुख हैं—

(१) श्रीशिवस्तोत्रावली।
(२) जगद्धरभट्टप्रणीत स्तुतिकुसुमाञ्जलि।

स्तुतिकुसुमाञ्जलि का हिन्दी टीका सहित एक उत्कृष्ट संस्करण निकल चुका है। इसके सम्पादक श्री प्रेमवल्लभ शास्त्री और प्रकाशक पं० केशवदत्त त्रिपाठी हैं।

आज से लगभग ६० वर्ष पूर्व 'शिवस्तोत्रावली' की एक सहस्र प्रतियाँ पहली बार चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी से ही छपी थीं। इस संस्था के अध्यक्ष बड़े आस्थावान् व्यक्ति हैं जिनके द्वारा अब तक सहस्रों प्राचीन संस्कृत-ग्रन्थरत्नों का उद्धार हो चुका है; आसन्न अतीत में ही 'शब्दकल्पद्रुम' तथा 'वाचस्पत्यम्' 'शतपथब्राह्मणम्' जैसे अनेक विशाल ग्रन्थों का व्ययसाध्य प्रकाशन इनसे सुलभ मूल्य में प्राप्त कर संस्कृत-जगत् बहुत बड़े अभाव की पूर्ति अनुभव कर रहा है। सुरभारती का संरक्षक तथा प्रचारक इतना बड़ा संस्थान दूसरा नहीं दिखाई पड़ता। जिस ग्रन्थ की एक सहस्र प्रतियाँ ६० वर्षों में बिक सकी हों उसका पुनः प्रकाशन इन्हीं जैसे व्यक्तियों का साहसिक कार्य है। निस्सन्देह ये धन्यवाद के पात्र हैं।

जिया लाल कौल

[भूतपूर्व अध्यक्ष, संस्कृत-हिन्दी-विभाग,
श्री प्रताप कॉलेज, श्रीनगर, कश्मीर]

स्तोत्र-सूची

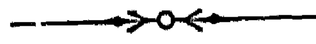
श्रीमदुत्पलदेवाचार्यविरचिता

श्रीशिवस्तोत्रावली

श्रीमदभिनवगुप्ताचार्यपादपद्मोपजीवि-

श्रीक्षेमराजाचार्यविरचितविवृतिसमेता

राजानकलक्ष्मणविरचितभाषाटीकोपेता च ।



ॐ तत् सत्

श्री विघ्नहर्त्रे नमः ।

श्री गुरवे शिवाय नमः ।

(श्रीक्षेमराजाचार्यटीका)

ॐ उद्धरत्यन्धतमसाद्विश्वमानन्दवर्षिणी[1] ।
परिपूर्णा जयत्येका देवी चिच्चन्द्रचन्द्रिका ॥
अभ्यर्थितोऽस्मि[2] बहुभिर्बहुशो भक्तिशालिभिः ।
व्याकरोमि मनाक् श्रीमत्प्रत्यभिज्ञाकृतः स्तुतीः ॥

ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारो वन्द्याभिधानः श्रीमदुत्पलदेवाचार्योऽस्मत्परमेष्ठी सततसाक्षात्कृतस्वात्ममहेश्वरः स्वं रूपं तथात्वेन परामृष्टुमर्थिजनानुजिघृक्षया संग्रहस्तोत्रजयस्तोत्रभक्तिस्तोत्राण्याह्निकस्तुतिसूक्तानि च कानिचिन्मुक्तकान्येव[3] बबन्ध । अथ कदाचित्तानि एव तद्व्यामिश्राणि

१. ग० पु०—आनन्दकारिणी—इति पाठः ।

२. का० पु०—'अत्यर्थितोऽस्मि'—इति पाठः ।

३. एकस्मिन्नेव श्लोके यत्र समन्वयो लगति तन्मुक्तकम् ।

लब्ध्वा श्रीराम[1] आदित्यराजश्च पृथक् पृथक् स्तोत्रशय्यायां न्यवेशयत्। श्रीविश्वावर्त्तस्तु विंशत्या स्तोत्रैः स्वात्मोत्प्रेक्षितनामभिर्व्यवस्थापितवानिति किल श्रूयते। तदेतानि संग्रहादिस्तोत्राणि सूक्तान्येव प्रसिद्धवार्तिकशय्योपारूढानि स्पष्टं व्याकुर्मः।

मोक्षलक्ष्मीसमाश्लेषरसास्वादमयस्य परमेश्वरसमावेशस्यैव परमोपादेयतां दर्शयितुं परमेशस्वरूपाविभिन्नतत्समाविष्टभक्तजनस्तुतिक्रमेण स्तोत्रमाह—

न ध्यायतो न जपतः स्याद्यस्याविधिपूर्वकम्।
एवमेव शिवाभासस्तं नुमो भक्तिशालिनम्॥ १॥

(भाषाटीका समन्वय-सहित)

यस्य = जिसको
न ध्यायतः = बिना ध्यान के
(**च** = तथा)
न जपतः = बिना जप के
अविधि-पूर्वकम् = विधिरहित रूप से
एवमेव = ऐसे ही (अर्थात् ईश्वर के अनुग्रह से ही)
शिव- = शिवात्मा प्रभु का
आभासः = प्रकाश
स्यात् = प्राप्त हो,
तं = उस
भक्ति-शालिनं = भक्ति-शोभित (व्यक्ति) की
(**वयं** = हम)
नुमः = स्तुति करते हैं॥ १॥

यस्य एवमेव—मायीयोपायं विना, शिवाभासः—शिवरूपस्वात्मप्रथा स्यात्, तं, भक्त्यैव—समावेशमय्या शालिनं—श्लाघमानं न तु तदतिरिक्तफलाकांक्षाकलङ्कितं भक्तजनं, नुमः—भक्तिचमत्कारवशप्रथितशिवभट्टारकाभेदभक्तिमन्नतिमुखेन तदभिन्नशिवावेशमया भवाम इति यावत्। 'एवमेव'—इत्यनेन सूचितमलौकिकक्रमं दर्शयति—'न ध्यायत'—इत्यादिना। सर्वस्य हि ध्यानजपप्रमुखं ध्येयजप्यस्वरूपं नियताकारमेव प्रथते, भक्तिशालिनस्तु अनुपायमेव निराकारं सर्वाकारं चिदानन्दघनं शिवात्मस्वरूपं सर्वदा स्फुरति। अत एवाह—'अविधिपूर्वकम्'—इति।

१. ग० पु०—श्रीरामराजः-इति पाठः।

विधीयत इति विधिरिज्यध्यानादिः[1] पूर्वं[2] कारणं यत्र, तथा कृत्वा सर्व-विधीनां संकुचितत्वादसंकुचितस्वरूपं प्रत्युपायत्वाभावात् तत्त्वसमावेश-[3]धनैरेव प्रतिभाप्रसादनप्रमुखमवाप्यते[4] । यथोक्तं श्रीपूर्वशास्त्रे—

"न[5] चात्र विहितं किञ्चित्………।" मा० वि०, अ० १८, श्लो० ७७ ।

इत्यादि

"अकिंचिच्चिन्तकस्य…………।" मा० वि०, अ० २, श्लो० २३ ।

इत्यादि । गीतास्वपि—

"मय्यावेश्य मनो ये मां…………।" अ० १२, श्लो० २ ।

इत्यादिकम् । ध्यानजपाभ्यां प्रकाशविमर्शस्वरूपाभ्यां पूजनहवनादि सर्वं संगृहीतमिति प्राधान्यात्तावेवेहोक्तौ ॥ १ ॥

आत्मा मम भवद्भक्तिसुधापानयुवाऽपि सन् ।
लोकयात्रारजोरागात्पलितैरिव धूसरः ॥ २ ॥

(**प्रभो** = हे प्रभु !)
(**यद्यपि** = यद्यपि)
मम = मेरी
आत्मा = आत्मा
भवद्- = आप की
भक्ति- = भक्ति रूपी
सुधा- = अमृत के
पान- = पीने से
युवा अपि = (सदैव) युवावस्था में ही
सन् = रहती है,
(**तथापि** = तो भी यह)
लोकयात्रा- = लोक-व्यवहार रूपी
रजः- = धूलि के
रागात् = उपराग के कारण
पलितैः = श्वेत केशों से
धूसरः इव = धूसरित जैसी (अर्थात् वृद्धावस्था को प्राप्त हुई सी)
(**भासते** = दीख पड़ती है) ॥ २ ॥

---

१. ग० पु०—इज्याध्ययनादिः–इति पाठः । ख० पु०—इज्यध्यानादिपूर्वः–इति पाठः ।

२. ग० पु०—पूर्वः–इति पाठः ।

३. ख० पु०—तत्तत्समावेशधनैः–इति पाठः । ग० पु०—तत्तु समावेशधनैः–इति पाठः ।

४. ख० पु०—आप्यते–इति पाठः ।

५. श्रीपूर्वशास्त्रे—'नास्मिन्विधीयते किंचित्'–इति पाठः ।

हे महेश्वर ! मम आत्मा—जीवो भवद्भक्तिसुधापानेन युवा—समुत्तेजितसहजौजःप्रकर्षोऽपि सन्, लोकयात्रयैव रजसा—लोकव्यवहारधूल्या कृतो यो रागः—उपरागस्ततो हेतोर्यानि पलितानि—जराप्रकारास्तैः धूसरः—विच्छाय इव, न तु वस्तुवृत्तेन, भक्तिसुधापानेन नित्यतरुणीकृतत्वात्। यथा च तरुणस्य धूलिधूसरतया सञ्जातपलितमिव[1] दृश्यमानं नान्तर्म्लानिं मनागप्यादधाति, अपि तु विनोदहासरसचमत्कारमेव पुष्णाति तथा लोकव्यवहारो ममेति रूपकोपमया ध्वनति। पूर्वश्लोके आमन्त्रणपदाभावाद्भवद्भक्तीति न सङ्गतमेव, इति कथमियं स्तोत्रशय्या ? इति श्रीविश्वावर्त एव प्रष्टव्यः, वयं तु सूक्तव्याख्यानोद्यताः ॥ २ ॥

लब्धत्वत्संपदां भक्तिमतां त्वत्पुरवासिनाम्।
सञ्चारो लोकमार्गेऽपि स्यात्तयैव विजृम्भया ॥ ३ ॥

लब्ध- = प्राप्त हुई है
त्वत्- = आप की
संपदां = (स्वरूप-प्रथनात्मक) संपदा जिन को, ऐसे
त्वत्- = आप की
पुर- = (चिद्रूप) पुरी में
वासिनां = रहने वाले
भक्तिमतां = भक्त-जनों का
लोक-मार्गे = लोक-मार्ग (व्युत्थान) में
अपि = भी
(यः = जो)
सञ्चारः = व्यवहार (होता है वह)
तयैव = उसी (चिदानन्द -स्वरूप के)
विजृम्भया = विकास से
स्यात् = होता है ॥ ३ ॥

ये समावेशमयप्रशस्तभक्तियुक्ताः, अत एव लब्धत्वत्संपदः त्वत्पुरे—विश्वपूरके त्वत्स्वरूपे वसन्ति[2], तच्छीलाः, तेषां लोकमार्गे अपि यः सञ्चारः—व्यवहारः, स तयैव—समावेशरसानन्दमय्या, विजृम्भया—विकस्वरतया, स्यात्—भवत्येव। अथ च ये लब्धलौकिकश्रियः त्वद्भक्ताः[3] त्वन्मण्डलवासिनः[4], ते सर्वे स्पृहणीयत्वात् सदा विभूतिमुदिताः, इति समासोक्त्या गमयति ॥ ३ ॥

१. ग० पु०—सञ्जातमिव पलितम्–इति पाठः।

२. ग० पु०—वसन्ति इति तच्छीलाः–इति पाठः।

३. क्वचित् तद्भक्ताः–इति पाठः। औचित्यात् 'त्वद्भक्त' इत्येव पाठोऽत्र गृहीतः !

४. क्वचित् तन्मण्डलवासिनः–इति पाठः। 'त्वन्मण्डल'–इत्येव पाठो ज्यायान्।

साक्षाद्भवन्मये नाथ सर्वस्मिन् भुवनान्तरे ।
किं न भक्तिमतां क्षेत्रं मन्त्रः क्वैषां न सिद्धयति ॥ ४ ॥

नाथ = हे स्वामी !
(**परमार्थ-दृष्ट्या** = पारमार्थिक दृष्टि से)
साक्षात् = प्रत्यक्ष
भवन्मये = आप के स्वरूप-मय
(**अस्मिन्** = इस)
सर्वस्मिन् = समस्त
भुवनान्तरे = संसार-मण्डल में
भक्तिमतां = भक्त-जनों के लिए
किं = कौन सा (स्थान)
क्षेत्रं = (परसिद्धिप्रद) पुण्यतीर्थ
न = नहीं है
(**च** = और)
एषां = इन (भक्तों) का
मन्त्रः = (उपासनीय) मंत्र
क्व = कहाँ
न सिद्धयति=सिद्ध नहीं होता ? ॥४॥

भक्तिमतां—व्याख्यातरूपभक्तिशालिनां सर्वत्र भुवनविषये किं न क्षेत्रं—परसिद्धिसमुदयस्थानम्, क्व च एषां मननत्राणधर्मो मन्त्रो न सिद्धयति । यतः साक्षादिति समावेशदृष्ट्या न कथामात्रेण भवन्मयमेव सर्वं भुवनमेषाम् ॥ ४ ॥

जयन्ति भक्तिपीयूषरसासववरोन्मदाः ।
अद्वितीया अपि सदा त्वद्द्वितीया अपि प्रभो ॥ ५ ॥

प्रभो = हे प्रभु !
(**भवद्** = आप के)
भक्ति-पीयूष-रस- = भक्ति-अमृत-रस रूपी
आसव-वर- = उत्तम आसव को पी कर (जो)
उन्मदाः = मतवाले हो जाते हैं
सदा = (और जो) सदैव
अद्वितीयाः=अनुपम अर्थात् असाधारण स्वरूप वाले होते हुए
अपि = भी
त्वद्-द्वितीयाः अपि = आप के समान स्वरूप वाले होते हैं,
जयन्ति = उन भक्त-जनों की जय हो ॥ ५ ॥

भक्तिपीयूषरस एव आसववरः—उत्कृष्टं पानं, तेन उद्गतहर्षाः ये ते जयन्ति—सर्वोत्कर्षेण वर्तन्ते । कीदृशाः ? अद्वितीयाः—असाधारण-स्वरूपा अपि त्वद्द्वितीयाः—त्वमेव द्वितीयस्तुल्यरूपो येषाम् । अथ च

त्वद्द्वितीया अपि—भक्तिसमावेशेनात्यन्तमभेदासाधनत्वात् त्वमेव द्वितीयः—प्रभुत्वेन परिशीलितो येषां, तथाभूता अपि अद्वितीयाः—विश्वा-भेदिनः। अद्वितीयाश्च कथं त्वद्द्वितीयाः, त्वद्द्वितीयाश्च कथमद्वितीयाः ? –इति विरोधच्छाया ॥ ५ ॥

अनन्तानन्दसिन्धोस्ते नाथ तत्त्वं विदन्ति ते ।
तादृशा एव ये सान्द्रभक्त्यानन्दरसाप्लुताः[1] ॥ ६ ॥

नाथ = हे स्वामी !
ते = आप के
अनन्त- = असीम
आनन्द- = आनन्द रूपी
सिन्धोः = समुद्र के
तत्त्वं = सार-भूत स्वरूप को
ते = वे (भक्त-जन)
एव = ही
विदन्ति = (यथार्थ रूप में) जानते हैं,
ये = जो
तादृशा एव = वैसे ही (अर्थात् उसी प्रकार के अनन्त रूप वाले आप के तुल्य ही)
सान्द्र-भक्ति- = अगाध भक्ति रूपी
आनन्द-रस- = आनन्द-रस से
आप्लुताः = पूर्ण रूप में आप्लावित
(स्युः = हों) ॥ ६ ॥

भक्त्यानन्दरसः—समावेशानन्दप्रसरस्तेन[2] आप्लुताः[3]—आर्द्राशयाः। अत एव तादृशा इति–अपरिमितानन्दरससमुद्रत्वात् त्वद्रूपसरूपाः तव तत्त्वं जानन्ति। यो हि यत्र विद्वान् स हि तद्वेत्त्येव ॥ ६ ॥

त्वमेवात्मेश सर्वस्य सर्वश्चात्मनि रागवान् ।
इति स्वभावसिद्धां त्वद्भक्तिं जानञ्जयेज्जनः ॥ ७ ॥

ईश = हे स्वतंत्र प्रभु !
त्वमेव = आप ही
सर्वस्य = प्रत्येक (पुरुष) की
आत्मा = आत्मा हैं
च = और
सर्वः = प्रत्येक (पुरुष)

१. ख० पु०—रसप्लुताः–इति पाठः।

२. ख० पु०—समावेशाह्लादप्रसरः–इति पाठः। ग० पु०—समावेशानन्द-रसप्रसरः–इति पाठः।

३. ख० पु०—प्लुताः–इति पाठः।

आत्मनि = अपनी आत्मा से
रागवान् = अनुराग रखता है,
इति = इस प्रकार
स्वभाव- = स्वभाव से (अर्थात् अनायास ही)
सिद्धां = होने वाली
त्वद्- = आप की
भक्तिं = भक्ति को
जानन् = (समावेश-दृष्टि से जो) जानता है,
जनः = (उस) पुरुष की
जयेत् = जय हो ॥ ७ ॥

सर्वस्तावदात्मने स्पृहयालुः। वस्तुतस्तु[1] त्वमेव चिद्रूपोऽस्य[2]ात्मा इति। अतस्त्वय्यात्मनि स्वतःसिद्धा भक्तिः, केवलं समावेशयुक्त्या[3] यदि[4] तां जानाति तज्जयेत्—सर्वोत्कर्षेण वर्तेत एव। नियोगे लिङ्॥ ७॥

नाथ वेद्यक्षये केन न दृश्योऽस्येककः स्थितः।
वेद्यवेदकसंक्षोभेऽप्यसि भक्तैः सुदर्शनः॥ ८॥

नाथ = हे स्वामी !
(**अन्तर्मुखतायां** = अन्तर्मुख रूपी समाधि में)
वेद्य- = (वासना-सहित) जानने योग्य पदार्थों के
क्षये = नष्ट होने पर
एककः = अकेले
स्थितः = ठहरे हुए (आप)
केन = किस (पुरुष) से
न = नहीं
दृश्यः असि = देखे जा सकते ?
(**किन्तु** = किन्तु आश्चर्य तो यह है कि)
वेद्य- = ज्ञेय और
वेदक- = ज्ञातृभाव की
संक्षोभे = संक्षुभित अवस्था (व्युत्थान) में
अपि = भी
(**त्वं** = आप)
भक्तैः = भक्त-जनों को
सुदर्शनः = सहज में ही दिखाई
असि = देते हैं ॥ ८ ॥

अन्तर्मुखा[5]वस्थायां सर्ववेद्योपशमे कस्य नाम स्वात्मरूपस्त्वं केवलो

१. ख० पु०—वस्तुतत्त्वमेव-इति पाठः।
२. सर्वस्य-इत्यर्थः।
३. ख० पु०—समावेशशक्त्या-इति पाठः।
४. का० पु०—'यदि'-इति नास्ति।
५. ख० पु०—अन्तर्मुखत्वावस्थायाम्-इति पाठः।

न स्फुरसि। भक्तैः पुनः संसार[1]संपातेऽपि वेद्यवेदकसंक्षोभे असि—त्वं सुदर्शनः—सुखेन दृश्यसे। समावेशकाष्ठाधिवासितैर्हि सततमेतैः—

"भोक्तैव भोग्य[2]रूपेण सदा सर्वत्र संस्थितः॥" स्पं० नि० ३, श्लो० २।

इति स्पन्द[3]शास्त्रोक्तनीत्या शिवमयमेव विश्वमीक्ष्यते। वेद्यविलापनप्रयासव्युदासाय सुशब्दः। तदुक्तं श्रीपूर्वशास्त्रे—

"मोक्षोपायमनाया[4]सलभ्यम्" (?)

इति॥ ८॥

अनन्तानन्दसरसी देवी प्रियतमा यथा।
अवियुक्तास्ति ते तद्वदेका[5] त्वद्भक्तिरस्तु मे॥ ९॥

(प्रभो = हे ईश्वर !)
यथा = जिस प्रकार
अनन्त- = असीमित
आनन्द- = आनन्द से
सरसी = सरस बनी हुई
प्रियतमा = आप की अत्यन्त प्रिय
देवी = पराशक्ति देवी
ते = आप के साथ
अवियुक्ता = अभिन्न
अस्ति = बनी रहती है,
तद्वत् = उसी प्रकार
एका = केवल (चिदानन्द-स्वरूप)
त्वद्- = आपकी
भक्तिः = भक्ति
(सदैव = सर्वदा)
मे = मेरे साथ (अभिन्न ही)
अस्तु = बनी रहे॥ ९॥

उपमाश्लेषोक्त्या परमेश्वरसाम्यमाशास्ते। भक्तिपक्षे देवी—द्योतमाना एकत्र फलाकांक्षाविरहिता, अपरत्र क्रीडादिशीला परैव शक्तिः। अहं भक्त्या अवियुक्तः स्याम्—इति वक्तव्ये, मम अवियुक्तास्तु—इति भक्तिं प्रति प्रेमप्रसरः प्रकाशितः॥ ९॥

सर्व एव भवल्लाभहेतुर्भक्तिमतां विभो।
संविन्मार्गोऽयमाह्लाददुःखमोहैस्त्रिधा स्थितः॥ १०॥

१. ख० पु०—संसारपातेऽपि-इति पाठः।

२. ख० पु०—भोग्यभावेन-इति पाठः।

३. का० पु०—'स्पन्दशास्त्रोक्त'-इति पदं नास्ति।

४. ख० पु०—अनायासम्-इति पाठः।

५. का० पु०—'एका'-इति पाठः।

विभो = हे व्यापक प्रभु !
आह्लाद- = (सत्त्वप्रधान) सुख,
दुःख- = (रजःप्रधान) दुःख
मोहैः = और (तमःप्रधान) मोह के कारण
त्रिधा = तीन प्रकार का
स्थितः = होने वाला
अयं = यह
सर्वः = सम्पूर्ण (अर्थात् त्रिगुणात्मक)
संवित्-मार्गः = ज्ञान का मार्ग
एव = ही
भक्तिमतां = भक्तों के लिए
भवत्- = (चित्स्वरूप) आप की
लाभ- = प्राप्ति का
हेतुः = (सहज) साधन होता है ॥१०॥

व्याख्यातप्रकृष्टभक्तिशालिनाम् अयमाह्लाददुःखमोहैरुपलक्षितो लोके यः संविन्मार्गः—नीलपीतादिबोधरूपः पन्थाः स्थितः, स सर्व एव त्वत्प्राप्तिहेतुः—वेद्यसोपाननिमज्जनक्रमेण परमवेदकभूमिलाभात् ॥ १० ॥

भवद्भक्त्यमृतास्वादाद्बोधस्य स्यात्परापि या ।
दशा सा मां प्रति स्वामिन्नासवस्येव शुक्तता ॥ ११ ॥

स्वामिन् = हे स्वामी !
भवत्- = आप की
भक्ति- = भक्ति रूपी
अमृत- = अमृत का
आस्वादात् = रसास्वादन किये बिना
बोधस्य = ज्ञान की
या = जो
परा अपि = उच्च कोटि की भी
दशा = दशा
स्यात् = हो,
सा = वह (शुष्क ज्ञान की पराकाष्ठा)
मां प्रति = मेरे लिए
आसवस्य = मदिरा की
शुक्तता = खटाई
इव = जैसी अर्थात् मदिरा के समान खट्टी (अर्थात् नीरस और अरोचक)
(**स्यात्** = है) ॥ ११ ॥

हे स्वामिन् त्वच्छक्तिपातसमावेशमयभक्त्यानन्दास्वादमनासाद्य बोधस्य परा—देहपातप्राप्या प्रकृष्टा अपि या शान्तशिवपदात्मा दशा स्यात्—कैश्चित् सम्भाव्यते सा तैः सम्भाव्यमाना मां प्रति आसवस्य यथा शुक्तता—पर्युषितता तथा भातीति यावत् । यतस्तैर्भक्त्यमृतमनास्वाद्यैव शुक्तीकृतम् । यैः पुनरास्वाद्यते तैः स्वचमत्कारानन्दविश्रान्तीकृतत्वात् का शुक्ततासम्भावना । आस्वादादिति ल्यब्लोपे पञ्चमी । अथवा त्वद्भक्त्यमृतास्वादादपि परा—मोक्षरूपा या काचिद्दशा अस्तीति–सम्भा-

ऽयते सा मह्यं न रोचते—भक्त्यमृतास्वादस्यैव निरतिशयचमत्कारवत्त्वात्, इत्येवं परमेतत् ॥ ११ ॥

भवद्भक्तिमहाविद्या येषामभ्यासमागता ।
विद्याविद्योभयस्यापि त एते तत्त्ववेदिनः ॥ १२ ॥

भवद्- = आप की
भक्ति- = भक्ति रूपिणी
महाविद्या = अध्यात्म-विद्या
येषाम् = जिन (पुरुषों) के
अभ्यासम् = अभ्यास में
आगता = आई हो,
ते एते = वे ही तो
विद्या- = विद्या तथा
अविद्या- = अविद्या
उभयस्य = दोनों का
अपि = ही
तत्त्व-वेदिनः = सार-भूत तत्त्व जानने वाले
(भवन्ति = होते हैं) ॥ १२ ॥

विद्याविद्योभयस्यापि—इति विद्याविद्यालक्षणस्योभयस्य । तत्र शिवमन्त्रमहेश्वरमन्त्रेश्वरमन्त्रात्मनो विद्यारूपस्य, विज्ञानाकलप्रलयाकलसकलतद्वेद्यात्मनश्च अविद्यारूपस्य उभयस्यापि ते तत्त्वं विदन्ति, येषां त्वद्भक्तिरेव महाविद्या प्रकर्षं प्राप्ता । महत्पदेन शब्दविद्यातोऽपि भक्तेरुत्कर्षात्तत्त्ववेदकत्वम्[1] ॥ १२ ॥

आमूलाद्वाग्लता सेयं क्रमविस्फारशालिनी ।
त्वद्भक्तिसुधया सिक्ता तद्रसाढ्यफलास्तु मे ॥ १३ ॥

आमूलात् = मूल (अर्थात् परावाग् भूमि) से
क्रम- = (पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी रूपी) क्रम के
विस्फार- = विकास से
शालिनी = सुशोभित बनी हुई
सा इयं = वही यह
वाग्लता = वाणी रूपिणी लता
मे = मेरे लिए
त्वद्- = आप की
भक्ति- = भक्ति रूपी
सुधया = अमृत से
सिक्ता = सींची हुई तथा
तद्रस- = उस(भक्ति के आनन्द) के रस रूपी
आढ्य- = बड़े
फला अस्तु = फलों वाली हो ॥१३॥

१. ख० पु०—तत्तद्वेदकत्वम्—इति पाठः ।

मूलं—परा भूमिः। क्रमविस्फारित्वं—पश्यन्त्यादिप्रसरः। तद्रसो—भक्त्यानन्दरसं[1] एव आढ्यं—स्फीतं त्वदात्म्यैक्यापत्तिलक्षणं फलं यस्याः ॥ १३ ॥

शिवो भूत्वा यजेतेति भक्तो भूत्वेति कथ्यते।
त्वमेव हि वपुः सारं भक्तैरद्वयशोधितम् ॥ १४ ॥

शिवो भूत्वा = शिव बनकर
(**शिवं** = शिव को)
यजेत = पूजना चाहिए,'
इति = इस प्रकार (जो वेदोक्त विधि रूपी प्रेरणा शास्त्रों में कही गई है)
(**तत्स्थाने** = उसके स्थान पर)
भक्तो भूत्वा = 'भक्त बनकर ही (शिव को पूजना चाहिए)',
इति = ऐसा (भक्तजनों से)
कथ्यते = कहा जाता है। (यह बात तो युक्ति-युक्त ही है);
हि = क्योंकि
सारं = पारमार्थिक सारभूत
वपुः = स्वरूप वाले
त्वं = आप
भक्तैः एव = भक्तों द्वारा ही
अद्वय-शोधितम् = अभेद-दृष्टि से ढूंढे गये हैं (अर्थात् ढूँढकर पाये जाते हैं) ॥ १४ ॥

"शिवो भूत्वा शिवं यजेत्।"

इति यदाम्नायेषूच्यते, तत्र देहपात एव शिवता—इति ये मन्यन्ते, तेषां सति देहे शिवीभावाभावाद्यजमानतानुपपत्तेः स्वस्वरूपशिवसमावेशभक्तिशाली एव यजनं जानातीति तात्पर्यम्। अनेनैवाशयेनाह—त्वमेव यतः सारम्—उत्कृष्टं वपुः—स्वरूपम् अद्वयेन—भेदशङ्काशङ्कुशतशातिना शोधितं—निर्मलीकृतं भक्तैरिति ॥ १४ ॥

भक्तानां भवदद्वैतसिद्ध्यै का नोपपत्तयः।
तदसिद्ध्यै निकृष्टानां कानि नावरणानि वा ॥ १५ ॥

---

१. ख० पु०—भक्त्यानन्दरसः, स एव—इति पाठः।

(प्रभो = हे प्रभु ! **)**
भवद्- = आपकी
अद्वैत-सिद्ध्यै=अद्वैत-सिद्धि के निमित्त
भक्तानां = भक्त-जनों के लिए
काः = कौन सी (चीज़ें)
न उपपत्तयः = युक्तियाँ अर्थात् साधन नहीं (होतीं),
वा = तथा (इसके प्रतिकूल)
तद्- =(आप की) उस(अद्वैत दशा)के
असिद्ध्यै = असिद्ध अर्थात् अप्रकाशित होने के निमित्त
निकृष्टानां = नीच (अर्थात् आप से विमुख संसारी लोगों) के लिए
कानि न आवरणानि=कौन सी (चीज़ें) आवरण अर्थात् असफल बनाने वाली नहीं होतीं ? ॥ १५ ॥

व्याख्यातानां भक्तानां भवदद्वयसाधनाय का न युक्तयः, यतो मूढैरुदीर्यमाणान्यपि शिवाद्वयदूषणानि दूषयितृस्वभावचिद्रूपशिवस्वरूपसिद्धिं विना न कानिचित्स्युरिति युक्त्या भक्तानां साधनान्येव पर्यवस्यन्ति। निकृष्टानां तु—भेदमयानां तदसिद्ध्यै—शिवाद्वयसाधनाभावाय कानि नावरणानि—तीक्ष्णतमयुक्त्यस्त्राण्यपि समावेशरसविप्रुषोऽपि, अनभिज्ञत्वादसञ्चेत्यमानानि महान्धकारपातयितॄण्येव ॥ १५ ॥

कदाचित्क्वापि लभ्योऽसि योगेनेतीश वञ्चना ।
अन्यथा सर्वकक्ष्यासु भासि भक्तिमतां कथम् ॥ १६ ॥

ईश = हे स्वामी !
कदाचित् = कभी (अर्थात् किसी नियत समाधि की दशा में)
क्वापि=और कहीं (अर्थात् हृदय आदि किसी निश्चित स्थान पर)
योगेन = योगाभ्यास द्वारा
(त्वं = आप **)**
लभ्यः असि = प्राप्त किये जा सकते हैं,
इति = यह बात (अर्थात् इस रीति से आप के स्वरूप का प्राप्त होना)
वञ्चना = धोखा (ही है),
अन्यथा = नहीं तो
सर्व- =सभी (समाधि तथा व्युत्थान रूपी)
कक्ष्यासु = दशाओं में
भक्तिमतां = भक्त-जनों को
कथं भासि = आप कैसे दिखाई देते हैं ? ॥ १६ ॥

कदाचित्—कस्यांचित् समाधिदशायां, क्वापि—हृदयचक्रादौ, योगेन—चित्तवृत्तिनिरोधेन, ईश—स्वामिन्, असि—त्वं लभ्यः, इत्येषा

१. ख० पु०—दूषयत्स्वभाव—इति पाठः ।
२. ख० पु०—मोहान्धकार—इति पाठः ।

वञ्चना, अन्यथा समाधिव्युत्थानाद्यभिमतासु कक्ष्यासु कथं भक्तिमतां प्रकाशसे ॥ १६ ॥

प्रत्याहाराद्यसंस्पृष्टो विशेषोऽस्ति महानयम् ।
योगिभ्यो भक्तिभाजां यद्व्युत्थानेऽपि समाहिताः ॥१७॥

योगिभ्यः = योगियों की अपेक्षा
भक्तिभाजां = भक्तिमान (लोगों) की
प्रत्याहारादि- = प्रत्याहार आदि (सभी योग-साधनाओं) से
असंस्पृष्टः = न छुई हुई
अयम् = यह
महान् = बड़ी (अर्थात् सर्वतोमुखी महत्त्व प्रकट करने वाली)
विशेषः = विशेषता
अस्ति = होती है
यद् = कि
व्युत्थाने = व्युत्थान (की दशा) में
अपि = भी
(**ते** = वे)
समाहिताः = समाधिस्थ ही
(**भवन्ति** = होते हैं) ॥ १७ ॥

विषयेभ्य इन्द्रियाणां प्रत्यावृत्य नियमनं प्रत्याहारः । आदिशब्दा-द्ध्यानधारणादयः, तैरसंस्पृष्टः—अकदर्थितः, तन्निष्ठेभ्यो योगिभ्यो महान्—असामान्यः, विशेषः—अतिशयो भक्तिभाजामस्ति यदेते योग्य-पेक्षया व्युत्थानाभिमतेऽपि समये समाहिताः—

"मय्यावेश्य मनो ये माम्............।" अ० १२, श्लो० २ ।

इति श्रीगीतोक्तनीत्या नित्ययुक्ताः ॥ १७ ॥

न योगो न तपो नार्चाक्रमः कोऽपि प्रणीयते ।
अमाये शिवमार्गेऽस्मिन् भक्तिरेका प्रशस्यते ॥१८॥

अमाये = माया से रहित
अस्मिन् = इस
शिव-मार्गे = शिव-मार्ग में
न योगः = न योगाभ्यास,
न तपः = न तपस्या
(**च** = और)
न = न ही
कोऽपि = कोई भी
अर्चाक्रमः = पूजा का क्रम
प्रणीयते = निश्चित किया जाता है,
(**अपि तु** = किन्तु इस मार्ग में)
एका = केवल
भक्तिः = (भगवान् शंकर की) भक्ति ही
प्रशस्यते = प्रशंसनीय अर्थात् सर्वश्रेष्ठ (उपाय) कही जाती है ॥१८॥

शिवमार्गे—परे शाक्ते पदे। अस्मिन्निति—निरतिशये स्वानुभवैकसाक्षिके मायीयनियतयोगाद्युपायपरिपाटी न काचिदुपदिश्यते। तस्याः मायामयत्वेन अन्धतमसप्रख्यायास्तत्र[1] शुद्धविद्याप्रकाशातिशायिनि उपायत्वाभावात् भक्तिरेव—प्रतिभाप्रसादनात्मा उक्तचरी प्रशस्यते—उपायत्वेनोच्यते ॥ १८ ॥

सर्वतो विलसद्भक्तितेजोध्वस्तावृतेर्मम।
प्रत्यक्षसर्वभावस्य चिन्तानामापि नश्यतु ॥ १९ ॥

सर्वतः = प्रत्येक ओर से
विलसत्- = चमकते हुए
भक्ति- = भक्ति रूपी
तेजः- = प्रकाश से
ध्वस्त- = नष्ट हुए
आवृतेः = (अज्ञान रूपी) आवरण वाले
(**च** = और)
प्रत्यक्ष-सर्वभावस्य = समस्त पदार्थों के सत्य-स्वरूप को (भैरवी[2] मुद्रा द्वारा) देखने वाले
मम = मुझ(भक्त) की
चिन्ता- = विकल्प-वृत्तियों का
नाम अपि = नाम भी
नश्यतु = नष्ट हो जाय ॥ १९ ॥

अन्तर्बहिश्च विलसता जृम्भमाणेन भक्तितेजसा—समावेशप्रकाशेन ध्वस्ता आवृतिः—अख्यातिर्यस्य। तत एव मायीयभूमिविस्मृतेः प्रत्यक्षाः[3]—भैरवमुद्राप्रवेशयुक्त्या आलोचनमात्रगोचरीभूताः सर्वे भावाः यस्य तस्य मम चिन्तायाः—विकल्पव्रातस्य[4] नामापि—अभिधानमपि नश्यतु—नित्यमेव साक्षात्कृतपरभैरवस्वरूपानुप्रविष्टो भूयासमित्यर्थः॥१६॥

शिव इत्येकशब्दस्य जिह्वाग्रे तिष्ठतः[5] सदा।
समस्तविषयास्वादो भक्तेष्वेवास्ति कोऽप्यहो ॥ २० ॥

---

१. ख० पु०—अन्धतमसप्रख्यायास्त्वत्र—इति पाठः।
२. 'अन्तर्लक्ष्यो बहिर्दृष्टिर्निमेषोन्मेषवर्जितः।
इयं सा भैरवीमुद्रा सर्वतन्त्रेषु गोपिता ॥'—इति भैरवीमुद्रायाः लक्षणम्।
३. ख० पु०—प्रत्यक्षभैरवमुद्राप्रवेशयुक्त्या—इति पाठः।
४. ख० पु०—विकल्पवृत्तस्य—इति पाठः।
५. ख० पु०—वसतः—इति पाठः।

अहो = आश्चर्य है कि
सदा = प्रतिक्षण
शिव इति = 'शिव' इस
एक- = एक
शब्दस्य = शब्द के
जिह्वाग्रे = जिह्वा की नोक पर
तिष्ठतः = ठहरने पर
कोऽपि समस्त-विषय-आस्वादः = सभी (अर्थात् रूप, रस आदि पाँचों) विषयों का अलौकिक रसास्वादन (अथवा जगदानन्द रूपी चमत्कार)
भक्तेषु एव = भक्तों को ही
अस्ति = प्राप्त होता है ॥ २० ॥

उक्तेष्वेव भक्तेषु यो महाप्रकाशमयनिजस्वरूपपरामर्शात्मा शिव इति एकः—असामान्यः सदा शब्दो[1]ऽस्ति। अहो आश्चर्यं तस्य शब्दमात्रस्यापि एकस्य[2] विषयस्य परमानन्दव्याप्तिदायित्वात् समस्तविषयास्वादः—जगदानन्दचमत्कारः, कोऽपि—स्वानुभवसिद्धोऽस्ति। एकत्र च शब्दलक्षणे विषये जिह्वाग्रवर्तिनि समस्तविषयास्वाद इति विरोधच्छाया ॥ २० ॥

शान्तकल्लोलशीताच्छस्वादुभक्तिसुधाम्बुधौ ।
अलौकिकरसास्वादे सुस्थैः[3] को नाम गण्यते ॥ २१ ॥

शान्त- = शान्त हो गई हैं
कल्लोल- = (विकल्प रूपी) लहरें जिस की, ऐसे
शीत- = शीतल,
अच्छ- = निर्मल तथा
स्वादु- = मधुर
भक्ति-सुधा- = भक्ति-अमृत रूपी
अम्बुधौ = समुद्र में
अलौकिक- = अलौकिक
रस- = परमानन्द-रस के
आस्वादे = चमत्कार के विषय में
सुस्थैः = सुख-स्थित (अर्थात् निश्चित)
(भक्तैः = भक्त-जनों से)
को नाम = किस पुरुष को
गण्यते = गिनती में लाया जाता है ? (अर्थात् वे भक्त-जन सबों को अपना ही स्वरूप समझते हैं एवं उनको अपने से भिन्न नहीं समझते हैं)।

शान्ताः—निवृत्ताः विकल्पमयाः कल्लोला यत्र, तथाभूते। संसारतापापहतत्वाच्छीते[4]। विश्वप्रतिबिम्बाश्रयत्वादच्छे—निर्मले। आनन्दविकासित्वात् स्वादौ भक्त्यमृतसमुद्रे, अलौकिकरसास्वादे—समावेश-

१. का० पु०—शिवोऽस्ति—इति पाठः।
२. ख० पु०—एककस्य—इति पाठः।
३. ख० पु०—स्वस्थैः—इति पाठः।
४. ख० पु०—संसारतापापूर्णत्वात्—इति पाठः।

चमत्कारे, सुखेन तिष्ठन्ति सुस्थाः[1], तैः भेदगलनात् को नाम गण्यते; तदा व्यतिरिक्तस्य कस्यचिदप्यप्रतिभासात् सुखस्थिताः न किंचिद्गणयन्ति—इत्युचितैवोक्तिः ॥ २१ ॥

मादृशैः किं न चर्व्येत भवद्भक्तिमहौषधिः ।
तादृशी भगवन्यस्या मोक्षाख्योऽनन्तरो रसः ॥ २२ ॥

भगवन् = हे भगवान् !
मादृशैः =(भक्ति के तत्त्व को जानने वाले) मुझ जैसे (लोगों) से
तादृशी = वैसी (अर्थात् अलौकिक)
भवद्- = आप की
भक्ति- = (उस) भक्ति रूपिणी
महौषधिः = बड़ी औषधि का
किं न चर्व्येत=मज़ा क्यों न चखा जाय,
यस्याः = जिसके (सेवन करने से)
अनन्तरः—(भक्ति-रस के अतिरिक्त) साथ ही दूसरा
मोक्षाख्यः = मोक्ष नामक
रसः = रस (भी)
भवति = प्राप्त होता है ॥ २२ ॥

मादृशैः—भक्तितत्त्वज्ञैः, तादृशी इति—अलौकिकी भवद्भक्तिरेव अभीष्टप्रदत्वान्महौषधिः, किं न चर्व्येत—किं[2] न धार्येत[3]—विचारेणास्वाद्येत इति यावत्। कीदृशी ? यस्याश्रवणपरामर्शानन्तरमेव जीवन्मुक्ताख्यः अनन्तरः—अव्यवहितो रसः—चर्वणानन्दः ॥ २२ ॥

ता एव परमर्थ्यन्ते सम्पदः सद्भिरीश याः ।
त्वद्भक्तिरससम्भोगविस्रम्भपरिपोषिकाः ॥ २३ ॥

ईश = हे स्वामी !
सद्भिः = भक्ति-शाली जन
ता एव = उन्हीं
सम्पदः = संपदाओं को
परम् = केवल
अर्थ्यन्ते = माँगते हैं,
याः = जो (संपदाएं)
त्वद्- = आपकी
भक्ति- = भक्ति रूपी
रस- = परमानन्द-रस के
संभोग- = चमत्कारात्मक
विस्रम्भ- = सप्रत्यय हर्ष को
परि- = सब प्रकार से
पोषिकाः = बढ़ाती हैं ॥ २३ ॥

१. ख० पु०—स्वस्थाः—इति पाठः ।
२. ख० पु०—किं न—इति पदं नास्ति ।
३. ख० पु०—विचार्येत—इति पाठः ।

सद्भिः—भक्तिशालिभिः, ता एवेति—असमत्वत्समावेशमय्यः, संपदः[1] परं—केवलम् अर्थ्यन्ते न तु अणिमाद्याः। कीदृश्यः? याः त्वद्भक्तिरससंभोगे—भवत्समावेशामृतचमत्कारे विस्रम्भं—स्वैरं[2] स्वीकारं पुष्णन्ति। अत्र च प्रियासंभोगपोषिका एव सर्वस्य संपदोऽर्थनीयाः—इत्यनुरणव्यङ्ग्योपमाध्वनिः ॥ २३ ॥

भवद्भक्तिसुधासारस्तैः किमप्युपलक्षितः।
ये न रागादिपङ्केऽस्मिँल्लिप्यन्ते पतिता अपि ॥२४॥

(**प्रभो** = हे प्रभु !)
भवद्- = आप के
भक्ति-सुधा- = भक्ति-अमृत की
आसारः = धारावाही वर्षा
तैः (एव) = उन्हीं (भक्तों) से
किमपि = अलौकिक रूप में
उप- = प्रत्यक्ष
लक्षितः = देखी गई है (अर्थात् अनुभव की जाती है),
ये = जो
अस्मिन् = इस
राग-आदि = राग, द्वेष आदि रूपी
पंके = कीचड़ में
पतिताः अपि = गिर कर भी (अर्थात् इन रागादिकों का सेवन करने पर भी)
न लिप्यन्ते = (इन में) लिप्त नहीं होते ॥ २४ ॥

त्वद्भक्तिसुधाया आसारः—वेगवद्वर्षं, तैः—भक्तैः, किमपि—लोकोत्तरतया, उप—समीपे, लक्षितः—परिशीलितः। ये भक्ता व्युत्थाने—शरीरव्यवहारनान्तरीयकत्वेनायाते रागद्वेषादिकर्दमे पतिता अपि न लिप्यन्ते—न तन्मयीभवन्ति। कर्दमे पतिता न लिप्यन्ते इत्याश्चर्यम् ॥

अणिमादिषु मोक्षान्तेष्वङ्गेष्वेव फलाभिधा।
भवद्भक्तेर्विपक्वाया लताया इव केषुचित् ॥ २५ ॥

(**प्रभो** = हे ईश्वर !)
अणिमादिषु = (स्थूल) अणिमा आदि (सिद्धियों) से लेकर
मोक्षान्तेषु = (परसिद्धिमय) मोक्ष (रूपी सिद्धि) तक
(**या** = जो)

१. ख० पु० समृद्धयः–इति पाठः।

२. ख० पु० स्वैर स्वीकारम्–इति पाठः।

फल-अभिधा = (इन सिद्धियों के) फल की बात (कही जाती है),
(**सा** = वह)
विपक्वायाः = परिपक्व अवस्था को प्राप्त हुई
भवद्-भक्तेः = आप की भक्ति-रूपिणी
लतायाः = लता के
एव = ही
केषुचित् = किन्हीं (अलौकिक)
अंगेषु-इव (वर्तते) = अंगों में मानो पाई जाती है (अर्थात् अणिमा आदि सिद्धियों की संपत्तियां आप की भक्ति रूपिणी लता के ही फल हैं, उन से तनिक भी भिन्न नहीं हैं) ॥ २५ ॥

अणिमादिषु मोक्षान्तेषु—स्थूल-परसिद्धिमयेषु वस्तुषु, या फलाभिधा—फलत्वेनोक्तिः, सा परिपाकं प्राप्तायाः भवद्भक्तेरेव अङ्गभूतेषु सत्सु तेषु, भक्तिर्हि रुद्रशक्तिसमावेशात्मा समस्तसंपन्मय्येव, न तु तद्व्यतिरिक्तानि फलानि कानिचित्सन्ति । यथा विपक्वलताविच्छिन्नानि न फलानि कानिचिद्-आम्रादीनि भवन्ति—तेषां तदङ्गत्वात् ॥ २५ ॥

चित्रं निसर्गतो नाथ दुःखबीजमिदं मनः ।
त्वद्भक्तिरससंसिक्तं निःश्रेयसमहाफलम् ॥ २६ ॥

नाथ = हे स्वामी !
इदं = यह
मनः = मन (रूपी पेड़)
निसर्गतः = स्वभाव से ही
दुःख-बीजं = (विकल्प रूपी उपद्रवों का हेतु होने से) ऐसा है जिस का बीज (अर्थात् मूल) दुःख है ।
(**इदं तु** = किन्तु यह तो)
चित्रम् = आश्चर्य है कि
त्वद्- = आप के (स्वरूप संबन्धी)
भक्ति-रस- = (समावेशात्मक) भक्ति-रस से
संसिक्तं = सींचे जाने पर (यही मन रूपी पेड़)
निःश्रेयस- = परमानन्द रूपी
महाफलं = अति उत्कृष्ट (तथा वाञ्छनीय) फल वाला
(**भवति** = बन जाता है) ॥ २६ ॥

हे नाथ—स्वामिन् ! इदं चित्रम्, दुःखकारणमिदं मनः सर्वस्य हेयं यदभिमतं, तदेव त्वद्भक्तिरसायनेन सिक्तं परमानन्दमयमोक्षमहाफलम्[1] ।

१. ख० पु० परमानन्दमोक्षमहाफलम्-इति पाठः ।

न हि कदाचित् [1]लोकं प्रति विषादे: मधुर आस्वाद: । अतस्त्वद्भक्तेरेवायम् अलौकिक: क्रम:—इति ध्वनित इति शिवम् ।। २६ ।।

इति श्रीमदीश्वरप्रत्यभिज्ञाकाराचार्यचक्रवर्तिवन्द्याभिधानोत्पलदेवा-
चार्यविरचिते भक्तिविलासाख्ये प्रथमस्तोत्रे महामाहेश्वर-
श्रीक्षेमराजविरचिता विवृतिः ।। १ ।।



ॐ तत् सत्

अथ

सर्वात्मपरिभावनाख्यं द्वितीयं स्तोत्रम्

अग्नीषोमरविब्रह्मविष्णुस्थावरजङ्गम-
स्वरूप बहुरूपाय नमः संविन्मयाय ते ॥ १ ॥

अग्नि- = अग्नि,	**स्वरूप !** = स्वरूपों को धारण करने वाले, हे ईश्वर !
सोम- = चन्द्रमा,	**संविद्रूपाय** = (विश्वोत्तीर्ण दशा में) संविद्रूप बने हुए
रवि- = सूर्य,	(**च** = और)
ब्रह्म- = ब्रह्मा,	**बहुरूपाय** = (विश्वमय दशा में) नाना-रूप-धारी
विष्णु- = नारायण,	**ते** = आप को
स्थावर- = (वृक्ष, पर्वत आदि) स्थावर	**नमः** = प्रणाम हो ॥ १ ॥
जङ्गम- = और (मनुष्य आदि) जङ्गम के	

अग्नीषोमरविभिर्दाह्याप्यायप्रकाशकारीच्छाक्रियाज्ञानरूपस्य शक्तित्रयस्य, ब्रह्मविष्णुभ्यामधिष्ठातृदेवतावर्गस्य, स्थावरजङ्गमाभ्यामधिष्ठितस्य प्रमेयप्रमातृराशेश्च स्वीकृतत्वाद्विश्वात्मनः आमन्त्रणमिदं स्वरूपेत्यन्तम् । तेन अग्नीषोमरविब्रह्मविष्णुस्थावरजङ्गमस्वरूप हे परमेश्वर[1] ! पञ्चभूतानि जङ्गमानामपि भूतदेहत्वात् । एवं च अग्निसोमसूर्यस्थावरजङ्गमैरष्टमूर्त्ति[2]तया, ब्रह्मविष्णूपलक्षिताशेषाधिष्ठातृतया विश्वमयत्वम् । अत एव बहुरूपायेत्युक्तम् । एवं विश्वरूपत्वेऽपि प्रधानमस्य स्वरूपमाह 'संविन्मयाय'—इति । एतदेव हि संविन्मयत्वं, यत्स्वातंत्र्योल्लासिताशेषविश्वनिर्भरत्वम् ॥

विश्वेन्धनमहाक्षारानुलेपशुचिवर्चसे ।
महानलाय भवते विश्वैकहविषे नमः ॥ २ ॥

---

१. ख० पु० परमेश—इति पाठः ।

२. ग० पु० जंगम अष्ट—इति पाठः ।

(**स्वात्म-परामर्शेन** = स्वरूप-परामर्श से)
(**निर्दग्ध-** = जली हुई)
विश्व- = जगत रूपी
इन्धन- = लकड़ी के
महा-क्षार- = बड़े भस्म-पुञ्ज के
अनुलेप- मलने से
शुचि- = (अद्वैत-प्रकाश रूपी) शुद्ध
वर्चसे = तेज से युक्त
(**च** = और)
विश्व- = समस्त संसार को
एक- = एक ही
हविषे = आहुति के रूप में धारण करने वाले
महानलाय = परमप्रमातृ-अग्निस्वरूप,
भवते नमः = आप को नमस्कार हो ॥ २ ॥

भवते महानलाय—पर[1]प्रमातृवह्नये नमः । कीदृशाय ? विश्वस्य—भेदराशेरिन्धनरूपस्य संबन्धि यन्महाक्षारं–भस्म, तत्संहारशेषः संस्कारः, तेन यदनुलेपनम्—संस्कारसंहारेणापि प्रमात्रुत्तेजनं, तेन[2] शुचि—शुद्धमद्वय[3]रूपं वर्चस्तेजो यस्य तस्मै । अथ

"शुचिर्नामाग्निरुदितः संघर्षात्सोमसूर्ययोः ।"

इत्यागमिकभाषया शुचिनाम्ने तेजसे । विश्वमेकं हविर्यस्येत्यनेन अत्यन्तदीप्तत्वमुच्यते । श्रीमन्[4]मताद्यागमस्थित्या रहस्यचर्यार्थस्यात्र सूचनाद्विरोधच्छायापि ॥ २ ॥

परमामृतसान्द्राय शीतलाय शिवाग्नये ।
कस्मैचिद्विश्वसंप्लोषविषमाय नमोऽस्तु ते ॥ ३ ॥

परमामृत- = (चिदानन्द-रस रूपी) परमामृत से
सान्द्राय = कोमल और मनोहर बने हुए,
शीतलाय = (संसार का संतापहर होने से) अति शीतल
(**च** = और)
विश्व- = जगत (भेद-प्रथा) के

१. ख० पु० परमप्रमातृवह्नये—इति पाठः ।
२. ग० पु० 'तेन' इति पदं न दृश्यते ।
३. ख० पु० अद्वयस्वरूपम्—इति पाठः ।
४. ख० पु० श्रीमतङ्गाद्यागमस्थित्या—इति पाठः ।

संप्लोष- = जलाने का हेतु होने से
विषमाय = अति दारुण अर्थात् भयंकर,
कस्मैचित् = एक (अलौकिक)
शिव-अग्नये = कल्याण-मय अग्नि-स्वरूप,
ते = आप को
नमः अस्तु = प्रणाम हो ॥ ३ ॥

चिदानन्दघनत्वात् परमामृतसान्द्रत्वम् । भवतापहारित्वाच्छीतलत्वम् । अग्नेश्च कथमार्द्रत्वशीतलत्वे इति विरोधाभासच्छाया । कस्मैचिदिति—अलौकिकस्वरूपाय ॥ ३ ॥

महादेवाय रुद्राय शङ्कराय शिवाय ते ।
महेश्वरायापि नमः कस्मैचिन्मन्त्रमूर्तये ॥ ४ ॥

(प्रभो = हे प्रभु-देव !)
महादेवाय = परम देवता,
रुद्राय = रुद्र भगवान् ,
शङ्कराय = कल्याण-कारी,
शिवाय = सुख-स्वरूप,
महेश्वराय = ईश्वरों के भी ईश्वर
अपि = और
कस्मैचित् = एक (अलौकिक)
मन्त्रमूर्तये = (अहं-विमर्शात्मा) मंत्र-स्वरूप
ते = आप को
नमः = प्रणाम हो ॥ ४ ॥

देवः—सृष्ट्यादिक्रीडापरः, विश्वोत्कर्षशालितया विजिगीषुः, अशेषव्यवहारप्रवर्तकः, द्योतमानः, सर्वस्य स्तोतव्यो गन्तव्यश्च; दीव्यते क्रीडाद्यर्थत्वात् । स च महान्—ब्रह्मादीनामपि सर्गादिहेतुत्वात्[1] । विश्वस्य चित्पदे रोदनाद् द्रावणाच्च रुद्रः । पूर्णाहन्तापरामर्शमयत्वान्मन्त्रमूर्तिः ॥४॥

नमो निकृत्तनिःशेषत्रैलोक्यविगलद्वसा-
वसेकविषमायापि मङ्गलाय शिवाग्नये ॥ ५ ॥

निकृत्त- = काटी हुई
निःशेष- = समस्त
त्रैलोक्य- = त्रिलोकी की
विगलत्- = पिघली हुई
वसा- = चरबी की
अवसेक- = आहुति (के ग्रहण करने) से
विषमाय = अत्यन्त भयंकर (और इसी लिए अमंगलात्मक) होकर
अपि = भी
मंगलाय = मंगल-स्वरूप (आप)
शिवाग्नये = शिव रूपी अग्नि को
नमः = नमस्कार हो ॥ ५ ॥

१. ख० पु० सर्गस्थित्यादिहेतुत्वादिति पाठः ।

निकृत्तम्—अख्यातिलक्षणान्मूलात्प्रभृति खण्डशः कृतं भवाभवातिभवाख्यं[1] यत्त्रैलोक्यं, तत्संबन्धिनी बोधानलोद्दीपिनी आन्तररससाररूपा या वसा, तत्कृतो योऽवसेकः—आहुतिः, ततो विषमाय—अत्यन्तं जाज्वल्यमानाय, अत एव संसारामङ्गल्यपरिहृतिप्रदत्वात् मङ्गलाय शिवव्रह्नये[2] नमः—शरीरप्राणादिपरिमितप्रमातृपदं तत्रैव समावेशयामः, इत्यर्थः। सर्ववसावसेकविषमः श्मशानिकाग्निः कथं मङ्गल इति विरोधच्छाया ॥५॥

समस्तलक्षणायोग एव यस्योपलक्षणम् ।
तस्मै नमोऽस्तु देवाय कस्मैचिदपि शम्भवे ॥ ६ ॥

समस्त- = सभी (उच्चार, करण आदि)
लक्षण- लक्षणों अर्थात् उपायों के साथ
अयोगः = संबन्ध-रहित होना
एव = ही
यस्य = जिस का
उप-लक्षणम् = अति निकट (स्वरूप-बोधक) लक्षण है,
तस्मै = उस
कस्मैचिदपि = एक (अलौकिक)
देवाय = प्रकाश-स्वरूप तथा
शम्भवे = कल्याण-स्वरूप शिव को
नमोऽस्तु = प्रणाम हो ॥ ६ ॥

समस्तानां लक्षणानाम्—अभिज्ञानानां च तथाधिगमहेतूनामुच्चारकरणध्यानादीनां यः अयोगः—असम्बन्धः, स एव यस्य उप इति—आत्मसमीपे लक्षणं—हृदयङ्गमीकरणं—समस्तचिन्ताविस्मरणस्यैव तत्प्राप्तिहेतुत्वात्। अत एव कस्मैचिदिति संवृतिवक्रतया स्वात्मविस्फुरद्रूपायेति ध्वनति ॥ ६ ॥

वेदागमविरुद्धाय वेदागमविधायिने ।
वेदागमसतत्त्वाय गुह्याय स्वामिने नमः ॥ ७ ॥

वेद-आगम- = वेद आदि शास्त्रों के
विरुद्धाय = विरोधी,
वेदागम- = वेद आदि शास्त्रों का
विधायिने = विधान करने वाले,
वेदागम- = वेद आदि शास्त्रों के
सतत्त्वाय = सारभूत-स्वरूप
(**च** = और)

१. ख० पु० अतिभवलक्षणम्—इति पाठः।
२. ख० पु० शिवाग्नये—इति पाठः।

गुह्याय = सर्वथा अगोचर बने हुए
(**भवते** = आप)
स्वामिने = स्वामी को
नमः = नमस्कार हो ॥ ७ ॥

निःशेषनियमयन्त्रणात्रोटनालभ्यत्वाद्वेदविरुद्धः। यश्च यद्विरुद्धः स कथं तद्विधत्ते, तस्य च सतत्त्वरूपः, चिन्नाथस्तु स्वातंत्र्यात् जगदुत्तिष्ठापयिषुर्वेदं[1] विधत्ते, वेदान्तदृष्ट्या तत्परमार्थरूपश्च। अत एव सर्वस्य अविषयत्वाद्गुह्यः ॥ ७ ॥

संसारैकनिमित्ताय संसारैकविरोधिने ।
नमः संसाररूपाय निःसंसाराय शम्भवे ॥ ८ ॥

संसार- = संसार के
एक-निमित्ताय = (निर्माण के) एक ही कारण (होते हुए भी),
संसार- = संसार के
एक- = एक ही
विरोधिने = विरोधी अर्थात् संहारक,
संसार-रूपाय = संसार-स्वरूप (विश्व-मय होते हुए भी)
निःसंसाराय = संसार से अछूते रूप वाले (विश्व-उत्तीर्ण)
(**भवते** = आप)
शम्भवे = कल्याण-स्वरूप शिव को
नमः = नमस्कार हो ॥ ८ ॥

मायादेः क्षित्यन्तस्य संसारस्य एक एव निमित्तं, तस्य विरोधी—संहर्ता स एव। तथा संसाररूपतया भाति, न पुनश्चिद्रूपशिवव्यतिरिक्तं संसारस्य निजं[2] रूपं किंचित्। एवमपि संसारान्निष्क्रान्तं—निःसंसारं—तेन असंस्पृष्टरूपमिति विरोधाभासः ॥ ८ ॥

मूलाय मध्यायाग्राय मूलमध्याग्रमूर्तये ।
क्षीणाग्रमध्यमूलाय नमः पूर्णाय शम्भवे ॥ ९ ॥

(**अस्य जगतः** = इस जगत का)
मूलाय = मूल बने हुए,
मध्याय = मध्य रूप बने हुए
(**च** = और)
अग्राय = अग्र अर्थात् अन्तिम स्वरूप बने हुए,
(**अक्रमेण** = अक्रमरूपता से)
मूल- = मूल,

---

१. ख० पु० जगत्तिष्ठापयिषुः—इति पाठः।

२. ख० पु० निजरूपम्—इति पाठः।

मध्य- = मध्य और
अग्र-मूर्तये = अन्तिम स्वरूप बने हुए
(**एवं** = तथा) (परमार्थ-दृष्टि से)
क्षीण-अग्र-मध्य-मूलाय = पूर्व, मध्य और मूल रूपों से रहित
(**अत एव** = अत एव)
पूर्णाय = परिपूर्ण स्वरूप वाले
(**भवते**) **शम्भवे** = (आप) शिव को
नमः = नमस्कार हो ॥ ९ ॥

विश्वस्य कारणत्वात् स्वरूपत्वाद्विश्रांतिस्थानत्वाच्च मूलं मध्यमग्रं च। यथा पृथक् मूलादिरूपः तथा युगपदपि अक्रमानन्तविश्वरूपत्वात्। न चास्य स्वात्मनि मूलादि किंचित् चिन्मात्रैकरूपत्वात्। अत एव सर्वसहत्वात् पूर्णः। विरोधाभासः प्राग्वत् ॥ ९ ॥

नमः सुकृतसंभारविपाकः सकृदप्यसौ।
यस्य नामग्रहः तस्मै दुर्लभाय शिवाय ते ॥ १० ॥

(**प्रभो** = हे ईश्वर !)
यस्य = जिस का
असौ = यह
सकृत्-अपि = एक बार भी
नाम-ग्रहः = (किया गया) नाम-स्मरण
सुकृत- = पुण्यकर्मों की
संभार- = राशि का
विपाकः = फल है,
तस्मै = उस
दुर्लभाय = अति दुष्प्राप्य
ते = आप
शिवाय = महादेव जी को
नमः = नमस्कार हो ॥ १० ॥

यस्य सकृदेव नामग्रहः असाविति—लोकोत्तरः, पूर्णविश्रान्तिप्रदत्वात् पुण्यराशेः परिपाकः, तस्मै दुर्लभायेति—महायोगिगम्याय नमः ॥ १० ॥

नमश्चराचराकारपरेतनिचयैः सदा।
क्रीडते तुभ्यमेकस्मै चिन्मयाय कपालिने ॥ ११ ॥

(**प्रभो** = हे स्वामी !)
चराचर- = स्थावर, जंगम
आकार- = शरीरों वाले
परेत- = प्रेतों के
निचयैः = समुदाय के साथ
सदा = सदैव
क्रीडते = खेलने वाले,
कपालिने = (अशेष) खप्परों को धारण करने वाले,
एकस्मै = अद्वितीय (और)
चिन्मयाय = चिदानन्द-स्वरूप
तुभ्यं = आप को
नमः = नमस्कार हो ॥ ११ ॥

कपालिव्रतित्वं यद्भगवति प्रसिद्धं तत्तत्त्वतो व्यनक्ति। चराचराकाराः—जङ्गमस्थावररूपाः ये परेताः—परं चिन्मयस्वरूपमिताः—प्राप्ताः[2]। तद्विना च निर्जीवत्वादपि परेताः। तेषां निचयैः सदा युगपच्च क्रीडते—तत्संयोजनवियोजनवैचित्र्यसहस्रविधायिने ॥ ११ ॥

मायाविने विशुद्धाय गुह्याय प्रकटात्मने ।

सूक्ष्माय विश्वरूपाय नमश्चित्राय शम्भवे ॥ १२ ॥

मायाविने = छली (होते हुए भी)
विशुद्धाय = विशुद्ध-स्वरूप वाले,
गुह्याय = गुप्त रूप वाले (होते हुए भी)
प्रकटात्मने = प्रकट स्वरूप वाले,
सूक्ष्माय = सूक्ष्म रूप वाले (होते हुए भी)
विश्वरूपाय = महान् जगत-स्वरूप
चित्राय = (अतः) आश्चर्यमय रूप वाले (अथवा) नाना-रूप-धारी
शम्भवे = शिव जी को
नमः = नमस्कार हो ॥ १२ ॥

भेदोल्लासहेतुः—स्वातंत्र्यशक्तिर्माया यस्यास्ति सः। चिद्रूपत्वाद्विशुद्धः। मायावी—व्याजी च कथं विशुद्धः? इति विरोधाभासः। एवमन्यत्र। गुह्यः—सर्वस्यागोचरः। प्रकटः—प्रकाशघनस्वात्मरूपः। सूक्ष्मो—ध्यानादिनिष्ठैरपि अलक्ष्यः। विश्वरूपः—स्वातंत्र्याद्गृहीतविश्वाकारः। अत एव चित्रो—विचित्र आश्चर्यरूपश्च ॥ १२ ॥

ब्रह्मेन्द्रविष्णुनिर्व्यूढजगत्संहारकेलये ।

आश्चर्यकरणीयाय नमस्ते सर्वशक्तये ॥ १३ ॥

(**प्रभो** = हे ईश्वर !)
ब्रह्मा- = ब्रह्मा,
इन्द्र- = इन्द्र
विष्णु- = और नारायण के द्वारा
निर्व्यूढ- = विशेष रूप में बनाये गये (तथा सुरक्षित रखे गए)
जगत्- = इस जगत का
संहार- = संहार रूपी
केलये = क्रीडा करने वाले,
(**इत्येवम्** = और इस प्रकार)
आश्चर्य- = अद्भुत
करणीयाय = कर्मों को करने वाले,
ते = आप
सर्वशक्तये = सर्व-शक्ति-संपन्न, (प्रभु) को
नमः = प्रणाम हो ॥ १३ ॥

---

१. ख० पु० कपालव्रतत्वम्—इति पाठः।

२. ख० पु० प्रापिताः—इति पाठः।

ब्रह्मेन्द्रविष्णुभिः—सृष्ट्यधिष्ठितिस्थितिकरैः कथमपि निर्वाहितत्वात्[1] यत् निर्व्यूढं—संपन्नं जगत्, तस्य सर्वैः सन्धार्यमाणस्य संहारः क्रीडामात्रं यस्य। अत एव आश्चर्यकरणीयः। सर्वशक्तिः—ब्रह्मादिदेवेन्द्राणामपि[2] स्वकर्मणि एतदीयसंजिहीर्षाभावाभावमुखप्रेक्षित्वात् सर्वसामर्थ्ययुक्तो यस्तस्मै नमः ॥ १३ ॥

तटेष्वेव परिभ्रान्तैः लब्धास्तास्ता विभूतयः ।
यस्य तस्मै नमस्तुभ्यमगाधहरसिन्धवे ॥१४॥

यस्य = जिस के
तटेषु = किनारों पर
एव = ही
परिभ्रान्तैः = घूमते-घामते
(**जनैः** = लोगों से)
तास्ताः = वे (अर्थात् सुप्रसिद्ध)
विभूतयः = (अणिमा आदि) सिद्धियाँ
लब्धाः = पाई जाती हैं,
तस्मै तुभ्यं = उसी आप
अगाध- = अथाह (अर्थात् आदि और अन्त से रहित)
हर- = शिव रूपी
सिन्धवे = समुद्र को
नमः = नमस्कार हो ॥ १४ ॥

तटेषु एव—मन्त्रमुद्राचक्रभूमिकादिज्ञानेषु चिद्रसप्रसरबाह्यभूमिषु परिभ्रान्तैः—

'पवनभ्रमणप्राणविक्षेपादिकृतश्रमाः ।
कुहकादिषु ये भ्रान्ता भ्रान्तास्ते परमे पदे ॥' ऊर्मिकौल तं० ॥

इत्याम्नायस्थित्या अन्तःसारानासादनाद् भ्राम्यद्भिः। तास्ता इति—भेदमय्योऽणिमादिकाः । अगाधहरसिन्धवे इति—अपरिच्छेद्यान्तस्तत्त्वाय महेश्वरसमुद्राय। समुद्रस्य[3] च तटेष्वेव ये भ्राम्यन्ति ते तन्मौक्तिकादि आप्नुवन्ति, ये तु अन्तर्विक्षेपक्षमाः ते महानिर्वृतिप्रदममृतमपि अश्नन्तीति रूपकश्लेषेण ध्वनति ॥ १४ ॥

मायामयजगत्सान्द्रपङ्कमध्याधिवासिने ।
अलेपाय नमः शम्भुशतपत्राय शोभिने ॥ १५ ॥

---

१. ख० पु० निर्वाह्यत्वादिति पाठः ।
२. ख० पु० ब्रह्मादीनामपि—इति पाठः ।
३. ख० पु० समुद्रे—इति पाठः ।

मायामय- =(स्वातंत्र्य-शक्ति के द्वारा) सर्वतः मायाकार बने हुए,
जगत्- = जगत रूपी
सान्द्र- = घनी
पङ्क- = कीचड़ के
मध्य- = बीच में
अधिवासिने = वास करते हुए (भी)
अलेपाय = निर्लेप और
शोभिने = चमकते हुए
शम्भु- = महादेव रूपी
शतपत्राय = कमल को
नमः = नमस्कार हो ॥ १५ ॥

माया—चिन्मयत्वाख्यातिः, सैव प्रकृतं रूपं यस्य जगतः, तदेव सान्द्रः पङ्को—घनः कर्दमः, तन्मध्याधिवासिनेऽपि—व्यापकत्वात् तद्वृत्या प्रवृतेऽपि अलेपाय—शुद्धचिदेकरूपाय। शम्भुरेव शतपत्रम्—अनन्तशक्तिदलं तत्तत्संकोचविकासधर्मकं कमलं, तस्मै नमः। पङ्कमध्यस्थितेरपि अलेपता भगवतश्चिद्घनत्वेन तदसंस्पर्शादिति विरोधाभासः ॥१५॥

मङ्गलाय पवित्राय निधये भूषणात्मने।
प्रियाय परमार्थाय सर्वोत्कृष्टाय ते नमः ॥ १६ ॥

(परमात्मन् = हे परमेश्वर !)
मंगलाय = कल्याण-स्वरूप,
पवित्राय = अति शुद्ध,
निधये = (सब के लिए) कोष-स्वरूप,
भूषणात्मने = भूषणों के भी भूषण,
प्रियाय = अति प्रिय-स्वरूप,
परमार्थाय = (तीनों कालों में स्थित होने के कारण) सत्य-स्वरूप,
(**च** = और)
सर्वोत्कृष्टाय = सर्वश्रेष्ठ (देवता)
ते = आप को
नमः = प्रणाम हो ॥ १६ ॥

मंगलेत्यादि स्पष्टम्। सर्वोत्कृष्टायेति सर्वत्र योज्यम्। येन येन मुखेन विचार्यते तेन तेनोत्तमत्वं सर्वोत्कृष्टत्वात् ॥ १६ ॥

नमः सततबद्धाय नित्यनिर्मुक्तिभागिने।
बन्धमोक्षविहीनाय कस्मैचिदपि शम्भवे ॥ १७ ॥

सतत- = सदा
बद्धाय = बन्धन में पड़े हुए,
नित्य- = सदैव
निर्मुक्ति- = पारमार्थिक मुक्ति का
भागिने = पात्र बने हुए,
(**तत्त्वदृष्ट्या तु** = किन्तु तत्त्वदृष्टि से)
बन्ध- = (संसार के) बन्धन
मोक्ष- = और मोक्ष से

विहीनाय = परे होने वाले,
कस्मैचिदपि = एक (अलौकिक)
शम्भवे = और कल्याण-स्वरूप प्रभु को
नमः = नमस्कार हो ॥ १७ ॥

भगवत एव बद्धमुक्ततया अवगमात्तथात्वम्। वस्तुतस्तु चिद्घनत्वात्तद्धीनत्वम्। विरोधाभासः पूर्ववत्। एवमुत्तरत्रापि ॥ १७ ॥

उपहासैकसारेऽस्मिन्नेतावति जगत्त्रये ।
तुभ्यमेवाद्वितीयाय नमो नित्यसुखासिने ॥ १८ ॥

(**प्रभो** = हे ईश्वर !)
(**तुच्छरूपत्वात्**=तुच्छ रूप वाली होने के कारण)
उपहास- = परिहास ही
एक- = केवल
सारे = सार है जिसका, ऐसी
अस्मिन् = इस
एतावति = अति विस्तृत
जगत्त्रये = त्रिलोकी में
नित्य- = सदैव
सुखासिने = आनन्द-घन तथा
अद्वितीयाय = असाधारण स्वरूप वाले
तुभ्यमेव = आप ही को
नमः = प्रणाम हो ॥ १८ ॥

तुच्छरूपत्वादुपहसनीयपरमार्थे एतावति—अतिवितते जगत्त्रये—भवाभवातिभवात्मनि। अद्वितीयाय—असाधारणैकरूपाय, नित्यसुखासिने—आनन्दघनायोपादेयतमाय तुभ्यमेव नमः ॥ १८ ॥

दक्षिणाचारसाराय वामाचाराभिलाषिणे ।
सर्वाचाराय शर्वाय निराचाराय ते नमः ॥ १९ ॥

(**भैरवतंत्रदृष्ट्या** = भैरव तंत्रों की दृष्टि से)
दक्षिणाचार- = दक्षिण-मार्ग के
साराय = सार-स्वरूप,
(**वादितंत्रदृष्ट्या** = वादि नामक तंत्रों के दृष्टिकोण से)
वामाचार- = वाम मार्ग के
अभिलाषिणे = अभिलाषी,
(**श्रीमतादिशास्त्रदृष्ट्या च** = और श्रीमत आदि उच्च शास्त्रों की दृष्टि से)
सर्व- = सभी (दक्षिण, वाम आदि)
आचाराय = आचारों को अपनाने वाले
(**तथा** = और)
निराचाराय = (ध्यान, पूजा आदि) सभी आचारों से रहित अर्थात् उन से परे होने वाले
ते शर्वाय = आप प्रभु को
नमः = नमस्कार हो ॥ १९ ॥

दक्षिणाचारो—भैरवतन्त्रमविपरीतानुष्ठानं च सारः—सारत्वेनाभिमतो यस्य। वामाचारं—वादितंत्रं विपरीतक्रमं चाभिलषति यस्तस्मै। सर्वं आचारो निजः परिस्पन्दो यस्य। निष्क्रान्ता आचारा यस्मात्, आचारेभ्यश्च—ध्यानपूजादिभ्यो निष्क्रान्तो यस्तस्मै। अथ श्रीसर्वाचारनिराचारादिरूपं[1] यन्मतक्रमादि शास्त्रार्थतत्त्वं तद्रूपाय नमः॥ १६॥

यथा तथापि यः पूज्यो यत्रतत्रापि योऽर्चितः।
योऽपि वा सोऽपि वा योऽसौ देवस्तस्मै नमोऽस्तु ते॥२०॥

(प्रभो = हे प्रभु !)
यथातथापि = जिस किसी भी रूप में
यः (त्वं) = जो (आप)
पूज्यः = पूजनीय हैं,
यत्रतत्रापि = जिस किसी भी (पवित्र या अपवित्र) स्थान पर
यः (त्वम्) = जो (आप)
अर्चितः = पूजित हुए हैं,
यः असौ = जो यह (हमारा)
देवः = देवता है,
(**सः** = वह)
योऽपि वा = जो भी है,
सोऽपि वा = सो भी है,
तस्मै = उसी
ते = आप (परमात्मदेव) को
नमः अस्तु = नमस्कार हो॥ २०॥

येन येन प्रकारेण यत्र क्वचिद्यत्किंचिदाचर्यते तत्र स्वात्मदेवताविश्रान्तिरूपा पूजा अनायासेनैव सिद्धा तत्त्वविदामिति तात्पर्यम्[2]। यत्तच्छब्दाः नियमव्युदासाय। यथागमः—

......'यथालाभं प्रपूजयेत्।'

इति॥ २०॥

मुमुक्षुजनसेव्याय सर्वसन्तापहारिणे।
नमो विततलावण्यवाराय वरदाय ते॥ २१॥

१. ख० पु० श्रीमदाचारनिराचाररूपम्—इति पाठः।
२. तात्पर्य यह है कि जो भी इन्द्र आदि देवता, लोगों से पूजे जाते हैं, वे सभी तत्त्व-दृष्टि से आप के ही भिन्न-भिन्न स्वरूप हैं। अतः उन की पूजा आदि भी आप की ही पूजा है।

(प्रभो = हे प्रभु !)
मुमुक्षु- = मुक्ति चाहने वाले
जन- = लोगों से
सेव्याय = सेवा किए जाने योग्य,
सर्व- = समस्त
सन्ताप- = दुःखों का
हारिणे = नाश करने वाले,
वितत- = अनन्त
लावण्य- = (परमानन्द रूपी) सौन्दर्य की
वाराय = राशि से (सुशोभित होने वाले)
(**च** = और)
वरदाय = (साधकों को) अभीष्ट वर देने वाले
ते = आप (प्रभु) को
नमः = नमस्कार हो ॥ २१ ॥

साधकानां मन्त्राणां प्राणत्वान्मुमुक्षुभिरेव समनन्तरोक्तयुक्त्या निर्यन्त्रणं सेवितुं शक्याय । सर्वेषां भेदमयानां सन्तापानां हारिणे—अपहन्त्रे । वितते्त्युक्तिः—परमानन्दघनत्वेन अतिस्पृहणीयत्वात् । वारः—समूहः

'समूहनिवहव्यूहवारसङ्घातसञ्चयाः ।'

इत्यमरः । वरदाय—संविन्नैर्मल्यसारप्रसादप्रदाय ॥ २१ ॥

सदा निरन्तरानन्दरसनिर्भरिताखिल-
त्रिलोकाय नमस्तुभ्यं स्वामिने नित्यपर्वणे ॥ २२ ॥

(**प्रभो** = हे प्रभु !)
सदा = सदा
निरन्तर- = लगातार
आनन्दरस- = चिदानन्द-रस से
निर्भरित- = भर दिया है
अखिल- = सारी
त्रिलोकाय = त्रिलोकी को जिस ने, ऐसे (तथा)
नित्य- = सदा
पर्वणे = उत्सव (मनाने) वाले
तुभ्यं = आप
स्वामिने = स्वामी को
नमः = प्रणाम हो ॥ २२ ॥

प्राग्वत् त्रिलोकस्य—विश्वस्य स्वस्यानन्दरसेन पूरणात् स्वामिने इत्युचितोक्तिः । नित्यपर्वणे—सदा विश्वपूरकरूपाय, पर्व पूरणे इत्यस्य प्रयोगः । सर्वश्च पर्वणि आनन्दरसनिर्भरितं निखिलं करोति ॥ २२ ॥

सुखप्रधानसंवेद्यसम्भोगैर्भजते च यत् ।
त्वामेव तस्मै घोराय शक्तिवृन्दाय ते नमः ॥२३॥

यत् च = जो
(**शक्तिवृन्दं** = इन्द्रिय-देवियों का समुदाय)
सुख-प्रधान- = आनन्द-प्रधान
संवेद्य- = रूप आदि विषयों के
संभोगैः = भोग रूपी चमत्कारों से
त्वामेव = आप के ही स्वरूप की
भजते = सेवा अर्थात् पूजा करता है,
तस्मै = उसी
घोराय = भयानक (अर्थात् भेदप्रथा को नष्ट करने वाले)
ते = आप की
शक्ति- = चक्षु आदि शक्तियों के
वृन्दाय = समुदाय को
नमः = नमस्कार हो ॥ २३ ॥

यत् शक्तिवृन्दं—संविद्देवीचक्रं, चमत्कारेण—आनन्दघनप्रमातृविश्रान्त्या सुखप्रधानसंवेद्यसंभोगैः—आनन्दसारविषयग्रासास्वादैः, त्वामेव भजते—त्वय्येव विश्वमर्पयति। तस्मै घोराय सर्वसंहर्त्रे ते—तव संबन्धिने नमः ॥ २३ ॥

मुनीनामप्यविज्ञेयं भक्तिसम्बन्धचेष्टिताः ।
आलिङ्गन्त्यपि यं तस्मै कस्मैचिद्भवते नमः ॥२४॥

मुनीनाम् = (कपिल आदि तपोनिष्ठ) मुनियों से
अपि = भी
अविज्ञेयं = (सर्वथा) न जाने जा सकने वाले
यं = जिस (प्रभु) का
भक्ति- = (समावेश रूपिणी) भक्ति के
संबन्ध- = संबन्ध में
चेष्टिताः = व्यवहार करने वाले (भक्त-जन)
आलिंगन्ति अपि = आलिंगन भी करते हैं,
तस्मै = उसी
कस्मैचित् = एक अलौकिक स्वरूप वाले,
भवते = आप को
नमः = नमस्कार हो ॥ २४ ॥

मुनीनामिति—तपोयोगादिनिष्ठानां कपिलादीनामपि ज्ञातुमशक्यम्[1] । भक्तिसम्बन्धचेष्टिताः—समावेशरसानुविद्धव्यापाराः आलिङ्गन्त्यपि—दृढावष्टम्भयुक्त्या स्वसम्भोगपात्रं कुर्वन्त्यपि यं तस्मै कस्मैचित्—स्वात्मनि स्फुरते नमः ॥ २४ ॥

१. ख० पु० विज्ञातुमशक्यम्—इति पाठः ।

परमामृतकोशाय परमामृतराशये ।
सर्वपारम्यपारम्यप्राप्याय भवते नमः ॥ २५ ॥

परमामृत- = (जो) परमानन्द रूपी अमृत का
कोशाय = भांडार (है),
परमामृत- = (जो) मोक्ष रूपी स्वरूपामृत का
राशये = खज़ाना (है)
सर्व- = (तथा जो) समस्त (तत्त्व-वर्ग की)
पारम्य- = (ईश्वर-तत्त्व आदि रूपी) उच्च काष्ठा की भी
पारम्य- =अन्तिम सीमा पर (अर्थात् शिव-तत्त्व रूपी परम पदवी पर)
प्राप्याय = प्राप्त होने से सुलभ (है,)
भवते = (उसी) आप को
नमः = प्रणाम हो ॥ २५ ॥

परमामृतस्य[1]—आनन्दरसस्य कोशो—गञ्जमिव । अतस्तत्पूर्णत्वाद्राशिश्च, बहिरपि तन्मयत्वात् । सर्वस्य—मेयादेः[2] पारम्यं—परमत्वं-प्रकाशमानता । तस्यापि पारम्यम्—आनन्दघनश्चमत्कारः शाक्तः समुल्लासस्तेन प्राप्याय ॥ २५ ॥

महामन्त्रमयं नौमि रूपं ते स्वच्छशीतलम् ।
अपूर्वामोदसुभगं परामृतरसोल्वणम् ॥ २६ ॥

(**प्रभो** = हे प्रभु !)
महा- = (जो) अति-उत्कृष्ट
मन्त्रमयं=अहं परामर्श से संपन्न (है),
स्वच्छ- = (जो) निर्मल
शीतलम् = और शीतल (है),
अपूर्व- = (जो) अलौकिक
आमोद- = सुगंधि से
सुभगम् = मनोहारी (है)
(**एवं** = तथा जो)
परामृतरस-उल्वणम् = सर्वोत्तम आनन्दरस से पूर्ण (है),
ते रूपम् = (ऐसे) आप के रूप की
नौमि = मैं स्तुति करता हूँ ॥ २६ ॥

महामन्त्रमयम्—अकृत्रिमाहंपरामर्शमयं तव रूपं नौमि—इति प्राग्वत् । स्वच्छं—विश्वप्रतिबिम्बधारणात् । शीतलं—संसारतापहारि-

१. ख० पु० परमानन्दरसस्य कोशः—इति पाठः ।
२. ख० पु० मायादेः—इति पाठः ।

त्वात्। अपूर्वेण आमोदेन—अलौकिकेन व्यापिना परिमलेन ह्लादिना स्वरूपेण, सुभगं—स्पृहणीयम्। परमामृतरसेन—परमानन्देन उल्बणं—बृंहितम्॥ २६॥

स्वातन्त्र्यामृतपूर्णत्वदैक्यख्यातिमहापटे।
चित्रं नास्त्येव यत्रेश तन्नौमि तव शासनम्॥२७॥

ईश = हे स्वामी!
(**अहं** = मैं)
तव = आप के
तत् = उस
शासनं = आदेश (अर्थात् शास्त्र रूपी परवाने) की
नौमि = स्तुति करता हूँ,
यत्र = जिस
स्वातन्त्र्य- = स्वरूप-स्वातंत्र्य रूपी
अमृत- = अमृत से
पूर्ण- = भरे हुए
त्वद्- = आप के
ऐक्य- = स्वरूप-अद्वैत को
ख्याति- = दिखाने वाले
महापटे = सर्वोत्तम (शासन रूपी) वस्त्र पर
चित्रं = (त्याग या ग्रहण का समर्थन करने वाली) नाना प्रकार की वार्ता
नास्त्येव = कुछ भी नहीं है॥ २७॥

स्वातन्त्र्यामृतेन संपूर्णा स्वतंत्रता आनन्दघना या त्वदैक्यख्यातिः—भवदभेदप्रथा, सैव विश्वचित्रतन्तुव्याप्त्या महापटः। तत्र विषये यत् शासनं—शास्यतेऽनेन इति कृत्वा तदुपदेशको[1] य आगमः, तं नौमि। यत्र विश्वम् आश्चर्यमयं त्वदैक्यप्रथनसारेऽपि चित्रं—नानारूपं नास्त्येव, त्वदैक्यख्यातिप्रतिपादनपरत्वात्[2]। चित्रम्—अद्भुतं च नास्ति,—अनुत्तरत्वादागमस्य सर्वसंभावनाभूमित्वात्। अथ च पटे स्थितं शासनमविचित्ररूपं चेति चित्रम्॥ २७॥

सर्वाशङ्काशनिं सर्वालक्ष्मीकालानलं तथा।
सर्वामङ्गल्यकल्पान्तं मार्गं माहेश्वरं नुमः॥ २८॥

---

१. ख० पु० त्वदुपदेशको य आगमः—इति पाठः।
२. ख० पु० त्वदैक्यख्यातिप्रथाप्रतिपादनपरत्वात्—इति पाठः।

सर्व- = (जो) सारी
आशङ्का- = शङ्काओं का
अशनिं=(नाश करने वाला) वज्र (है),
सर्व- = (जो) सारी
अलक्ष्मी- = दरिद्रता को
कालानलं = (जलाने वाला) कालाग्नि-रुद्र (है)
तथा = और (जो)
सर्व- = सारे
अमंगल्य- = अमंगलों को
कल्पान्तं=(नष्ट करने वाला) कल्पान्त अर्थात् प्रलय (है),
माहेश्वरं = (उस) परमेश्वर के
मार्गं = मार्ग की
(**वयं** = हम)
नुमः = स्तुति करते हैं ॥ २८ ॥

सर्वासामाशङ्कानां—द्रव्यपूजामंत्रादिसंकीर्णत्वाद्युक्तानां, विचित्रसंसारबीजभूतानां, चित्तवृत्तिम्लानिदानाम् अशनिं—स्वरूपध्वंसकम्। आम्नायेऽपि च

'शङ्कापि न विशङ्केत निःशङ्कत्वमिदं स्फुटम्'।

इत्युक्तम्। अलक्ष्मीणाम्—अनानन्ददशानां कालानलं—महादाहकम्। सर्वामङ्गल्यानाम्—अशुभसूचकानां कल्पान्तं—निःशेषेण नाशकं, माहेश्वरं मार्गं—शाक्तं प्रसरं नुमः ॥ २८ ॥

जय देव नमो नमोऽस्तु ते सकलं विश्वमिदं तवाश्रितम्।
जगतां परमेश्वरो भवान् परमेकः शरणागतोऽस्मि ते॥२९॥

देव = हे भगवान् !
जय = आप की जय हो।
ते = आप को
नमो नमः = बार-बार नमस्कार
अस्तु = हो।
इदं = यह
सकलं = सारा
जगत् = संसार
तव = आप के
आश्रितम् = सहारे ठहरा हुआ है।
भवान् = आप
जगतां = सारे जगत के
परमेश्वरः = स्वामी हैं।
(**अहं** = मैं)
एकः = केवल एक ही
ते = आप की
शरणागतः = शरण में आया
अस्मि = हूँ ॥ २९ ॥

परमेकोऽस्मीति—देहाद्यभिमानेन त्वन्मायाशक्तिक्लृप्तेन विश्वविभेदेन त्वत्तः पृथगिव कृतः। अत एव शरणमागतः। युक्तं चैतत्, यतो विश्व-

मिदं तवाश्रितं—चिन्मयत्वत्स्वरूपमग्रं। ततश्च जगतां भवानेव परमेश्वरः—ब्रह्मादिसदाशिवान्तेभ्य[1] उत्तमः। अत एव हे देव—क्रीडादिशील! जय—देहाद्यभिमानमिममुत्पुंस्य[2] स्वरूपेण प्रथस्व, इति शिवम्[3] ॥ २९ ॥

—००—

इति श्रीमदुत्पलदेवाचार्यविरचितस्तोत्रावल्यां सर्वात्मपरिभावनाख्ये द्वितीये स्तोत्रे श्रीक्षेमराजाचार्यविरचिता विवृतिः ॥ २ ॥



१. ग० पु० ब्रह्मादिभ्यः—इति पाठः।

२. ग० पु० 'उदस्य'—इति पाठः।

३. ग० पु० प्राग्वत्—इति पाठः।

ॐ तत् सत्

अथ

प्रणयप्रसादाख्यं तृतीयं स्तोत्रम्

सदसत्त्वेन भावानां युक्ता या द्वितयी गतिः[1]।
तामुल्लङ्घ्य तृतीयस्मै नमश्चित्राय शम्भवे ॥ १ ॥

सदसत्त्वेन = सत् और असत्, इस दृष्टि से
भावानां = (सांसारिक) वस्तुओं की
या = जो
द्वितयी = दो प्रकार की
गतिः = गति (अर्थात् स्थिति)
युक्ता = उचित रूप में देखी जाती है,
ताम् = उस (द्विविध गति) को
उल्लङ्घ्य = छोड़ कर (जो)
तृतीयस्मै = तीसरी (गति) है, उस
चित्राय = आश्चर्य-स्वरूप (अथवा जगत के चित्र-स्वरूप)
शम्भवे = शिव जी महाराज को
नमः = नमस्कार हो ॥ १ ॥

भावानां—प्रमेयादीनां, जन्मसत्तादिरूपतया प्राक्प्रध्वंसाभावादिरूपतया च द्वितयरूपा[2] गतिर्युक्ता[3]। यतस्ते भावा—भावनीयाः—सम्पादनीयाः। तामुल्लंघ्य—उज्झित्वा यस्तृतीयः—सदसत्ताभ्यामव्यपदेश्यत्वात् तुर्यादिवत्संख्ययैव व्यपदेश्यः स्थितः, तस्मै चित्राय—आश्चर्याय विश्वचित्राय शम्भवे नमः—इति प्राग्वत् ॥ १ ॥

आसुरर्षिजनादस्मिन्नस्वतन्त्रे जगत्त्रये ।
स्वतन्त्रास्ते स्वतन्त्रस्य ये तवैवानुजीविनः ॥ २ ॥

---

१. ख० पु० 'स्थितिः'—इति पाठः ।

२. ख० पु० द्वितयी रूपा—इति पाठः ।

३. ख० पु० स्थितिर्युक्ता—इति पाठः, ग० पु० द्वितयीयुक्ता—इति च पाठः ।

(**प्रभो** = हे स्वामी !)
अस्मिन् = इस
अस्वतन्त्रे = परतन्त्र
जगत्त्रये = त्रिलोकी में
आसुरर्षिजनात् = (मरीचि अथवा नारद आदि) देवर्षि-जनों से ले कर
ते = वे (लोग)
एव = ही
स्वतन्त्राः = स्वतन्त्र होते हैं,
ये = जो
स्वतन्त्रस्य = (पूर्ण रूप में) स्वतन्त्र
तव = आप के
अनुजीविनः = सेवक अर्थात् भक्त
(**स्युः** = हों) ॥ २ ॥

जगत्त्रयं—प्राग्वत् । सुरर्षिजनात्—मरीच्यादिदेवर्षिजनात् । आ आङ् अभिविधौ । अस्वतन्त्रत्वं—सृष्टिसंहारगोचरत्वम् । स्रष्ट्रादिरूपस्तु शम्भुरेव स्वतन्त्रः । तस्य च ये अनुजीविनः—तदात्मकस्वात्मसाक्षात्कारिणः[1], तेऽपि तदावेशात्[2] स्वतन्त्रा एव ॥ २ ॥

अशेष-विश्वखचित-भवद्वपुरनुस्मृतिः ।
येषां भवरुजामेकं भेषजं ते सुखासिनः ॥ ३ ॥

अशेष- = (इस) सारे
विश्व- = जगत से
खचित- = परिपूर्ण बने हुए
भवद्- आप के
वपुः- = चित्स्वरूप का
अनुस्मृतिः = बार बार होने वाला (स्वात्मावेश रूपी) स्मरण
भव- = संसार के
रुजाम् = रोगों की
एकम् = अद्वितीय
भेषजं = औषधि (है)
येषां = (यह) जिन को (प्राप्त होती है),
ते = वे (लोग ही)
सुखासिनः = स्वात्म-सुख में रमते हैं ॥ ३ ॥

भवरुजां—सांसारिकोपतापानां[3], भेषजम्—औषधं । विश्वखचितत्वात् सर्वोपकृतिकरणक्षमा भवद्वपुरनुस्मृतिः—चिदात्मनस्त्वत्स्वरूप-

१. ख० पु० त्वदात्मक—इति पाठः ।
२. ख० पु० तत्समावेशात्—इति पाठः ।
३. ख० पु० संसारैकोपतापानाम्—इति पाठः ।

स्यानुगततया स्मरणं—समावेशमयं येषामस्ति, ते सुखासिनः—सत्स्वपि देहादिनान्तरीयकेषु दुःखस्पर्शेषु परमानन्दघने सुखे एव तिष्ठन्ति ॥ ३ ॥

सितातपत्रं यस्येन्दुः स्वप्रभापरिपूरितः ।
चामरं स्वर्धुनीस्रोतः स एकः परमेश्वरः ॥ ४ ॥

स्वप्रभा- = अपने चित्प्रकाश से
परिपूरितः = परिपूर्ण बनाया गया
इन्दुः = (प्रमेय रूपी) चन्द्रमा
यस्य = जिस (प्रभु) का
सित- = शुभ्र
आतपत्रं = छाता है
(**च** = और)
स्वर्धुनी-स्रोतः = (मध्य-शक्ति रूपिणी) गंगा जी का प्रवाह
(**यस्य** = जिस का)
चामरं = चामर है,
स एकः = वही एक (अर्थात् अद्वितीय)
परमेश्वरः = महान् ईश्वर है ॥ ४ ॥

इन्दुः—सर्वमेयरूपः, प्रकाशदशायां स्वप्रभाभिः—चैतन्यमरीचिभिः परिपूर्णतां प्रापितः, यस्य सितं—शुद्धं, स्वात्मलग्नत्वाच्च बद्धं, पाशवहेयोपादेयतादिकल्पनोत्थात्[1] आतपात् त्रायते—इत्यातपत्रम् । तथा स्वः—स्वर्गं तदुपलक्षितं च निरयं—धर्माधर्मफलं धुनोति[2]—स्वर्धुनी मध्यवाहिनी चिच्छक्तिः, सैव प्रसरद्रूपत्वात्स्रोतः, तद्यस्य चामरं—माहात्म्यप्रथाहेतुः[3] । स एको नतु अन्यः परम ईश्वरः । स्थूलदृष्ट्या तु निजरश्मिपूर्णः खण्डेन्दुः गंगा च यस्य असाधारणं छत्रं चामरं चेति स्पष्टम् ॥ ४ ॥

प्रकाशां शीतलामेकां शुद्धां शशिकलामिव ।
दृशं वितर मे नाथ काममप्यमृतवाहिनीम् ॥ ५ ॥

१. ख० पु० पाशवहेयोपादेयत्वादिकल्पनोत्थात्—इति पाठः ।
२. ख० पु० धुनोति—दूरीकरोतीति स्वर्धुनी—इति पाठः ।
ग० पु० ध्वनति—इति च पाठः ।
३. ख० पु० स्वात्मप्रथाहेतुः—इति पाठः ।

नाथ = हे स्वामी !
शशि- = चन्द्रमा की
कलामिव = (अमृत-वर्षिणी) कला जैसी,
प्रकाशां = अति प्रकट,
शीतलां = शीतल (अर्थात् सन्तापों को हरने वाली),
शुद्धाम् = अत्यन्त निर्मल,
अमृत- = परम-अमृत को
वाहिनीम् = धारण करने वाली,
कामपि = एक अनूठी (तथा)
एकां = अद्वितीय
दृशं = (अनुग्रह-प्रदा) दृष्टि
मे = मुझ पर
वितर = डाल दीजिए ॥ ५ ॥

प्रकाशां—सुप्रकटां[1], शीतलां—सन्तापहरां, शुद्धां—भेदकलङ्कशा[2]तिनीं च, एकाम्—अद्वितीयां, कामपि—अपूर्वां, अमृतवाहिनीम्—आनन्दस्यन्दिनीं[3], दृशं—संविदं, मे—मह्यं, नाथ ! वितर—प्रयच्छ । शशिकलापक्षे श्लिष्टोक्तेः स्पष्टोऽर्थः ॥ ५ ॥

त्वच्चिदानन्दजलधेश्च्युताः संवित्तिविप्रुषः ।
इमाः कथं मे भगवन्नामृतास्वादसुन्दराः ॥ ६ ॥

भगवन् = हे भगवान् !
त्वत्- = आप
चिदानन्द- = चिदानन्द रूपी
जलधेः = समुद्र से
च्युताः = निकली हुई
इमाः = ये
संवित्ति- = (नील सुखादि रूपी) ज्ञान की
विप्रुषः = बूंदें
मे = मेरे लिए
अमृत- = परमानन्द-अमृत के
आस्वाद- = चमत्कार से
सुन्दराः = सुशोभित
कथं न (भवन्ति) = क्या नहीं होती हैं ? [अर्थात् अवश्य होती हैं] ॥ ६ ॥

त्वत्तः—चिदानन्दसमुद्रात् याः संवित्तिविप्रुषः—नीलसुखादिज्ञानकणिकाः, प्रकाशमानत्वाच्चिदानन्दसारा एव च्युताः—निर्याताः, समका-

१. ख० पु० स्वप्रकटाम्—इति पाठः ।
२. ख० पु० भेदशङ्काशातिनीम्—इति पाठः ।
३. ख० पु० अमृतस्यन्दिनीं च—इति पाठः ।

लममृतास्वादसुन्दराः, इमा विस्फुरन्त्यो[1] नो कथं भवन्ति—भवन्त्येवेत्यर्थः ॥ ६ ॥

त्वयि रागरसे नाथ न मग्नं हृदयं प्रभो ।
येषामहृदया एव तेऽवज्ञास्पदमीदृशाः ॥ ७ ॥

नाथ = हे स्वामी !
प्रभो = हे प्रभु !
येषां = जिन का
हृदयं = हृदय
त्वयि = आप के
राग-रसे = भक्ति-रस में
न = नहीं
मग्नं = डूबा,
ईदृशाः = ऐसे
अहृदयाः = (प्रेम-रस-युक्त सच्चे) हृदय से वंचित बने हुए
ते = वे लोग
अवज्ञा- = अवहेलना (अर्थात् अपमान के
आस्पदम् = स्थान (अर्थात् पात्र)
एव = ही
(**भवन्ति** = होते हैं) ॥ ७ ॥

त्वद्विषये यो रागरसो—भक्तिप्रसरः । तत्र येषां हृदयं न मग्नं— न समाविष्टं, ते अविद्यमानतात्त्विकहृदयाः । ईदृशा इति—संसारक्लेशभाजनभूताः । अवज्ञास्पदं—भक्तिमतामगणनीया एव ॥ ७ ॥

प्रभुणा भवता यस्य जातं हृदयमेलनम् ।
प्राभवीणां विभूतीनां परमेकः स भाजनम् ॥ ८ ॥

भवता = आप
प्रभुणा = प्रभु के साथ
यस्य = जिस (जीव) के
हृदय- = हृदय का
मेलनं = मेल
जातं = हुआ हो,
परम् = केवल
सः = वह
एकः = एक (ही)
प्राभवीणां = प्रभु की
विभूतीनां = विभूतियों का
भाजनं = पात्र
(**अस्ति** = होता है) ॥ ८ ॥

---

१. ख० पु० विस्फुरन्त्यः कथं न भवन्ति—इति पाठः ।

उक्तार्थप्रातिपद्येणोक्तिः । यस्येति—कस्यचिदेव । अहृदयास्तु प्रायशो[1] बहव इति बहुवचनमत्र नोक्तम् । हृदयमेलनं—समावेशेनैक्यम्[2] । विभूतयः—अद्वयानन्दसम्पदः । यस्य च लौकिकेश्वरेण हृदयमेलनं भवति, स एवैकस्तद्विभूतीनां पात्रं नान्य इति श्लेषेण ध्वनति ॥८॥

हर्षाणामथ शोकानां सर्वेषां प्लावकः समम् ।
भवद्ध्यानामृतापूरो निम्नानिम्नभुवामिव ॥ ९ ॥

(**प्रभो** = हे प्रभु !)
भवद्- = आप के
ध्यानामृत- = ध्यान रूपी अमृत का
आपूरः = प्रवाह
सर्वेषां = सभी
हर्षाणाम् = हर्षों
अथ = तथा
शोकानां = शोकों को,
निम्न- = नीची-
अनिम्न- = ऊँची
भुवामिव = भूमियों की तरह,
समं = एक साथ
प्लावकः = बहाने वाला (अर्थात् नष्ट करने वाला)
(**भवति** = होता है) ॥ ९ ॥

भवद्ध्यानं—समावेशरूपं त्वच्चिन्तनमेव अमृतापूरः । स यथा निम्नानिम्नभुवाम्—अशुद्धेतररूपमायाविद्याभूमीनां समं—युगपत्, प्लावकः—सामरस्यापादकः । तथा लौकिक-शोकहर्षादीनामपि । समाविष्टस्य हि युगपदेव निखिलं परमानन्दव्याप्तिमयं जायते । जलापूरश्च निम्नोन्नता भूमीः प्लावयति ॥ ९ ॥

केव न स्याद्दशा तेषां सुखसम्भारनिर्भरा ।
येषामात्माधिकेनेश न क्वापि विरहस्त्वया ॥ १० ॥

ईश = हे ईश्वर !
तेषां = उन (भक्त-जनों) की
का इव = भला कौन सी
दशा = दशा
सुख-संभार = सुख के भंडार से
निर्भरा = परिपूर्ण
न = नहीं
स्यात् = होती,

१. ख० पु० प्रायो बहवः—इति पाठः ।
२. ख० पु० समावेशेनैकत्वम्—इति पाठः ।

येषाम् = जिन का
आत्म- = (अपनी) आत्मा से
अधिकेन = अधिक (अर्थात् प्रिय)
त्वया = आप के
(**सह** = साथ)
क्वापि = किसी अवस्था में भी
विरहः = वियोग
न (भवति) = नहीं होता ॥ १० ॥

येषामात्माधिकेन, ईश ! देहादि निमज्ज्य चिद्घनत्वेन स्फुरता त्वया, क्वापि—कदाचिदपि न वियोगः, तेषां सुखसम्भारनिर्भरा–परमानन्दपूर्णा, का इव दशा न स्यात्—सर्वैव भवतीत्यर्थः। जीवन्तः ईश्वरावियुक्ताश्च सदा सुखिनो भवन्ति ॥ १० ॥

गर्जामि बत नृत्यामि पूर्णा मम मनोरथाः ।
स्वामी ममैष घटितो यत्त्वमत्यन्तरोचनः ॥ ११ ॥

यत् = जो
एषः = यह
त्वं = आप
मम = मेरे
अत्यन्त- = बहुत ही
रोचनः = प्रिय (शोभायमान)
स्वामी = स्वामी
घटितः = हो पाये,
(**तर्हि** = सो)
मम = मेरे
मनोरथाः = मनोरथ
पूर्णाः = पूरे हो गये ।
(**इत्येवमहं** = इसी लिए मैं)
गर्जामि = (उल्लास में) गरजता हूँ (और)
बत = सौभाग्य से
नृत्यामि = नाचता हूँ ॥ ११ ॥

अतिभक्तिरसानन्दघूर्णितस्येयमुक्तिः। अत्यन्तं रोचनः—अतिशयेन प्रियः। एष इति—वक्तुमशक्यः स्वानुभवसंसिद्धः। तथा च अत्यन्त-रोचनः—विश्वग्रासकत्वेन अतिदीप्तप्रकाशवपुर्यतस्त्वं स्वामी मम घटितः—समावेशेन मया आसादितः, ततो गर्जामि—महारवमुच्चा-[1]रयामि। नृत्यामि—हर्षप्रसरभरेण सर्वतो मायाप्रमातृभावधूननसारं[2] गात्रविक्षेपं करोमि। मम च मनोरथाः पूर्णाः—निराकाङ्क्षोऽस्मि जात

१. ख० पु० महारवमुच्चरामि—इति पाठः।
२. ख० पु० मायाप्रमादभावधूननसारम्—इति पाठः।

इत्यर्थः । बत इति—अनुत्तरचित्स्वरूपप्रत्यभिज्ञानाद्विस्मयमुद्रानुप्रवेशं ध्वनति ॥ ११ ॥

नान्यद्वेद्यं क्रिया यत्र नान्यो योगो विदा च यत् ।
ज्ञानं स्यात् किन्तु विश्वैकपूर्णा चित्त्वं विजृम्भते ॥१२॥

यत्र = जिस (आप जैसे स्वामी के होने की) दशा में
अन्यत् = और कोई
वेद्यं = जानने योग्य (तत्त्व)
न = नहीं,
अन्या = और कोई
क्रिया = (करने योग्य) क्रिया
न = नहीं,
अन्यः = और कोई
योगः = योग-साधना
न = नहीं
(**अन्या** = और कोई)
विदा च = संवित् भी
न = नहीं,
किन्तु = किन्तु (केवल)
यत् = जो
ज्ञानं = (पारमार्थिक) ज्ञान
स्यात् = हो सकता है,
(**तत्** = वही)
विश्व- = भेदप्रथा को (जलाने के लिए)
एक-पूर्णा = एक पूर्णाहुति है
(**तदेव** = और वही)
चित्त्वं = चित्-तत्त्व
विजृम्भते = विकसित होता है ॥१२॥

तथाविधो मम स्वामी घटितो, यत्र स्वामिनि सति अन्यद्—भिन्नं वेद्यं, अन्या क्रिया, अन्यो योगः, अन्या च विदा—संविन्नास्ति । घटितस्वामिव्यतिरिक्तं मम न किंचिदपि भातीत्यर्थः । क्रिया विदा इत्यत्र अन्या इति योजना । तत्र पूर्णत्वमस्त्येव—इत्याह किन्तु यज्ज्ञानं स्यात् तद्विश्वस्यैका[२] पूर्णाहुतिः—बोधाग्निप्रज्वालिनी । पूर्णाहं परामर्शक्रियाशक्तिस्वरूपमेतज्ज्ञानमिति यावत् । यच्च ईदृग्ज्ञानं तदेव[३] चित्त्वं—शिवप्रकाशरूपत्वं विजृम्भते नान्यत् । यदागमः[४]

१. ख० पु० विश्वैकपूर्णम्—इति पाठः ।
२. ख० पु० तद्विश्वैकपूर्णा—विश्वस्यैका पूर्णाहुतिः—इति पाठः ।
३. ख० पु० तदेवम्—इति पाठः ।
४. ख० पु० यथागमः—इति पाठः ।

"न योगोऽन्यः क्रिया नान्या तत्त्वारूढा हि या मतिः ।

स्वचित्तवासनाशान्तौ सा क्रियेत्यभिधीयते ॥" गमतं० ॥

इति ॥ १२ ॥

दुर्जयानामनन्तानां दुःखानां सहसैव ते ।
हस्तात्पलायिता येषां वाचि शश्वच्छिवध्वनिः॥१३॥

(**प्रभो** = हे प्रभु !)
दुर्जयानाम् = जिन को जीतना कठिन है, ऐसे
अनन्तानां = अनन्त
दुःखानां = दुःखों के
हस्तात् = हाथ से
ते = वे (जन)
सहसैव = एकाएक ही
पलायिताः = भाग निकले हैं,
येषां = जिन की
वाचि = वाणी में
शश्वत् = निरन्तर ही
शिव- = शिव की
ध्वनिः = गूंज
(**वर्तते** = रहती है) ॥ १३ ॥

हस्तात्पलायिता इत्यनेन शिवध्वनिशून्यवाचः सर्वदुःखाक्रान्ता इति ध्वनति । तथा चोच्यते

"आब्रह्मणश्च [1]कीटान्तं न कश्चित् तत्त्वतः सुखी ।

करोति तास्ता विकृतीः सर्व एव जिजीविषुः ॥"

इति ॥ १३ ॥

उत्तमः पुरुषोऽन्योऽस्ति युष्मच्छेषविशेषितः ।
त्वं महापुरुषस्त्वेको निःशेषपुरुषाश्रयः ॥१४॥

(**प्रभो** = हे स्वामी !)
युष्मद्- = युष्मद् (शब्द) से (और)
शेष- = शेष (अर्थात् तद् शब्द) से
विशेषितः = विशेष रूप वाला
उत्तमः पुरुषः = उत्तम पुरुष (अस्मद् शब्द)
अन्यः = (कोई) विरला ही
अस्ति = है,
त्वं तु = (पर) आप तो
निःशेष- = सभी (अर्थात् तीनों)
पुरुष- = पुरुषों के २
आश्रयः = आधार
एकः = एक ही (अर्थात् अद्वितीय)
महापुरुषः = महापुरुष (हैं) ॥१४॥

१. ख० पु० कीटाच्च—इति पाठः ।

'हरिः पुरुषोत्तमः'—इति प्रसिद्धः। स युष्मच्छेषेण—तावकेन अभेदसारवि[1]द्याधिष्ठातृप्रमातृषु च विलब्धादन्येन अधिष्ठानात्मना स्वरूपेण विशेषितः—सम्पादितविशेषः। तथा चागमः

"वैष्णव्यास्तु स्मृतो विष्णुः।"

इति। त्वं सकलादिसदाशिवान्तनिःशेषपुरुषाश्रयत्वान्महापुरुषः। अन्यशब्दः कश्चिदर्थः। एकः—अद्वितीयः। इति एकः श्लोकार्थः। अपरस्तु व्याकरणप्रक्रियया उत्तमपुरुषः अस्म[2]दर्थे यः, स युष्मच्छेषाभ्यां—मध्यमप्रथमपुरुषाभ्यां विशेषितः—सञ्जातविशेषोऽस्ति, तस्य च तटस्थपरामृश्यात्प्रथमपुरुषात् युष्मदर्थोन्मुखाच्च मध्यमपुरुषादयं विशेषः, यद्शेषपुरुषाश्रयत्वं तद्विश्रान्तिधामत्वं। सर्वस्येदन्ताविमृश्यस्याहन्तायामेव विश्रान्तेः—स पचति, त्वं पचसि, अहं पचामि—इति विवक्षायां व[3]यं पचामः—इत्यादौ प्रयोगेऽयमेवाशय इत्यास्ताम्। त्वं तु [4]निःशेषाणां—प्रथममध्यमोत्तमपुरुषाणां कल्पितानाम[5]कल्पितचिद्रूपः आश्रयः। यथोक्तं प्रत्यभिज्ञायां

"ग्राह्यग्राहकताभिन्नावर्थौ भातः प्रमातरि ॥" १अ०, ४आ०, श्लो० ८ ॥

इति। अत एव महापुरुषः—महेश्वरो, महादेववन्महच्छब्दस्य त्वय्येव प्रवृत्तत्वात् ॥ १४ ॥

जयन्ति ते जगद्वन्द्या दासास्ते जगतां विभो।
संसारार्णव एवैष येषां क्रीडामहासरः ॥ १५ ॥

जगतां विभो = हे (सभी) भुवनों के स्वामी!
ते = वे
जगद्- = जगत में
वन्द्याः = पूजनीय
ते = आप के

१. ख० पु० अभेदसारविद्याधिष्ठातृषु प्रमातृषु—इति पाठः।
२. ख० पु० अस्मदर्थरूपः—इति पाठः।
३. ख० पु० वयमेव पचामः—इति पाठः।
४. ख० पु० विनिःशेषाणाम्—इति पाठः।
५. ख० पु० अकल्पितश्चिद्रूपाश्रयः—इति पाठः।
ग० पु० अकल्पितचिद्रूपाश्रयः—इति पाठः।

दासाः = सेवक (अर्थात् भक्त)
जयन्ति = धन्य हैं,
येषां = जिनके लिए
एषः = यह (भयप्रद)
संसार- = संसार रूपी
अर्णवः एव = समुद्र ही
क्रीडा- = क्रीड़ा अर्थात् मनोरञ्जन का (काम देने वाला)
महा- = एक बड़ा
सरः = सरोवर (है) ॥ १५ ॥

जगद्वन्द्यत्वं—शिवसमावेशपात्रत्वात्। जगतां विभो! तव दासास्ते जयन्ति, येषां संसारसमुद्र एवैष इति—अतिघोरोऽपि चिद्रूपतया ज्ञातपरमार्थः सन् क्रीडामहासरः कल्पः। यथोक्तं स्पन्दे

"इति वा यस्य संवित्तिः क्रीडात्वेनाखिलं जगत्।
सम्पश्यन्.................................॥" नि० ३, श्लो० ३ ॥

इत्यादि ॥ १५ ॥

आसतां तावदन्यानि दैन्यानीह भवज्जुषाम्।
त्वमेव प्रकटीभूया इत्यनेनैव लज्ज्यते ॥ १६ ॥

इह = इस (भक्ति-मार्ग) में
भवत्- = आप की
जुषाम् = भक्ति करने वालों की
तावत् = अभी
अन्यानि = और और
दैन्यानि = दीनताएँ (अर्थात् अणिमा आदि संबन्धी प्रार्थनाएँ)
आसताम् = तो दूर रहीं,
त्वमेव = 'आप ही
प्रकटी-भूयाः = प्रकट हो जायें'
इति = इस प्रकार की
अनेनैव = इस (प्रार्थना) से ही
तैः = वे
लज्ज्यते = लजाते हैं (अर्थात् दूसरी दीनताओं की संभावना ही नहीं है) ॥ १६ ॥

अन्यानि दैन्यानि—अणिमादिप्रार्थना। भवज्जुषां—सततसमावेशप्रथमानत्वत्स्वरूपाणाम्, अत एव प्रार्थनीयान्तरविरहात्[1] त्वमेव प्रकटीभूयाः—इत्यनेनैव कदाचित्समाविष्टैः प्रार्थनीयेन यतो लज्ज्यते ततो दण्डापूपीयन्यायेन दैन्यान्तरसम्भावनैव नास्ति ॥ १६ ॥

१. ख० पु० अर्थनीयान्तरविरहात्—इति पाठः।
ग० पु० अत एव त्वमेवार्थनीयान्तरविरहात्—इति पाठः।

मत्परं नास्ति तत्रापि जापकोऽस्मि तदैक्यतः ।
तत्त्वेन जप इत्यक्षमालया दिशसि क्वचित् ॥ १७ ॥

(**शिव** = हे मंगल-स्वरूप ईश्वर !)
मत्परं = 'मुझ से बढ़ कर
(**अन्यद्-** = और कोई)
उत्कृष्टं = उत्कृष्ट
(**दैवतं** = देवता)
न अस्ति = नहीं है,
तत्रापि = फिर भी
(**अहं** मैं)
जापकः अस्मि = जप करता हूँ,
तत् = इसलिए
ऐक्यतः = एकीकरण द्वारा (साक्षात्कार करना ही)
तत्त्वेन = तत्त्व-दृष्टि से
जपः = जप (है),'
इति त्वम् = यही आप
क्वचित् = कहीं (अर्थात् किसी अपने चित्र में)
अक्षमालया = रुद्राक्षमाला धारण करने से
दिशसि = उपदेश करते हैं ॥ १७ ॥

'महेशितुरपि जप्यं देवतान्तरमस्ति—अक्षमालायोगात्,—इति ये मुह्यन्ति तान् बोधयितुमाह;—मत्परं तावन्नास्ति तथापि जापकोऽस्मि यत्, तत्—तस्मात् ऐक्यतः—ऐक्येन चिद्भेदेन परमार्थतो जपः—पूर्णाहन्ताविमर्शात्मा नित्योदितो भवति—इत्यक्षमालया क्वचित्—गौरीश्वराद्याकृतौ दिशसि—कथयसि । तच्छब्दाद्यच्छब्द आक्षेप्यः । अथवा अक्षमालया—करणीश्वरीपंक्त्या समस्तार्थसार्थसर्गसंहारपरम्परासमापत्तये पुनः पुनरावर्तमानया ऐक्यतः—महार्थनयाभेदसारेणैकत्वेन च जपः—अनुत्तरविमर्शसारो भवतीत्यक्षमालयैव—वर्णलिपिन्यासेन युक्त्या शिक्षयसि ॥ १७ ॥

सतोऽवश्यं परमसत्सच्च तस्मात्परं प्रभो ।
त्वं चासतस्सतश्चान्यस्तेनासि सदसन्मयः ॥ १८ ॥

प्रभो = हे प्रभु !
असत् = असत् (अव्यक्त)
अवश्यं = अवश्य ही
सतः = सत् (व्यक्त) से
परम् = भिन्न है,
सत् च = और सत्
अस्मात् = उस से (अर्थात् असत् से)
परम् (**अस्ति**) = भिन्न है,
त्वं च = आप तो
असतः = असत्

सतश्च = और सत् (दोनों) से
अन्यः = न्यारे हैं,
तेन = इसी लिए (आप)
सदसन्मयः असि = सत्-स्वरूप और असत्-स्वरूप दोनों हैं ॥ १८ ॥

भावाभावौ पर[1]स्परं भिन्नौ। त्वमसतः—खपुष्पादेः सतश्च—नीलसुखादेरन्यः—विलक्षणः चिदानन्दघनः। अत एव सदसन्मयः—सद्रूपोऽप्यसद्रूपोऽपि, सदसद्रूपोऽपि विश्वात्मकस्त्वम्। नतु सद्रूप एव वा, असद्रूप एव वा, सदसद्रूप एव वा, उभयोज्झित एव वा। तथा च श्रीभर्गशिखायां

" न सन्न चासत्सदसन्नैव तदुभयोज्झितम्।"

इत्युपक्रम्य

"दुर्विज्ञेया हि सावस्था किमप्येतदनुत्तरम्॥"

इत्यनिर्वचनीयतयैव विश्वोत्तीर्णविश्वमयचिदानन्दघनमनुत्तरस्वरूपं—

"सदसत्त्वेन ....।" ३ स्तो०, श्लो० १॥

इति श्लोकेन भावनीयसदसत्ताकोटिद्वयवैलक्षण्यमुक्तम्। अनेन तु सर्वभावाभावोत्तरत्वम्॥ १८॥

सहस्रसूर्यकिरणाधिकशुद्धप्रकाशवान्।
अपि त्वं सर्वभुवनव्यापकोऽपि न दृश्यसे॥ १९॥

(**प्रभो** = हे ईश्वर!)
सहस्र- = हज़ारों
सूर्य- = सूर्यों की
किरण- = किरणों से
अधिक- = अधिक
शुद्ध- = उज्ज्वल
प्रकाशवान् = प्रकाश वाले
अपि = होते हुए भी
(**च** = और)
सर्व- = सभी
भुवन- = लोकों में
व्यापकः = व्यापक
अपि = होने पर भी
त्वं = आप
न दृश्यसे = दिखाई नहीं देते ॥१९॥

सहस्रसूर्यकिरणेभ्योऽप्यधिकः—तेषामपि तत्प्रकाशत्वात्। शुद्धः—

१. ख० पु० परस्परभिन्नौ—इति पाठः।

चिदेकरूपः प्रकाशो भूम्ना प्राशस्त्येन च यस्य। अत एव सर्वभुवनव्यापकोऽपि[1] त्वं मायाव्यामूढैर्न दृश्यसे—भासमानोऽपि न प्रत्यभिज्ञायसे इति यावत्॥ १९॥

जडे जगति चिद्रूपः किल वेद्येऽपि वेदकः।
विभुर्मिते च येनासि तेन सर्वोत्तमो भवान्॥ २०॥

येन = चूँकि
(**त्वं** = आप)
किल = सचमुच
जडे = जड
जगति = जगत में
चिद्रूपः = चेतन–स्वरूप
(**असि** = हैं)
वेद्ये-अपि = और जानने योग्य (तत्त्व के विषय) में
वेदकः = ज्ञान कराने वाले
(**असि** = हैं)
मिते च = तथा ससीम में
विभुः = व्यापक
असि = हैं
तेन = इस लिए
भवान् = आप
सर्वोत्तमः = सब से उत्तम हैं ॥२०॥

जगति—क्षित्यादिसदाशिवावसाने जडे वेद्ये मिते च असि त्वं चिद्रूपो वेदको व्यापकश्च यतस्ततः सर्वोत्तमोऽसीति सम्बन्धः॥ २०॥

अलमाक्रन्दितैरन्यैरियदेव पुरः प्रभोः।
तीव्रं विरौमि यन्नाथ मुह्याम्येवं विदन्नपि॥ २१॥

नाथ = हे स्वामी !
अन्यैः = और बातों के
आक्रन्दितैः = चिल्लाने से
अलम् = कोई लाभ नहीं।
(**अहं** = मैं)
इयत् = इतना
एव = ही
प्रभोः = प्रभु के
पुरः = सामने
तीव्रं = ज़ोर से
विरौमि = चिल्ला कर कहता हूँ
यत् = कि
एवं = ऐसा
विदन् = जानते
अपि = हुए भी
मुह्यामि = मैं मोह में पड़ता हूँ ॥२१॥

१. ख० पु० सर्वभुवनव्यापकत्वम्—इति पाठः।

व्युत्थानदशापरपशः समावेशस्य तत्त्वं जानन्नपि मुह्यामीति—समावेशविवशो भवामीति शिवम् ॥ २१ ॥

इतिश्रीमदुत्पलदेवाचार्यविरचितस्तोत्रावलौ प्रणयप्रसादाख्ये तृतीये स्तोत्रे श्रीक्षेमराजाचार्यविरचिता विवृतिः ॥ ४ ॥



१. ख० पु० समावेशतत्त्वम्—इति पाठः ।

२. ख० पु० समावेशवशो भवामि—इति पाठः ।

ॐ तत् सत्

अथ

सुरसोद्बलाख्यं चतुर्थं स्तोत्रम्

चपलमसि यदपि मानस
तत्रापि[1] श्लाघ्यसे यतो भजसे ।
शरणानामपि शरणं
त्रिभुवनगुरुमम्बिकाकान्तम्[2] ॥ १ ॥

मानस = हे (मेरे) मन !
यदपि = यद्यपि
(**त्वं** = तू)
चपलम् = चञ्चल
असि = है
तत्रापि = तो भी
श्लाघ्यसे = प्रशंसनीय है,
यतः = क्योंकि
(**त्वं** = तू)
शरणानाम् अपि = रक्षकों की भी
शरणं = रक्षा करने वाले,
त्रिभुवन- = तीनों भुवनों के
गुरुम् = स्वामी और
अम्बिका- = पार्वती के
कान्तम् = प्रिय
(**महादेवं** = महादेव जी को)
(**यदा तदा अपि** = जब तब भी)
भजसे = भजता है ॥ १ ॥

चापल्याद्यद्यपि[3] भगवद्भजने न प्ररोहसि तथापि कृतार्थमसि—क्षणमात्रमपि तत्सेवायाः पूर्णव्याप्तिप्रदत्वात् । अत एव शरणानामपीति—असामान्यतां भगवतः प्रथयति । शरणानां—ब्रह्मविष्ण्वादीनामपि शरणं—समाश्रयं, त्रिभुवनगुरुं—विश्वस्योपदेष्टारं पूज्यं च । अम्बिका—पराशक्तिः ॥ १ ॥

---

१. ख० पु० तथापि—इति पाठः ।

२. ख० पु० भुवनगुरुम्—इति पाठः ।

३. ख० पु० चापलाद्यद्यपि—इति पाठः ।

उल्लङ्घ्य विविधदैवत-
सोपानक्रममुपेयशिवचरणान् ।
आश्रित्याप्यधरतरां भूमिं
नाद्यापि चित्रमुज्झामि ॥ २ ॥

विविध- = भिन्न भिन्न
दैवत- = देवताओं के
सोपान- = सोपान के
क्रमम् = क्रम का
उल्लङ्घ्य = उल्लंघन कर के (तथा)
उपेय- = प्राप्त करने योग्य
शिव-चरणान् = शिव-चरणों का
आश्रित्य = सहारा ले कर
अपि = भी
(**अहम्** = मैं)
अद्यापि = अभी भी
अधर-तरां = अत्यन्त नीच
भूमिं = अवस्था को
न = नहीं
उज्झामि = त्यागता,
(**इति तु** = यह तो)
चित्रम् = बड़ा आश्चर्य है ॥ २ ॥

विविधानि—ब्रह्मविष्णुरुद्रेश्वरसदाशिवशिवादिरूपाणि दैवतान्येव[1] सोपानक्रमः । तमुल्लंघ्य—विश्रांतिपदीकृत्य, उपेयस्य—उपगन्तव्यस्य आत्मसमीपे प्राप्तव्यस्य शिवस्य, चरणान्—मरीचीन्, आ—समन्तात् श्रित्वा—समावेशयुक्त्या स्वीकृत्यापि, चित्रं यदद्यापि अधरतरां भूमिं—व्युत्थानपतितां मायीयदेहादिप्रमातृतां न त्यजामि । दैवतानां सोपान-क्रमेण अनुपादेयतां[2] भगवतस्तु चरणसमाश्रयेणोपादेयतमतां प्रकाशयन्ना-त्मनस्तत्समाश्रयेण श्लाघ्यतां ध्वनति ॥ २ ॥

प्रकटय निजमध्वानं
स्थगयतराम खिललोकचरितानि ।
यावद्भवामि भगवं-
स्तव सपदि सदोदितो दासः ॥ ३ ॥

---

१. ख० पु० दैवतान्यैव—इति पाठः ।
२. ख० पु० अनुपादेयता—इति पाठः ।

भगवन् = हे भगवान् !
यावत् = जब तक
(**अहं** = मैं)
तव = तुम्हारा
सदा- = सदैव
उदितः = (सेवा में) तत्पर
दासः = सेवक
सपदि=शीघ्र ही (अर्थात् शक्तिपात से)
भवामि = बन जाऊं,
(**तावत्** = तब तक ही)
निजम् = अपना
अध्वानं = (उत्तम) मार्ग
प्रकटय = प्रकट करें
(**च** = और)
अखिल- = सभी
लोक-चरितानि = लोक-व्यवहारों को
तराम् = पूर्ण रूप में
स्थगय = आच्छादित करें ॥ ३ ॥

निजमध्वानं—स्वं शाक्तं मार्गम्, अखिलस्य—लोक्यलोकयितृरूपस्य, लोकस्य—मेयमातृवर्गस्य सदाशिवान्तस्य चरितानि[1] स्थगयतरां—निःशेषेण नाशय[2]। यावत् तव सदोदितो दासो भवामि—त्वच्चरणसपर्यापरो नित्यसमाविष्टः स्फुरामि इति यावत् ॥ ३ ॥

शिव शिव शम्भो शङ्कर
शरणागतवत्सलाशु कुरु करुणाम् ।
तव चरणकमलयुगल-
स्मरणपरस्य हि सम्पदोऽदूरे ॥ ४ ॥

शिव शिव = हे कल्याण-स्वरूप शिव !
शम्भो = हे शांति-दायक !
शंकर = हे कल्याण-कारक
शरणागत- = हे शरणागतों के प्रति
वत्सल = कृपालु प्रभु !
आशु = (मुझ पर) शीघ्र ही
करुणां = दया
कुरु = कीजिए,
हि = क्योंकि
तव = आप के
चरण-कमल- = चरण-कमलों के
युगल- = जोड़े का
स्मरण- = ध्यान करने में
परस्य = लगे हुए
(**मे** = मुझ से)
सम्पदः = (मोक्ष रूपी) संपदाएं
अदूरे = दूर नहीं (रह सकतीं) ॥४॥

१. ख० पु० चरितानि—चेष्टितानि—इति पाठः ।
२. ख० पु० शमय—इति पाठः ।

तव चरणयुगलं—ज्ञानक्रियामयमरीचिद्वयम्[1]। सम्पदः—समावेशसारा परमानन्दमय्यः। अदूरे—निकटे ॥ ४ ॥

तावकाङ्घ्रिकमलासनलीना
ये यथारुचि जगद्रचयन्ति।
ते विरिञ्चिमधिकारमलेना-
लिप्तमस्ववशमीश हसन्ति ॥ ५ ॥

ईश = हे ईश्वर !
ये = जो (भक्त-जन)
तावक- = आपके
अङ्घ्रि- = चरण रूपी
कमल- = कमलों के
आसन- = आसन पर
लीनाः = (सुख से) बैठे हुए
यथारुचि = (अपनी) रुचि के अनुसार
जगत्- = जगत का
रचयन्ति = निर्माण करते हैं,
ते = वे
अधिकार- = अधिकार के
मलेन = विकार से
आ- = पूर्ण रूप में
लिप्तम् = लिप्त
(**अत एव** = और इसीलिए)
अस्ववशं = पराधीन बने हुए
विरिञ्चि = ब्रह्मा जी पर
हसन्ति = हंसते हैं ॥ ५ ॥

संकोचविकासपरत्वन्मरीचिविश्रान्ताः, तत एव आस्वादितस्वातन्त्र्याः, यथारुचि—करणेश्वरीप्रसरयुक्तत्या ये जगद्रचयन्ति ते विरिञ्चि—ब्रह्माणम् अधिकारमलेन आ—समन्तात् लिप्तमत एव नियतिपरतन्त्रत्वादस्ववशम्—अस्वतन्त्रम्। हे ईश—स्वतन्त्र। हसन्ति—कमलासनोऽपि तेषां हासास्पदमित्यर्थः ॥ ५ ॥

त्वत्प्रकाशवपुषो न विभिन्नं
किंचन प्रभवति प्रतिभातुम्।
तत्सदैव भगवन् परिलब्धो-
ऽसीश्वर प्रकृतितोऽपि विदूरः ॥ ६ ॥

---

१. ख० पु० ज्ञानक्रियामयं मरीचिद्वयम्—इति पाठः।
ग० पु० ज्ञानक्रियामरीचिद्वयमिति पाठः।

भगवन् = हे भगवान् !
(**यतः** = चूंकि)
त्वत्- = आप के
प्रकाशवपुषः = प्रकाश-स्वरूप से
विभिन्नं = भिन्न
किंचन = कुछ
(**अपि** = भी)
प्रतिभातुं = चमक
न प्रभवति = नहीं सकता,
तत् = इसलिए,
ईश्वर = हे स्वामी !
प्रकृतितः = स्वभाव से
विदूरः = दूर अर्थात् अप्राप्य
अपि = होते हुए भी
(**त्वं** = आप)
(**मया** = मुझे)
सदैव = सदा ही
परिलब्धः = प्राप्त
असि = हैं ॥ ६ ॥

हे ईश्वर असि त्वं प्रकृतितः विदूरोऽपि—स्वरूपगोपनादप्राप्योऽपि सदैव परिलब्धः अस्माभिरिति शेषः। यतः यत्किंचित्प्रतिभातुं प्रभवति—भासते, तत्[1]त्वत्तः प्रकाशवपुषश्चिद्रूपात् न भिन्नं प्रकाशमयस्यैव प्रकाशार्हत्वात्। यथोक्तम्

'यस्मात्सर्वमयो जीवः···।' स्पं० २ नि० श्लो० ३ ॥ इत्यादि।

'भोक्तैव भाग्यभावेन सदा सर्वत्र संस्थितः'। स्पन्द० २ नि० श्लो० ४ ॥ इत्यन्तम् ॥ ६ ॥

पादपङ्कजरसं तव केचिद्
भेदपर्युषितवृत्तिमुपेताः ।
केचनापि रसयन्ति तु सद्यो
भातम[2]क्षतवपुर्द्वयशून्यम् ॥ ७ ॥

प्रभो = हे ईश्वर !
केचित् = कुछ लोग
भेद- = (स्वरूप-अप्रथनात्मक) भेद रूपी
पर्युषित- = बासी (अर्थात् नीरस)
वृत्तिम् = वृत्ति से
उपेताः = युक्त होकर
तव = आप के
पाद-पंकज- = चरण-कमलों का
रसं = आनन्द-रस
रसयन्ति = चखते हैं,

१. ख० पु० तत् तत्त्वतः—इति पाठः।
२. ख० पु० अक्षयवपुः—इति पाठः।

(**किन्तु** = किन्तु)

केचनापि = कुछ बिरले (आप के भक्त तो)

सद्यः- = एकबारगी

भातम् = प्रकट बने हुए,

अक्षत- = निरन्तर प्रथित

वपुः = स्वरूप वाले

द्वय- = और भेद-भाव से

शून्यं = रहित आपके चरण-कमलों का आनन्द-रस

(**रसयन्ति** = चखते हैं अर्थात् लूटते हैं) ॥ ७ ॥

तव ज्ञानक्रियामरीचिद्वयमयचरणकमलरसं केचित्—द्वैतनिष्ठाः, भेदेन पर्युषिता—झगिति उपभोगानासादनेन शुष्कीकृतप्राया वृत्तिः—स्वरूपं यस्य तमुपेताः—प्राप्ताः, न तु सद्य आस्वादयन्ति। केचित्पुनः—परशक्तिपातपवित्रिताः सद्यो भातं—झगिति उपनतम् अक्षतवपुषं—नित्यस्फुरत्स्वरूपं द्वयशून्यं—चिदानन्दैकघनं रसयन्ति—चमत्कुर्वन्ति। केचिदिति अपकर्षं केचनापीति उत्कर्षं ध्वनति ॥ ७ ॥

नाथ विद्युदिव भाति विभाते
या कदाचन ममामृतदिग्धा ।
सा यदि स्थिरतरैव भवेत्तत्
पूजितोऽसि विधिवत्किमुतान्यत् ॥ ८ ॥

नाथ = (हे अभिलषणीय) प्रभु !

अमृत- = परमानन्द से

दिग्धा = सनी हुई

या = जो

ते = आप की

विभा = प्रभा

कदाचन = कभी (अर्थात् किसी समाधि-काल में)

मम = मुझे

विद्युदिव = बिजली की भांति (क्षण मात्र के लिए)

भाति = प्रकाशित होती है,

सा = वह (आप की झलक)

यदि = यदि

स्थिरतरा एव = और अधिक स्थिर

भवेत् = बन जाती,

तत् = तो फिर

(**त्वं** = आप-मुझ से)

विधिवत् = विधिपूर्वक

पूजितः = पूजित

असि = होते ।

किम्-उत-अन्यत् = इससे बढ़कर और भला क्या (मेरे लिए वाञ्छनीय होता) ॥ ८ ॥

हे नाथ ! तव विभा—परः शाक्तः स्पन्दः । अमृतदिग्धा—परमानन्दोपचिता । विद्युदिव—क्षणमात्रं या कदाचिन्ममावभाति—समावेशेन[1] स्फुरति, सा यदि बलवद्व्युत्थानमपहस्त्य[2] नित्योदिता स्यात्, तद्विधिवत्—यथातत्त्वं पूजितोऽसि । किमुतान्यत् परिसमाप्तं करणीयं कृतकृत्यता च जायते इत्यर्थः ॥ ८ ॥

सर्वमस्यपरमस्ति न किंचिद्
वस्त्ववस्तु यदि वेति महत्या ।
प्रज्ञया व्यवसितोऽत्र यथैव
त्वं तथैव भव सुप्रकटो मे ॥ ९ ॥

(**प्रभो** = हे स्वामी !)
वस्तु = सत् पदार्थ
यदि वा = अथवा
अवस्तु = असत् पदार्थ,
सर्वम् = सब कुछ
असि = आप ही हैं,
अपरं = (आप के बिना) और
किञ्चित् = कुछ भी
न अस्ति = नहीं है,
इति = इस प्रकार
महत्या = बड़ी
प्रज्ञया = बुद्धि से
यथा एव = जैसे ही
अत्र = इस जगत में
(**मया** = मैंने)
त्वं = आप के स्वरूप का
व्यवसितः = निश्चय किया है,
तथा एव = वैसे ही
(**त्वं** = आप)
मे = मुझे
सुप्रकटः = अच्छी तरह प्रकट
भव = हो जायें ॥ ९ ॥

असि त्वं सर्वम् । अपरं वस्तु यदि वावस्तु न किंचिदस्ति, सर्वस्य चिद्घनत्वात् प्रकाशमयत्वेन प्रकाशनात् । इत्येवं शुद्धविद्यामय्या यथैव महत्या प्रज्ञया अत्र—जगति त्वं निश्चितस्तथैव मे सुष्ठु—व्युत्थानेऽपि समावेशवशात् प्रकटो भव ॥ ९ ॥

---

१. ख० पु० समावेशे स्फुरति—इति पाठः ।

२. ख० पु० अपहस्तय्य—इति पाठः ।

स्वेच्छयैव भगवन्निजमार्गे
कारितः पदमहं प्रभुणैव ।
तत्कथं जनवदेव चरामि
त्वत्पदोचितमवैमि न किंचित् ॥ १० ॥

भगवन् = हे भगवान् !
(**भवता** = आप)
प्रभुणा = प्रभु ने
एव = ही
स्वेच्छया एव = अपनी ही इच्छा से (अर्थात् निरपेक्ष अनुग्रह-शक्ति से)
अहं = मुझे
निजमार्गे = अपने (ज्ञान के) मार्ग पर
पदं = पैर
कारितः = रखवाया है,
तत् = तो
कथं = क्या बात है कि (मैं)
जन-वदेव = सांसारिक लोगों की भाँति ही
चरामि = व्यवहार करता हूँ
त्वत्- = और आप की
पद- = पदवी के
उचितं = योग्य (अर्थात् आपकी पदवी पर पहुँच कर जानने योग्य)
किंचित्-न = कुछ भी नहीं
अवैमि = जानता हूँ ॥ १० ॥

हे भगवन् ! अहं प्रभुणैव—न तु अन्येन केनचित् । स्वेच्छयैव—निरपेक्षशक्तिपातयुक्त्या, निजमार्गे—विकस्वरस्वशक्तिवर्त्मनि, पदं कारितः—विश्रान्तिं लम्भितः । तत्कथं जनवदेव—लोकवदेव चरामि—व्युत्थाने व्यवहरामि । त्वत्पदोचितं—त्वन्मरीचिपरिचयसमुचितं समावेशवशान्न किंचिदवगच्छामि ॥ १० ॥

कोऽपि देव हृदि तेषु तावको
जृम्भते सुभगभाव उत्तमः ।
त्वत्कथाम्बुदनिनादचातका
येन तेऽपि सुभगीकृताश्चिरम् ॥ ११ ॥

देव = हे देवता !
तावकः = आपके स्वरूप की
कोऽपि = एक अलौकिक
उत्तमः = और उत्कृष्ट
सुभग-भावः = आनन्द-दशा
तेषु = उन (भक्तों) के

हृदि = हृदय में
जृम्भते = विकसित होती है,
येन = जिससे
ते = वे
त्वत्- = आप की
कथा- = कथा रूपी
अम्बुद- = मेघों की
निनाद- = गड़गड़ाहट (को चाहने वाले)
चातकाः = (आपके भक्त रूपी) चातक
अपि = भी
चिरं = चिर काल तक
सुभगीकृताः = (स्वरूप-समावेश के) आनन्द में लीन
(भवन्ति = हो जाते हैं) ॥ ११ ॥

हे देव ! तेषु—केषुचित्प्रागुक्तभक्तिमत्सु हृदि तावकः उत्तमः—उत्कृष्टः सुभगभावः कोऽपि उच्छलदानन्दरसोल्बणत्वं किमपि[1] जृम्भते, येन तेऽपीति—समावेशे[2] सम्भिन्नहृदया अपि, अत एव त्वत्कथैव अम्बुद-निनादः, तत्र चातका इव—समावेशशालिप्रतन्यमानशिवकथाकर्णन[3]-प्रहृष्टहृदया अपि चिरं सुभगीकृताः—समावेशभूमिं लम्भिताः । यत्कथा-मात्रेण समावेशोऽवतरतीत्यर्थः ॥ ११ ॥

त्वज्जुषां त्वयि कयापि लीलया
राग एष परिपोषमागतः ।
यद्वियोगभुवि सङ्कथा तथा
संस्मृतिः फलति संगमोत्सवम् ॥ १२ ॥

(स्वामिन् = हे स्वामी !)
त्वज्जुषां = आप के भक्तों का
त्वयि = आप के प्रति
एषः = यह (असामान्य)
रागः = अनुराग
कयापि = (आप की) अलौकिक
लीलया = अनुग्रह-लीला से
परिपोषम्- = (इतना) बढ़
आगतः = जाता है
यत् = कि
(तेषां = उन भक्त-जनों के)
वियोग- = वियोग (अर्थात् व्युत्थान) की
भुवि = दशा में भी
तथा = वह (आप के स्वरूप की)
संकथा = चर्चा (और)
संस्मृतिः = स्मृति

१. ख० पु० किमप्युज्जृम्भते—इति पाठः ।
२. ख० पु० समावेशसंभिन्नहृदया—इति पाठः ।
३. ख० पु० कथाचर्णनप्रहृष्टहृदया—इति पाठः ।

(त्वत्- = आप के)
संगम- = स्वरूप-समागम के
उत्सवं = उत्सव को
फलति = उत्पन्न करती है ॥ १२ ॥

कयापीति—अनुत्तरसमावेशशालिन्या लीलया त्वज्जुषां—त्वां प्रीत्या सेवमानानाम् । एष इति—असामान्यो रागः परिपोषं प्राप्तः । यद्वियोग[1]-भुवि—व्युत्थाने । संकथा संस्मृतिश्च कर्त्री संगमोत्सवं—संभोगदशां फलति । वियोगभुवि संगमोत्सवम्—इत्युक्त्या अलौकिकत्वमनुरागस्य ध्वनति ॥ १२ ॥

यो[2] विचित्ररससेकवर्धितः
शङ्करेति शतशोऽप्युदीरितः ।
शब्द आविशति तिर्यगाशये-
ष्वप्ययं नवनवप्रयोजनः ॥ १३ ॥

ते जयन्ति मुखमण्डले भ्रमन्
अस्ति येषु नियतं शिवध्वनिः ।
यः शशीव प्रसृतो[3]ऽमृताशयात्
स्वादु संस्रवति चामृतं परम् ॥ १४ ॥

[युगलकम्]

विचित्र- = (स्वरूप समावेश के) अनूठे
रस- = आनन्द-रस के
सेक- = सींचने से
वर्धितः = वृद्धि को प्राप्त हुआ
शतशः अपि = और सैकड़ों बार
उदीरितः = उच्चारण में आया हुआ
यः = जो
अयम् = यह
शङ्कर-इति = 'शिव'
शब्दः = शब्द
तिर्यग्- = पशुओं के समान (मूर्ख लोगों के)
आशयेषु = हृदयों में
अपि = भी
नव-नव- = अपूर्व (चमत्कार के)

१. ख० पु० त्वद्वियोगभुवि—इति पाठः ।
२. ख० पु० यैर्विचित्ररस—इति पाठः ।
३. ख० पु० विसृतोऽमृताशयात्—इति पाठः ।

प्रयोजनः = प्रयोजन से युक्त
(**सन्** = होकर)
आविशति = प्रस्फुरित होता है ।
यः च = और जो (यह 'शिव' शब्द)
शशी इव = चन्द्रमा की नाईं
अमृताशयात् = अमृतमय कला से
प्रसृतः = प्रसारित होता हुआ
स्वादु- = मधुर
च = और
परममृतं = उत्कृष्ट अमृत
संस्रवति = खूब बहाता है,
(**सः**) = वही (अचिन्त्य महिमा से युक्त)
शिव-ध्वनिः = शिव-ध्वनि
येषु = जिन (भक्तों) के
मुखमण्डले = मुख-मण्डल में
नियतं = निश्चित रूप में
भ्रमन्- = घूमती
अस्ति = रहती है,
ते = वे
(**एव** = ही)
जयन्ति = धन्य हैं ॥ १३।१४ ॥

यो[1] विचित्रेति ते जयन्तीति युगलकम् । ते जयन्ति येषु मुखमण्डले नियतं—निश्चितं कृत्वा भ्रमन् शिवध्वनिरस्ति । यः स्वादु परं चामृतं सम्यक् स्रवति—आनन्दरसं समुच्छलयति । कीदृक् ? अमृताशयात् साक्षात्कृतचिद्घनपरमेश्वर[2]स्वरूपात् प्रसृतः—स्वरसेनोच्चारितः, यथा अमृताशयात् शशी—चन्द्रमाः प्रसृतः मण्डले स्फुरन्[3], परं स्वाद्वमृतं स्रवति । य[4]श्चैव विचित्रेण समावेशरससेकेन वर्धितः[5], अत एव शतशोऽप्युदीरितः शङ्करेत्ययं शब्दः, तिर्यगाशयेषु—पशुहृदयेष्वपि, नवनवप्रयोजनः—प्रतिक्षणं तत्तदपूर्वचमत्कारकारी, आविशति—परिस्फुरति ॥

परिसमाप्तमिवोग्रमिदं जगद्
विगलितोऽविरलो मनसो मलः ।
तदपि नास्ति भवत्पुरगोपुरा-
र्गलकवाटविघट्टनमण्वपि ॥ १५ ॥

---

१. ख० पु० यो विचित्रेत्यादि युगलकमित्यन्तं पदकदम्भकं नास्ति ।
२. ख० पु० परमेश्वररूपात्—इति पाठः ।
३. ख० पु० स्फुरत्—इति पाठः ।
४. ख० पु० यच्चैव—इति पाठः ।
५. ख० पु० वर्धितोऽपि—इति पाठः ।

(**प्रभो** = हे प्रभु !)
इदम् = यह
उग्रं = भयंकर
जगत् = जगत
परिसमाप्तम् इव = समाप्त होने को है,
(**च** = और)
मनसः = (मेरे) मन का
अविरलः = बहुत बड़ा
मलः = मल (विकार)
विगलितः = नष्ट हुआ है,
तदपि = तो भी
भवत्- = आप की
पुर- = आनन्द-पुरी के
गोपुर- = फाटक के
अर्गल- = अर्गला-युक्त
कवाट- = किवाड़
अणु अपि = ज़रा भी
नास्ति = नहीं खुलते ॥ १५ ॥

प्र[1]स्फुरत्प्रत्यभसमावेशसंस्कारस्य व्युत्थानभूमिमवतितीर्षोरियमुक्तिः । उग्रं—भेदमयत्वाद्भीषणम् । जगत्—विश्वं, परिसमाप्तमिव । समाविष्टस्य हि न बाह्यं विश्वं विभाति, अथ च संस्कारशेषतया आस्ते इति इव शब्दः । मनसश्च अविरलो—घनः मलः—अविद्याकलात्मा विगलितः । तथापि निःशेषशान्ताशेषविश्वमयप्रफुल्लमहाविद्योद्यज्जगदानन्दमयस्य पूरकत्वात्पुररूपस्य यद्गोपुरं–पुरद्वारं[2]; परमशक्तिरूपं, तत्र अर्गलयुक्त-कवाटविघट्टनम्—अतिदृढाख्यातिपुटविपाटनं मम मनागपि नास्ति । अनेन प्रविगलितनिःशेषदेहादिसंस्कारां परां भूमिमेवोपादेयत्वेन ध्वनति । यदुक्तं

'सर्वथा त्वन्तरालीनानन्ततत्त्वौघनिर्भरः ।
शिवः चिदानन्दघनः परमाक्षरविग्रहः ॥'

प्र० ४ अ०, १ आ० १४ का० ॥

इत्यादि श्रीप्रत्यभिज्ञायाम् ।
'सर्वातीतः शिवो ज्ञेयो यं विदित्वा विमुच्यते' ।
इति श्रीपूर्वशास्त्रे ॥ १५ ॥

सततफुल्लभवन्मुखपङ्कजो-
दरविलोकनलालसचेतसः ।

---

१. ख० पु० स्फुरत्–इति पाठः ।
२. गोपुरं–द्वारमिति ख० पु० पाठः ।

किमपि तत्कुरु नाथ मनागिव
स्फुरसि येन ममाभिमुखस्थितिः ॥ १६ ॥

नाथ = हे स्वामी !
सतत- = सदा
फुल्ल- = खिले हुए
भवत्- = आप के
मुखपङ्कज- = मुख-कमल के
उदर- = मध्य-भाग को
विलोकन- = देखने के लिए
लालस- लालायित बने हुए
चेतसः = मन वाले
मम = मुझ पर
मनाक् इव = ज़रा सा
तत् = वह
किमपि = अलौकिक (अनुग्रह)
कुरु = कीजिए
येन = जिससे कि
अभिमुख- = (मेरे) सामने
स्थितिः सन् = ठहरे हुए रूप में
स्फुरसि = आप प्रकट हो जायें ॥१६॥

सततं फुल्लं—नित्यं विकसितं यत् त्वन्मुखकमलम्[1]

'शक्त्यवस्था प्रविष्टस्य निर्विभागेन भावना ।
तदासौ शिवरूपी स्यात् शैवीमुखमिहोच्यते ॥' वि० भै० श्लो० २० ॥

इति स्थित्या त्वत्पराशक्तिरूपं यत्पद्मं[2], तस्य यदुदरं—मध्यं, परं तावकं परशक्तिसामरस्यमयं शाम्भवं रूपं, तस्य विलोकनं-समावेशः, तत्र लालसं—सातिशयाभिलाषं चेतो यस्य, तस्य मे, किमपि तत्—असंभाव्यमुपायप्रदर्शनं, मनागिव—हेलामात्रेण कुरु, येन ममाभिमुख-स्थितिः सन् स्फुरसि ॥ १६ ॥

त्वदविभेदमतेरपरं नु किं
सुखमिहास्ति विभूतिरथापरा ।
तदिह तावकदासजनस्य किं
कुपथमेति मनः परिहृत्य ताम् ॥ १७ ॥

१. ख० पु० त्वन्मुखकमलम्—इत्यनन्तरं 'शैवीमुखमिहोच्यते'—इत्येव पाठः ।
२. ख० पु० पद्मम्—इति पाठः २. ग० पु० त्वत्पराशक्तिपद्मम्—इति च पाठः ।

(**ईश** = हे प्रभु !)
इह = इस संसार में
त्वद्- = आप की
अविभेदमतेः = अभेद-बुद्धि को छोड़कर
किं नु = भला कौन सा
अपरं = दूसरा
सुखम् = सुख
अस्ति = (हो सकता) है
अथ = और
अपरा = (कौन सी) दूसरी
विभूतिः = संपदा (हो सकती) है ।
तत् = तो (फिर ऐसा होते हुए भी)
तावक- = आप के
दास-जनस्य = दास का
मनः = मन
तां = उस (अद्वयानन्दरूपा बुद्धि) को
परिहृत्य = त्याग कर
किं = क्यों
कुपथम् = (व्युत्थानरूपी) कुत्सित मार्ग को ही
एति = ग्रहण करने लगता है ॥ १७ ॥

समावेशस्फुरितायास्त्वदद्वयसंविदः अपरं सुखं—विभूत्यादि च न किंचिदस्ति;—तस्या एव सर्वातिशायित्वात् । ततः किमिति तावकदासजनस्य तां—त्वदविभेदसंविदं परिहृत्य, मनः कुपथमेति—व्युत्थानभूमिमेवाधावति[1] ॥ १७ ॥

क्षणमपीह न तावकदासतां
प्रति भवेयमहं किल भाजनम् ।
भवदभेदरसासवमादरा-
दविरतं रसयेयमहं न चेत् ॥ १८ ॥

(**प्रभो** = हे स्वामी !)
चेत् = यदि
अहं = मैं
आदरात् = बड़े आदर से
(**च** = और)
अविरतं = लगातार
भवद्- = आप के
अभेद-रस- = अद्वयानन्द-रस रूपी
आसवम् = मदिरा का
न रसयेयम् = स्वाद न लेता रहूं,
(**तर्हि** = तो फिर)
अहं = मैं
इह = यहां
तावक- = आप के

---

१. ख० पु० धावति—इति पाठः ।

दासतां प्रति = दासभाव का
भाजनं = पात्र
क्षणमपि = क्षण भर के लिए भी
किल = कदापि
न भवेयम् = न बन जाऊं ॥ १८ ॥

यदि भवदद्वयानन्दरसासवम् अहमविरतं नास्वादयेयं, तत्तव दासतां प्रति क्षणमपि भाजनं न भवेयम्;—आनन्दघनत्वत्स्वरूपापरिचितत्वात् ॥ १८ ॥

न किल पश्यति सत्यमयं जन-
स्तव वपुर्द्वयदृष्टिमलीमसः ।
तदपि सर्वविदाश्रितवत्सलः
किमिदमारटितं न शृणोषि मे ॥ १९ ॥

(**प्रभो** = हे ईश्वर !)
सत्यं = सचमुच
द्वयदृष्टि- = भेद-दृष्टि से
मलीमसः = मलिन बना हुआ
अयं = यह
जनः = जीव
किल = निश्चित रूप में
तव = आप के
वपुः = चिदात्मा-स्वरूप को
न पश्यति = नहीं देख पाता है,
तदपि = पर तो भी
(**त्वं** = आप)
सर्ववित् = सर्वज्ञ और
आश्रित- = भक्तों के प्रति
वत्सलः = अनुकूल
(**सन्** = होते हुए)
इदं मे = इस मेरी
आरटितं = पुकार को
किं न = क्यों नहीं
शृणोषि = सुनते ॥ १९ ॥

अयं तावज्जनः भेददृष्टिमलीमसत्वात् तव सत्यं चिद्घनं वपुः न पश्यति । तथापि त्वं सर्ववित्—सर्वज्ञः । आश्रितवत्सलः—भक्तानुकूलः । अत एव स्वयमेवोचितस्वात्मदर्शनदानेऽपि मे किमिति, आरटितम्—आक्रन्दितं न शृणोषि । दर्शनं तावत् झगिति, मम आरटितं—भक्तिविवशचित्तस्य आक्रन्दितमात्रं तु शृणु—इति प्रार्थयते ॥

स्मरसि नाथ कदाचिदपीहितं
विषयसौख्यमथापि मयार्थितम् ।

सततमेव भवद्वपुरीक्षणा-
मृतमभीष्टमलं मम देहि तत् ॥ २० ॥

नाथ = हे स्वामी !
किं त्वं = क्या आप को
स्मरसि = याद है
(**यत्** = कि)
मया = मैंने
कदाचित् = कभी
अपि = भी
विषय-सौख्यम् = विषय-सुख की
ईहितम् = चेष्टा की है
अथापि तत् = अथवा (वह विषय-सुख)
अर्थितं = मांगा है ?

(सच तो यह है कि)
मम (**तु**) = मुझे तो
(**केवलं** = केवल)
भवद्वपुः- = आप के स्वरूप का
ईक्षण- = साक्षात्कार रूपी
अमृतम् = अमृत
एव = ही
सततम् = सदैव
अलम् = अत्यन्त
अभीष्टम् = प्रिय है
तत् (**एव**) = वही
(**मह्यं**) **देहि** = मुझे दीजिए ॥ २० ॥

ईहितं—चेष्टितं[1] प्रयत्नेनार्जितं, अथाप्यर्थितं—काङ्क्षितं कदाचिदपि मया विषयसौख्यमिति नाथ स्मरसीति निर्यन्त्रणोक्त्या गाढप्रभुपरिचयं ध्वनति । केवलं मम सदैव भवद्वपुरीक्षणामृतं—त्वत्स्वरूपप्रकाशनरसायनम् अलमभीष्टम । तदेव च देहि—प्रयच्छ ॥ २० ॥

किल यदैव शिवाध्वनि तावके
कृतपदोऽस्मि महेश तवेच्छया ।
शुभशतान्युदितानि तदैव मे
किमपरं मृगये भवतः प्रभो ॥ २१ ॥

महेश = हे परमेश्वर !
किल = सचमुच
यदा एव = ज्यों ही
(**अहं** = मैंने)

तव = आप की
इच्छया = इच्छा से
तावके = आप के
शिव- = कल्याण-मय

---

१. च० पु० 'चेष्टितम्' इति न दृश्यते ।

अध्वनि = मार्ग पर	(**इत्यतः** = इस लिए)
कृतपदः अस्मि = पदार्पण किया,	**प्रभो** = हे प्रभु !
तदा एव = त्यों ही	(**अहं** = मैं)
मे = मेरे	**भवतः** = आप से
शुभ-शतानि = सैकड़ों (प्रकार के) कल्याण का	**अपरं** = और
	किं = क्या
उदितानि = उदय हुआ ।	**मृगये** = मांगूं ? ॥ २१ ॥

शिवाध्वनि—श्रेयःशतशालिनि परे[1] शाक्ते मार्गे, कृतपदः—प्राप्तविश्रान्तिः ॥ २१ ॥

यत्र सोऽस्तमयमेति विवस्वाँ-
श्चन्द्रमःप्रभृतिभिः सह सर्वैः ।
कापि सा विजयते शिवरात्रिः
स्वप्रभाप्रसरभास्वररूपा ॥ २२ ॥

यत्र = जिस (अवस्था) में	**एति** = हो जाता है,
सः = वह	**सा** = वह
विवस्वान् = (प्राण रूपी) सूर्य भगवान्	**स्व-प्रभा-** = अपनी (चिद्रूपिणी) कांति के
चन्द्रमः- = (अपान रूपी) चन्द्रमा	**प्रसर-** = प्रसर से
प्रभृतिभिः = आदि	**भास्वररूपा** = देदीप्यमान् रूप वाली
सर्वैः = सभी (विकल्प रूपी तारागणों)	**कापि** = अलौकिक
सह = सहित	**शिवरात्रिः** = शिव-रात्रि
अस्तमयम् = अस्त	**विजयते** = धन्य है ॥ २२ ॥

सा कापि—लोकोत्तरा, शिवरात्रिः—शिवसमावेशभूमिः, समस्त[2]-मायीयप्रथायाः संहरणाद्रात्रिरिव रात्रिः । कीदृशी ? स्वप्रभाप्रसरेण—चित्प्रकाशजृम्भणेन भासनशीलं रूपं यस्यास्तादृशी । स इति—अशेष-

१. ख० पु० परमे शाक्ते मार्गे—इति पाठः ।

२. ख० पु० समस्तमायीयप्रथासंहरणात्—इति पाठः ।

प्रपञ्चप्रथमाङ्कुरः विवस्वान्—प्राणः। चन्द्रमः-प्रभृतिभिः—अपानादिभिः सह अस्तमयमेति[1]—प्रशाम्यति। यदि वा विवस्वान्—प्रमाण-प्रकाशः। चन्द्रमः-प्रभृतयः—प्रमेयादयः ॥ २२ ॥

अप्युपार्जितमहं त्रिषु लोके-
ष्वाधिपत्यममरेश्वर मन्ये ।
नीरसं तदखिलं भवदङ्घ्रि-
स्पर्शनामृतरसेन विहीनम् ॥ २३ ॥

अमरेश्वर = हे देवेश्वर !
अहं = मैं
भवत्- = आप के
अङ्घ्रि- = चरणों के
स्पर्शन- = स्पर्श रूपी
अमृतरसेन = अमृत-रस के
विहीनं = बिना
उपार्जितं = प्राप्त किए गए
त्रिषु = तीनों
लोकेषु = लोकों के
तत् = उस
अखिलम् = संपूर्ण
आधिपत्यम् = स्वामित्व को
अपि = भी
नीरसं = रसहीन अर्थात् तुच्छ
मन्ये = समझता हूँ ॥ २३ ॥

त्रैलोक्यराज्यमपि त्वन्मरीचिसंस्पर्शरसं विना विरसं मन्ये ॥ २३ ॥

बत नाथ दृढोऽयमात्मबन्धो
भवदख्यातिमयस्त्वयैव क्लृप्तः ।
यदयं प्रथमानमेव मे त्वा-
मवधीर्य श्लथते न लेशतोऽपि ॥ २४ ॥

नाथ = हे स्वामी !
बत = अहो !
त्वया = आप से
एव = ही
क्लृप्तः = बनाई गई (और)
भवत्- = आपके (स्वरूप को)
अख्यातिमयः = छुपा रखने वाली
अयम् = यह
आत्म- = मानसिक

1. ख० पु० अस्तमेति—इति पाठः ।

बन्धः = गांठ
दृढः = (ऐसी) मज़बूत
(**अस्ति** = है)
यद्- = कि
अयं = यह
प्रथमानम् एव = भासमान होने वाले
त्वाम् = आप की
अवधीर्य = उपेक्षा (या अवहेलना) करके
लेशतः = ज़रा सी
अपि = भी
न श्लथते = ढीली नहीं होती ॥ २४ ॥

आश्चर्यम् अयमात्मबन्धो—देहादिषु प्रमातृताभिमानः त्वदप्रथारूपः। त्वयैव—अतिदुर्घटकारिणा दृढः क्लृप्तः। न त्वत्र अन्यस्य शक्तिः। यस्मान्मम[1] त्वां[2] प्रथमानमेव—समावेशे भान्तमेव अवधीर्य—न्यग्भाव्य लेशतोऽपि न श्लथते—व्युत्थाने[3] प्राधान्यमेवावलम्बते इत्यर्थः ॥ २४ ॥

महताममरेश पूज्यमानो-
ऽप्यनिशं तिष्ठसि पूजकैकरूपः।
बहिरन्तरपीह दृश्यमानः
स्फुरसि द्रष्टृशरीर एव शश्वत् ॥ २५ ॥

अमरेश = हे देवताओं के स्वामी !
(**त्वं** = आप)
अनिशं = निरन्तर
पूज्यमानः = पूजे जाते हुए
अपि = भी
महतां = महापुरुषों अर्थात् भक्त जनों के लिये
पूजक-एक-रूपः = केवल पूजक के रूप में ही
तिष्ठसि = (प्रकाशित) होते हैं।
(**च** = और)
इह = इस जगत में
अन्तः- = भीतर तथा
बहिः = बाहर से
दृश्यमानः = दिखाई देते हुए
अपि = भी
शश्वत् = सदैव
द्रष्टृ-शरीरः = द्रष्टा अर्थात् देखने वाले के रूप में
एव = ही
स्फुरसि = प्रकट होते हैं ॥ २५ ॥

---

१. च० पु० 'मम' न दृश्यते।
२. ख० पु० त्वामेव प्रथमानम्—इति पाठः।
३. ख० पु० व्युत्थानप्राधान्यमेव—इति पाठः।

बहिर्[1]न्तः—पूजा[2]द्यवसरे। आपा[3]ते भेदेनैव प्रकाशमानत्वात् पूज्यमानो दृश्यमानश्च, त्वममरेश—देवेश, महतां—भक्तिमतां पूजकैकरूपो द्रष्टृशरीरश्च, समावेशसामरस्याद्बोधमयप्रमात्रेकरूपस्तिष्ठसि—स्फुरसि चेति शिवम् ॥ २५ ॥

इति श्रीमदुत्पलदेवाचार्यविरचितस्तोत्रावलौ सुरसोद्बलनामके
चतुर्थे स्तोत्रे श्रीक्षेमराजाचार्यकृता विवृतिः ॥ ४ ॥



१. ख० पु० बहिरन्तश्च—इति पाठः।

२. ख० पु० पूजाद्यवसरेषु—इति पाठः।

३. ख० पु० आपातभेदेनैव—इति पाठः।

ॐ तत् सत्

अथ

स्वबलनिदेशनाख्यं पञ्चमं स्तोत्रम्

त्वत्पादपद्मसम्पर्कमात्रसम्भोगसङ्गिनम् ।
गलेपादिकया नाथ मां स्ववेश्म प्रवेशय ॥ १ ॥

नाथ = हे स्वामी !
त्वत्- = तुम्हारे
पाद-पद्म- = चरण-कमलों के
संपर्क-मात्र- = केवल स्पर्श रूपी
सम्भोग- = आस्वाद में
संगिनं = आसक्त बने हुए
मां = मुझे
गलेपादिकया = हठशक्तिपातके क्रमसे
स्व-वेश्म = अपने (चित् रूपी) घर में
प्रवेशय = प्रवेश कराइये ॥ १ ॥

पादाः—मरीचयः । सम्पर्कमात्रसम्भोगः—समावेशास्वादः । गले[1]-पादिका—हठशक्तिपातक्रमः । स्ववेश्म—चित्स्वरूपमौचित्यात् ॥ १ ॥

भवत्पादाम्बुजरजोराजिरञ्जितमूर्धजः ।
अपाररभसारब्धनर्तनः स्यामहं कदा[2] ॥ २ ॥

(प्रभो = हे ईश्वर !)
अहं = मैं
भवत्- = आपके
पाद-अम्बुज- = चरण-कमलों की
रजः- = धूलि के
राजि- = पुञ्ज से
रञ्जित- = रंगे हुए
मूर्धजः = केशों वाला
(एवं फलतः = और फलस्वरूप)
अपार- = असीम
रभसा- = हर्ष से
आरब्ध- = आरम्भ किए
नर्तनः = नृत्यवाला
कदा = भला कब
स्याम् = बनूं ॥ २ ॥

---

१. ख० पु० गलेपादिकया—इति पाठः ।

२. ग० पु० सदा—इति पाठः ।

भवदीयेन पादाम्बुजरजसा अनुग्रहप्रवृत्तपरशक्तिकमलपरागेण, रञ्जितमूर्धजः—अधिवासितान्तः[1]प्रसरः तदूर्ध्वमध्यशक्त्यङ्कुरः। तत एव प्रहर्षवशादपारम्—अपर्यन्तं, रभसारब्धं—झगिति प्रवर्तितं, नर्तनं—गात्रविक्षेपो[2] मायाप्रमातृताविधूननं येन। नित्यसमावेशविकस्वरतामाशास्ते ॥ २ ॥

त्वदेकनाथो भगवन्नियदेवार्थये सदा।
त्वदन्तर्वसतिर्मूको भवेयं मान्यथा बुधः ॥ ३ ॥

भगवन् = हे भगवान्!
त्वद्- = आप ही
एक- = एक
नाथः = स्वामी हैं जिसके,
(**अहं** = ऐसा मैं)
इयत् = (केवल) इतना
एव = ही
सदा = सदैव
अर्थये = मांगता हूं कि
त्वद्-अन्तर्- = आप के स्वरूप में
वसतिः = वास करता हुआ मैं
मूकः = गूंगा
(**एव** = ही)
भवेयम् = बना रहूँ,
(**किन्तु** = पर)
अन्यथा = अन्यथा (अर्थात् आप के स्वरूप से विमुख होकर)
बुधः (अपि) = ज्ञानवान् भी
मा (भवेयम्) = न बनूं ॥ ३ ॥

इयदेव—ना[3]परमर्थये। यस्त्वमेवैको नाथो—नाथ्यमानः समभिलषणीयो यस्य सः। त्वदन्तर्वसतिः—चिद्घ[4]नत्वत्स्वरूपसमाविष्टो मूकोऽपि स्याम्। अन्यथा बु[5]धः—विद्वानपि माभूवम् ॥ ३ ॥

अहो सुधानिधे स्वामिन् अहो मृष्ट त्रिलोचन।
अहो स्वादो विरूपाक्षेत्येव नृत्येयमारटन् ॥ ४ ॥

१. ख० पु० अधिवासितान्तःप्रसरदूर्ध्वाष्टशक्त्यङ्कुरः—इति पाठः।
२. ख० पु० गात्रविक्षेपम्—इति पाठः।
३. ख० पु० नान्यदर्थये—इति पाठः।
४. ख० पु० चिद्घनत्वात्स्वरूपसमाविष्टः—इति पाठः।
५. ग० पु० बुधोऽपि-विद्वानपि—इति पाठः।

स्वामिन् = हे ईश्वर !
अहो सुधानिधे = हे आनन्द-सागर !
अहो मृष्ट ! = हे चमत्कार-स्वरूप प्रभु !
त्रिलोचन = हे त्रिनेत्रधारी !
अहो स्वादो = हे मधुर स्वरूप वाले !
विरूपाक्ष = हे डरावनी आंखों वाले !
इत्येव = इसी प्रकार
आरटन् = (करुण स्वर में) पुकारता हुआ
(**अहं** = मैं)
नृत्येयम् = नाचता रहूं ॥ ४ ॥

प्राग्वन्नित्यसमाविष्टतामाशास्ते । सुधानिधे—आनन्दाब्धे । मृष्ट—चमत्कारपदपतित । स्वादो—अविच्छिन्नमाधुर्य[1] । नृत्येयमिति प्राग्वत् । आरटन्—स्फुटं परामृशन् ॥ ४ ॥

त्वत्पादपद्मसंस्पर्शपरिमीलितलोचनः ।
विजृम्भेय भवद्भक्तिमदिरामदघूर्णितः ॥ ५ ॥

(**प्रभो** = हे प्रभु !)
(**अहं** = मैं)
त्वत्- = आप के
पाद-पद्म- = चरण-कमलों के
संस्पर्श- = स्पर्श से
परिमीलित- = अन्तर्मुख बने हुए
लोचनः = नेत्रों (अर्थात् अन्तःकरण) वाला
(**तथा** = तथा)
भवत्- = आपकी
भक्ति- = भक्ति रूपिणी
मदिरा- = मदिरा की
मद- = मस्ती से
घूर्णितः = मतवाला
(**सन्** = होकर)
विजृम्भेय = नाचता रहूं ॥ ५ ॥

त्वच्छक्त्यानन्देन अन्तर्मुखीकृतकरणः । विजृम्भेय—चित्स्वरूपोन्मज्जनाद्गात्रं विनमयेय चिद्गुणीभावं नयेयम् । कीदृक् ? भवति साक्षात्कृते, या भक्तिः—आसेवा, सैव मदिरामदः—कादम्बरीचमत्कारः, तेन घूर्णितः—*महाव्याप्तिं लम्भितः ॥ ५ ॥

---

१. ग० पु० अच्छिन्नमाधुर्य—इति पाठः ।

* तदुक्तं श्रीतन्त्रालोके—

'ततः सत्यपदे रूढो विश्वात्मत्वेन संविदम् ।
संविदन् घूर्णते घूर्णिमहाव्याप्तिर्यतः स्मृता ॥' इति ।

चित्तभूभृद्भुवि विभो वसेयं क्वापि यत्र सा ।
निरन्तरत्वत्प्रलापमयी[1] वृत्तिर्महारसा ॥ ६ ॥

विभो = हे व्यापक प्रभु !
(**अहं** = मैं)
चित्त- = चित्त रूपी
भूभृत्- = पर्वत की
भुवि = भूमि अर्थात् तराई पर
क्वापि = कहीं अर्थात् किसी (ऐसे एकान्त) स्थान पर
वसेयं = निवास करूं,
यत्र = जहां
निरन्तर- = लगातार
त्वत्- = आप के स्वरूप में
प्रलापमयी = परामर्श करने वाली
सा = वह (अलौकिक)
महारसा = परमानन्द-रस-पूर्ण
वृत्तिः = स्वरूप-स्थिति
(**प्राप्यते** = प्राप्त होती है) ॥ ६ ॥

चित्तमेव अनुल्लङ्घ्यत्ववासनाश्रयत्वकठोरत्वादिभिः[2] भूभृत् । तस्य सम्बन्धिन्यां कस्यांचिद्विवेकप्रदायां भुवि—भूमिकायां, वसेयम्, यत्र सा इति—प्राक् परिशीलिता, महारसा—समावेशानन्दमयी, निरन्तरो—घनः, त्वत्प्रलापः—भवत्परामर्शः प्रकृतं रूपं यस्यास्तादृशी वृत्तिः—स्थितिः ॥ ६ ॥

यत्र देवीसमेतस्त्वमासौधादा च गोपुरात् ।
बहुरूपः स्थितस्तस्मिन्वास्तव्यः स्यामहं पुरे ॥७॥

(**भगवन्** = हे ईश्वर !)
यत्र = जिस (चिदानन्द रूपी नगरी) में
देवी-समेतः = पराशक्ति के साथ
त्वम् = आप
आ-सौधात् = (अन्तरङ्ग उच्च पर-प्रमाता रूपी) भवन से लेकर
आ च गोपुरात् = (इन्द्रियों के विषय रूपी) द्वार तक
बहु-रूपः (**सन्**) = अनेक रूपों को धारण किये हुए
स्थितः = ठहरे हैं,
तस्मिन् = उसी
पुरे = नगरी में
अहं = मैं
वास्तव्यः = निवास
स्याम् = करूं ॥ ७ ॥

---

१. ग० पु० प्रतापमयी—इति पाठः ।

२ ख० पु० कठोरत्वाभिः—इति पाठः ।

तस्मिन् पुरे—त्वदीये पूरके चिदात्मनि रूपे, वास्तव्यः—समाविष्टः स्याम् । यत्र आसौधात्—आन्तरात्सुधासमूहरूपात् प्रतिभालक्षणाद्गुच्चाद्वाग्नः आ च गोपुरात्—इन्द्रियविषयरूपाद्द्वारात्, त्वं देव्या—परशक्त्या समेतो—नित्यप्रमुदितः ।

'न सा जीवकला काचित्............ ।'

इत्यादिनीत्या वससि । बहुरूपः—विश्वात्मा । अत्र अनुरणनशक्त्या लौकिकेश्वर[1]परिचर्यार्थः स्पष्टः । तथोत्तरत्राप्यनु[2]सर्तव्यः ॥ ७ ॥

समुल्लसन्तु भगवन् भवद्भानुमरीचयः ।
विकसत्वेष यावन्मे हृत्पद्मः पूजनाय ते ॥ ८ ॥

भगवन् = हे भगवान् !
भवद्- = आप
भानु- = सूर्य भगवान् की
मरीचयः = (अनुग्रह-प्रद) किरणें
(**तावत्** = तब तक)
समुल्लसन्तु = चमकती रहें,
यावत् = जब तक कि
एषः = यह
मे = मेरा
हृत्-पद्मः = हृदय रूपी कमल
ते = आप की
पूजनाय = पूजा के लिए
विकसतु = (पूर्ण रूप में) खिल जाय ॥ ८ ॥

मरीचयः—अनुग्राहिकाः शक्तयः । विक[3]सतु—व्या[4]प्तिमासादयतु । तव पूजनाय—त्व[5]त्पदसमावेशाय ॥ ८ ॥

प्रसीद भगवन् येन त्वत्पदे पतितं सदा ।
मनो मे तत्तदास्वाद्य क्षीवेदिव गलेदिव ॥ ९ ॥

---

१. ख० पु० लौकिकैश्वर्यपरिचर्यार्थः—इति पाठः ।
२. ग० पु० अनुमन्तव्यः—इति पाठः ।
३. ग० पु० विकसन्तु—इति पाठः ।
४. ग० पु० व्याप्तिमासादयन्तु—इति पाठः ।
५. ग० पु० त्वदसमसमावेशाय—इति पाठः ।

भगवन् = हे (सर्व-ऐश्वर्य-सम्पन्न) प्रभु !
प्रसीद = (आप) प्रसन्न हो जाइये,
येन = ताकि
त्वत्-पदे = आप के चरणों में
सदा = सदैव
पतितं = पड़ा हुआ
मे मनः = मेरा मन
तत् तत् = उन (अवर्णनीय अवस्थाओं) का
आस्वाद्य = अनुभव करके
क्षीवेत् इव = (आनन्द से) मस्त सा हो जाय (और)
गलेत् इव = (उसी आनन्द में) लय हो जाय ॥ ९ ॥

प्रसादः—अम्भस इव स्वयमेव आविलीभावशान्त्या नैर्मल्यगमनम् । एव मुत्तरत्र । त्वत्पदे—शाक्ते मार्गे, पतितं—लुठितम् । तत्तदिति—ते ते लोचने इति वर्णयितुमशक्यतां[1] स्फीततां चास्वाद्य वस्तुनो ध्वनति । क्षीवेदिव गलेदिव इति ससन्देहोत्प्रेक्षया सम्भावनालिंगाच्च स्वानुभवसाक्षिकानुत्तरानन्दरसपरवशताशंसां ध्वनति ॥ ९ ॥

प्रहर्षाद्वाथ[2] शोकाद्वा यदि कुड्याद्घटादपि[3] ।
बाह्यादथान्तराद्भावात्प्रकटीभव मे प्रभो ॥ १० ॥

प्रभो = हे (सर्वशक्तिमान) प्रभु !
प्रहर्षात् = हर्ष
अथ वा = या
शोकात् = शोक में से
यदि वा = अथवा
कुड्यात् = दीवार
(अथवा = या **)**
घटात् अपि = घड़े में से
(अथवा = अथवा **)**
बाह्यात् = (किसी) बाहरी
अथ = या
आन्तरात् = भीतरी
भावात् = पदार्थ में से
(यथा तथा अपि = जैसे तैसे भी **)**
(त्वं = आप **)**
मे = मेरे लिए
प्रकटीभव = प्रकट हो जाइये ॥ १० ॥

वाप्रभृतिशब्दैः यतः कुतश्चित्स्फुटीभव नास्माकं कश्चिद्ग्रहः इत्याह । प्रभो—सर्वतः प्रभवनशील ॥ १० ॥

---

१. ख० पु० यद्वर्णयितुमशक्यताम्—इति पाठः ।

२. प्रहर्षाद्वाथवा शोकात्—इति पाठः ।

३. ग० पु० कुड्याद्गृहादपि—इति पाठः ।

बहिरप्यन्तरपि तत्स्यन्दमानं सदास्तु मे ।
भवत्पादाम्बुजस्पर्शामृतमत्यन्तशीतलम् ॥ ११ ॥

(**भगवन्** = हे ईश्वर !)
तत् = वह
अत्यन्त- = अत्यन्त
शीतलं = शीतल
(**एवं** = और)
बहिः अपि = बाहर तथा
अन्तः अपि = भीतर से
स्यन्दमानं = (अमृत) बहाने वाला
भवत्- = आप के
पाद-अम्बुज- = चरण-कमलों का
स्पर्श- = स्पर्श रूपी
अमृतं = अमृत
मे = मुझे
सदा = सदैव
अस्तु = प्राप्त होता रहे ॥ ११ ॥

पादाम्बुजं शीतलमित्यादि[1] प्राग्वत् ॥ ११ ॥

त्वत्पादसंस्पर्शसुधासरसोऽन्तर्निमज्जनम् ।
कोऽप्येष सर्वसम्भोगलङ्घी भोगोऽस्तु मे सदा ॥१२॥

(**नाथ** = हे स्वामी !)
(**यत्** = जो)
त्वद्- = आप के
पाद- = चरणों के
संस्पर्श- = स्पर्श रूपी
सुधा- = अमृत के
सरसः = सरोवर के
अन्तर् = बीच में
निमज्जनम् = डूबना (या स्नान करना) है
एषः = (वही) यह
कोऽपि = अलौकिक
(**च** = तथा)
सर्व- = समस्त
संभोग- = भोगों से
लंघी भोगः = अत्युत्कृष्ट (स्वात्मानन्द रूपी) भोग
मे = मुझे
सदा अस्तु = सदैव प्राप्त हो ॥ १२ ॥

त्वत्पादसंस्पर्शः—रुद्रशक्तिसमावेशः। स एव सुधासरः[2]—रसायनाब्धिः। तत्र अन्तर्निमज्जनम्—निःशेषं ब्रुडनं[3] यत्, एष मम कोऽपीति—असामान्यः भोगः सदा अस्तु। कीदृक्। सर्वान्—सदाशिवपर्यन्तान् भोगान् लङ्घयते[4]—विरसत्वादभिभवति, तच्छीलः ॥ १२ ॥

---

१. ग० पु० शीतलमिति—इति पाठः। २. ख० पु० सुधारसरः—इति पाठः।
३. ग० पु० ब्रुडनं—इति पाठः। ४. ख० पु० लङ्घते—इति पाठः।

निवेदितमुपादत्स्व रागादि भगवन्मया ।
आदाय चामृतीकृत्य भुङ्क्ष्व भक्तजनैः समम् ॥ १३ ॥

भगवन् = हे भगवान् !
मया = मुझ से
निवेदितं = अर्पित किये गये
राग-आदि = राग, द्वेष आदि को
उपादत्स्व = (आप) ग्रहण कीजिए
(**एवं**) **च** = और (उन्हें)
आदाय = लेकर (तथा अपने चित्प्रकाश से)
अमृतीकृत्य = आनन्दमय बना कर
भक्त-जनैः = हम भक्त-जनों के
समम् = समेत
(**तान्** = उनका)
भुंक्ष्व = भोग कीजिये ॥ १३ ॥

हे भगवन्—चिन्मयस्वात्मन्[1] । आसंसारं यत् मयार्जितं रागादि, तद्वित्त[2]शाठ्यादिविवर्जनया निवेदितं—त्वय्यर्पितं, निःशेषेण वेदितं चेति । तत्स्वरूपमुपादत्स्व—गृहाण, स्व[3]प्रकाशात्मतामधिष्ठाय समीपे कुरु । अमृतीकृत्येति—परशक्तिस्पर्शामृतेन आप्लाव्य । भक्तजनैः समम्—इत्युक्त्या स्व[4]समावेशव्याप्तिसमये समस्तभक्तानामपि तन्मयतामाशंसति ॥ १३ ॥

अशेषभुवनाहारनित्यतृप्तः सुखासनम् ।
स्वामिन् गृहाण दासेषु प्रसादालोकनक्षणम् ॥ १४ ॥

स्वामिन् = हे स्वामी !
अशेष- = सभी
भुवन- = भुवनों का
आहार- = ग्रास करने से
नित्य- = सदैव
तृप्तः = परमानन्दघन बने हुए
त्वं = आप
दासेषु = (हम) सेवकों के लिये
सुखासनं = आनन्द-व्याप्ति-मय
प्रसाद- = अनुग्रह-पूर्ण
आलोकन- = दृष्टि-पात का
क्षणं = समय
गृहाण = ग्रहण कीजिए (अर्थात् अब हम पर अनुग्रह कीजिये) ॥ १४ ॥

१. ख० पु० चिन्मयस्वामिन्—इति पाठः ।
२. ग० पु० वित्तशाठ्यविवर्जनया—इति पाठः ।
३. ग० पु० स्वप्रकाशात्मकतामधिष्ठाय—इति पाठः ।
४. ख० पु० स्वसमावेशतासमये—इति पाठः ।

हे स्वामिन् अशेषभुवनाहारेण नित्यतृप्तः—परमानन्दघनः। दासेषु व्याख्यातरूपप्रसादालोकनावसरं गृहाण—प्रकाशार्हत्वमधिष्ठापय[1] कीदृशं? सुखेन आस्यते यत्र तत् आनन्दव्याप्तिमयम् ॥ १४ ॥

अन्तर्भक्तिचमत्कारचर्वणामीलितेक्षणः ।
नमो मह्यं शिवायेति पूजयन् स्यां तृणान्यपि ॥१५॥

(प्रभो = हे स्वामी !)
अन्तर्- = (अहं परामर्श रूपिणी) भीतरी
भक्ति- = भक्ति के
चमत्कार- = चमत्कार का
चर्वण- = आस्वाद लेने से
आमीलित- = बन्द की हुई
ईक्षणः = आंखों वाला (अर्थात् अन्तर्मुखीभूत इन्द्रियों वाला)
(अहं = मैं)
मह्यं = 'मुझ (चिद्रूपी)
शिवाय = शिव को
नमः = नमस्कार हो'
इति = ऐसा कहते हुए
तृणानि = तिनकों की
अपि = भी
पूजयन् = पूजा करता
स्याम् = रहूं ॥ १५ ॥

अन्तः—पूर्णाहन्तायां भक्तिचमत्कारामीलितेक्षणः[2]—इति प्राग्वत्। मह्यं—चिद्रूपाय शिवाय नमः—इति कृत्वा तृणान्यपि पूजयन् स्याम्—शिवतया परामृशेयम् ॥ १५ ॥

अपि लब्धभवद्भावः स्वात्मोल्लासमयं जगत् ।
पश्यन् भक्तिरसाभोगैर्भवेयमवियोजितः ॥१६॥

(भगवन् = हे भगवान् !)
लब्ध-भवत्-भावः = आप के अद्वयानन्द को प्राप्त करके
(इदं = और इस)
जगत् = जगत को
स्वात्म- = अपनी ही आत्मा की
उल्लास-मयं = झलक से युक्त
पश्यन् = देखते हुए
अपि = भी
(अहं = मैं)
भक्ति-रस- = भक्ति-रस के
आभोगैः = चमत्कारों से
अवियोजितः = वंचित न
भवेयम् = रहूँ ॥ १६ ॥

---

१. ख० पु० प्रकाशात्मकत्वम्—इति पाठः।

२. ख० पु० चमत्कारोन्मीलितेक्षणः—इति पाठः।

लब्धो भवद्भावः—त्वदात्मैक्यं[1] येन। अत एव स्वात्मनः—शिवरूपस्य उल्लास एव प्रकृतं रूपं यस्य, तथाविधं जगत्—विश्वं पश्यन्, भक्तिरसाभोगैः—समावेशप्रबलचमत्कारैः अवियोजितः स्याम्;—

.... ।

'तमनित्येषु भोगेषु योजयन्ति विनायकाः ॥' मा० वि०

इत्याम्नायस्थित्या मा कदाचित् स्वात्माभिमानविनायको[2] भक्त्यन्तरायं मे कार्षीदिति यावत् ॥ १६ ॥

आकाङ्क्षणीयमपरं येन नाथ न विद्यते ।
तव तेनाद्वितीयस्य युक्तं यत्परिपूर्णता ॥ १७ ॥

नाथ = हे स्वामी !
येन = चूंकि
तव = आप को
अपरम् = (किसी) दूसरी वस्तु की
आकांक्षणीयं = अभिलाषा
न = नहीं
विद्यते = है,
तेन = अतः
तव = आप
अद्वितीयस्य = अद्वितीय (प्रभु) की
यत् = जो
परिपूर्णता = परिपूर्णता
(**सर्वत्र** = समस्त शास्त्रों में)
(**उक्ता** = कही गई है)
(**तत्तु** = वह तो)
युक्तम् = ठीक (है) ॥ १७ ॥

सर्वतो निराकांक्षत्वात् त्वमेव परिपूर्ण इत्यर्थः ॥ १७ ॥

हस्यते नृत्यते यत्र रागद्वेषादि भुज्यते ।
पीयते भक्तिपीयूषरसस्तत्प्राप्नुयां पदम् ॥ १८ ॥

(**प्रभो** = हे स्वामी !)
(**अहं** = मैं)
तत् पदं = उस (स्वरूप-समावेशमय) स्थान को
प्राप्नुयां = प्राप्त करूं
यत्र = जहां
हस्यते = हंसा जाता है,
नृत्यते = नाचा जाता है
राग-द्वेष-आदि = राग और द्वेष आदि
भुज्यते = भोगे जाते हैं
(**च** = और)
भक्ति- = भक्ति रूपी
पीयूष-रसः = अमृत-रस
पीयते = पिया जाता है ॥ १८ ॥

---

१. ग० पु० त्वदैकात्म्यम्—इति पाठः।

२. ख० पु० स्वाभिमानविनायकः—इति पाठः।

नृत्यते—अन्तःप्रहर्षभरेण देहादिप्रमातृता दोधूयते । भुज्यते—ग्रस्यते रागद्वेषादि—इत्यनेन पुर्यष्टकप्रमातृताया गुणीभाव उक्तः । पीयते—चमत्क्रियते भक्तिपीयूषरसः—समावेशानन्दरसः[1] । सर्वस्य च हास्यनृत्यप्रधान[2]भोजनपानक्रिया स्पृहणीया । सा त्विह अलौकिकत्वेनोक्ता ॥

तत्तदपूर्वामोद-

त्वच्चिन्ताकुसुमवासना दृढताम् ।

एतु मम मनसि याव-

न्नश्यतु दुर्वासनागन्धः ॥ १९ ॥

(**प्रभो** = हे स्वामी !)
तत्-तत्- = उस अनूठे
अपूर्व- = तथा अलौकिक
आमोद- = आनन्द से युक्त
त्वत्- = आप के
चिन्ता- = चिन्तन रूपी
कुसुम- = फूल की
वासना = सुगन्धि
मम = मेरे
मनसि = हृदय में
(**तावत्** = तब तक)
दृढताम् = स्थिरता को
एतु = प्राप्त हो जाय (अर्थात् स्थिर होकर बनी रहे),
यावत् = जब तक कि
दुर्वासना- = बुरी वासना रूपिणी
गन्धः = दुर्गन्धि
नश्यतु = (समूल) नष्ट हो जाय ॥ १९ ॥

स[3] स इति विचित्रः, अपूर्वोऽलौकिकः, आमोदो—हर्षो यस्याः त्वच्चिन्तायाः, सैव स्पृहणीयत्वात् कुसुमवासना, दृढतां—प्ररूढत्वं ममैतु मनसि, यावद्रागादिदुर्वासना नश्यतु ॥ १६ ॥

क्व नु रागादिषु रागः

क्व च हरचरणाम्बुजेषु रागित्वम् ।

इत्थं विरोधरसिकं

बोधय हितममर मे हृदयम् ॥ २० ॥

---

१. ख० पु० समावेशानन्दप्रसरः—इति पाठः ।

२. ख० पु० हासनृत्यप्रधान—इति पाठः ।

३. ग० पु० ममेति इति पाठः ।

अमर = हे अमर प्रभु !
क नु = "कहां
रागादिषु = राग आदि विषयों के प्रति
रागः = आसक्ति
च = और
क = कहां
हर- = महादेव जी के
चरण- = चरण-कमलों
अम्बुजेषु = के प्रति
रागित्वम् = भक्ति"
इत्थं = ऐसी
हितं = कल्याण की बात
विरोध- = विरोध के
रसिकं = प्रेमी (अर्थात् इन दोनों) विरोधी बातों में लगे हुए
मे = मेरे
हृदयं = मन को
बोधय = समझाइये ॥ २० ॥

हे अमर ! मम हृदयं विरोधरसिकं—समावेशे त्वत्परं, व्युत्थाने तु विषयोन्मुखम् । हितं बोधय—विवेकितं कुरु, येन व्युत्थाने रागादिरसिकतां त्यक्त्वा त्वदनुरक्तमेव[1] आस्ते ॥ २० ॥

विचरन्योगदशास्वपि
विषयव्यावृत्तिवर्तमानोऽपि ।
त्वच्चिन्तामदिरामद-
तरलीकृतहृदय एव स्याम् ॥ २१ ॥

(**प्रभो** = हे नाथ !)
योगदशासु = योग सम्बन्धी अवस्थाओं में
विचरन् = फिरता हुआ
अपि = भी
(**च** = तथा)
विषय- = विषयों से
व्यावृत्ति- = (अपने मन को) हटाने में
वर्तमानः अपि = लगा हुआ भी (अर्थात् इन्द्रियों को वश में रखता हुआ भी)
(**अहं** = मैं)
त्वत्-चिन्ता- = आप के चिन्तन रूपिणी
मदिरा- = मदिरा की
मद- = मस्ती से
तरलीकृत- = चंचल बने हुए
हृदयः एव = हृदय वाला ही
स्याम् = बना रहूँ ॥ २१ ॥

---

१. ख० पु० त्वदनुरसिकमेव—इति पाठः ।

योगदशाः—भूमिकाज्ञानानि। विषयेभ्यो व्यावृत्तयः इन्द्रियाणां[1] प्रत्याहाराः, तत्र वर्तमानः। त्वच्चिन्ता—त्वत्स्मृतिरेव[2] मदिरामदः, तेन तरलीकृतं—त्याजितं मितभूमिकाप्ररूढि क्षीबस्येव घूर्णमानं निजचमत्कारव्यतिरेकेण कुत्रचिदपि भूमिकाज्ञानादावरोहत्[3] हृदयं यस्य तादृगेव स्याम्। अपिशब्देन प्रसङ्गापतितत्वेन अनादरणीयतामाह॥ २१॥

वाचि मनोमतिषु तथा
शरीरचेष्टासु करणरचितासु।
सर्वत्र सर्वदा मे
पुरःसरो भवतु भक्तिरसः॥ २२॥

(भगवन् = हे भगवान्!)
वाचि = वाणी,
मनः- = मन
मतिषु = और बुद्धि
करण- = इन्द्रियों द्वारा
रचितासु = की गई
शरीर- = शारीरिक
चेष्टासु = चेष्टाओं
तथा = तथा
सर्वत्र = सभी अवस्थाओं में
(भवत्- = आप की)
भक्ति-रसः = भक्ति का रस
सर्वदा = सदा
मे = मेरा
पुरःसरः = साथी
भवतु = बना रहे (अर्थात् मुझे उपलब्ध होता रहे॥ २२॥

मनोमतयः—कल्पनाप्रधाना धियः। करणरचितासु बुद्धिकर्मेन्द्रियकार्यासु। दर्शनश्रवणादिपूर्वकत्वात्सर्वप्रवृत्तीनाम्। सर्वत्र—सर्वावस्थासु। पुरःसरः—आदावेव स्फुरन्[4]। भक्तिरसः—समावेशचमत्कारः॥ २२॥

शिव-शिव-शिवेति नामनि
तव निरवधि नाथ जप्यमानेऽस्मिन्।

१. ख० पु०, च० पु० इन्द्रियेभ्यः—इति पाठः।
२. ख० पु०, च० पु० त्वत्प्राप्तिरेव—इति पाठः।
३. ख० पु० ज्ञानादवरोहत्—इति पाठः।
४. ग० पु० स्फुरत्—इति पाठः।

आस्वादयन् भवेयं
कमपि महारसमपुनरुक्तम् ॥ २३ ॥

नाथ = हे प्रभु !
शिव- = "हे शिव !
शिव- = हे शिव !
शिव = हे शिव !"
इति = इस प्रकार
तव = आप के
अस्मिन् = इस
नाम्नि = नाम का
निरवधि = लगातार
जप्यमाने = जप करते हुए
(अहं = मैं)
कमपि = (उस) अवर्णनीय
अपुनरुक्तं = नित-नये रूप वाले
महा- = पारमार्थिक
रसम् = रस का
आस्वादयन् = स्वाद
भवेयम् = लेता रहूं ॥ २३ ॥

जप्यमाने—प्रकृष्टमन्त्रमयतया परामृश्यमाने । अस्मिन्निति—स्वानुभवैकसाक्षिके अनुत्तरे । भूयो नामग्रहणं समावेशवैवश्यं ध्वनति । कमपीति—अलौकिकम् , अत[1] एव महच्छब्दः । अपुनरुक्तं—नवनवा[2]नन्दप्रसरम् ॥ २३ ॥

स्फुरदनन्तचिदात्मकविष्टपे
परिनिपीतसमस्तजडाध्वनि ।
अगणितापरचिन्मयगण्डिके
प्रविचरेयमहं भवतोऽर्चिता ॥ २४ ॥

(प्रभो = हे ईश्वर !)
परिनिपीत- = नष्ट किए जाते हैं
समस्त- = सारे
जड- = जड रूपी
अध्वनि = प्रमेय-मार्ग जिससे (और)
अगणित- = कुछ भी नहीं समझी जाती
अपर- = दूसरी (अर्थात् स्वरूप-व्यतिरिक्त)
चिन्मय- = चित् रूपिणी
गण्डिके = नगरी जिसमें, ऐसे
स्फुरत्- = देदीप्यमान (चमकते हुए)
अनन्त- = और असीमित
चिदात्मक- = चित् रूपी
विष्टपे = भुवन में
(अहं = मैं)

---

१. च० पु० 'अत' इत्यारभ्य आग्रिमः पाठः न दृश्यते ।

२. ग० पु० नवनवप्रसरानन्दम्—इति पाठः ।

भवतः = आप की
अर्चिता = पूजा करता हुआ
(**एव** = ही)
प्रविचरेयम् = विहार करूं ॥ २४ ॥

स्फुरत्—अनन्तमपरिच्छिन्नं यच्चिदात्मकं विष्टपं—भुवनं विश्वविश्रान्तिस्थानं तत्र। कीदृशे ? परितः—समन्तात् निपीतः समस्तो निःशेषो[1] जडो वेद्यरूपोऽध्वा[2]—तत्त्वादि प्रसरो येन। तथा न गणिता अपरा चिन्मयी गण्डिका—पुरी यत्र;—शिवात्मकचिद्रूपव्यतिरेकेण[3] अन्यस्याभावात्। अनेन—भिन्नशिववादनिरास उक्तः। तत्र प्रकर्षेण विचरेयं—समावेशेन प्रसरेयं। कीदृक् ? भवतः प्रभोरर्चिता—अद्वयरूपत्वत्पूजनैकनिष्ठः[4] ॥ २४ ॥

स्ववपुषि स्फुटभासिनि शाश्वते
स्थितिकृते न किमप्युपयुज्यते।
इति मतिः सुदृढा भवतात् परं
मम भवच्चरणाब्जरजः शुचेः ॥ २५ ॥

(**प्रभो** = हे स्वामी !)
स्फुट- = "अत्यन्त
भासिनि = प्रकाश-स्वरूप
(**तथा** = तथा)
शाश्वते = अविनाशी
स्व-वपुषि = अपनी (चिदानन्द-स्वरूप)
स्थिति- = स्थिति के
कृते (सति) = स्थिर होने पर
किमपि = (ध्यान, जप आदि) किसी (दूसरी बात) का
न उपयुज्यते = उपयोग नहीं होता"
इति मतिः = ऐसी बुद्धि
भवत्- = आप के

१. ख० पु० निःशेषेण—इति पाठः।
२. ग० पु० अध्वा—तन्त्रादिप्रसरः—इति पाठः।
ग० पु० तत्त्वाध्वादीति पाठः।
ख० पु०, च० पु० ध्वान्तत्वादि प्रसरो येन—इति पाठः।
३. ग० पु० व्यतिरेकदैन्यस्याभावात्—इति पाठः।
४. ख० पु० अद्वयरूपत्वत्पूजैकनिष्ठः—इति पाठः।
ग० पु० अद्वयरूपत्वात्पूजैकनिष्ठः—इति पाठः।

चरण-अब्ज- = चरण-कमलों की
रजः- = धूलि से
शुचेः = पवित्र बने हुए
मम (अस्तु) = मुझ को प्राप्त हो
(सा च) = और वह
परं = अत्यन्त
सुदृढा = स्थिर
भवतात् = रहे ॥ २५ ॥

स्वस्मिन्—अनपायिनि, वपुषि—चिदात्मस्वरूपे । स्फुटभासिनि—प्रकाशघने । शाश्वते—नित्ये । स्थितिं कर्तुं न किमपि—ध्यानजपादिकम् उपयुज्यते—उक्तरूपत्वादेव । एतादृशी मम भवच्चरणाम्बुजरजःशुचेः—त्वच्छक्तिकमलप्रसरपरिशीलनेन शुद्धस्य । सुदृढा मतिः—निश्चलनिश्चय[1]-रूपा धीः, परम्—अतिशयेन भवतात्[2]—नित्योदितसमावेशैकघनः स्यामिति यावत् ॥ २५ ॥

किमपि नाथ कदाचन चेतसि
स्फुरति तद्भवदंघ्रितलस्पृशाम् ।
गलति यत्र समस्तमिदं सुधा-
सरसि विश्वमिदं दिश मे सदा ॥ २६ ॥

नाथ = हे स्वामी !
भवत्- = आप के
अंघ्रि-तल- = चरण-तलों के
स्पृशां = स्पर्श से युक्त (भक्त-जनों) के
चेतसि = मन में
कदाचन = कभी (अर्थात् किसी समाधि-काल में)
तत् = वह
किमपि = अलौकिक (अवस्था)
स्फुरति = प्रकट होती है,
यत्र = जिस में
इदं = यह
समस्तं = सारा
विश्वं = (भेद-प्रथा-रूप) संसार
सुधा- = (स्वात्मानन्द रूपी) अमृत के
सरसि = सरोवर में
गलति = लय हो जाता है;
(इदं = वही अवस्था **)**
मे = मुझे
सदा = सदैव
दिश = प्रदान कीजिए ॥ २६ ॥

१. ख० पु० निश्चयरूपा—इति पाठः ।
२. ख० पु०, च० पु० भवेत्—इति पाठः ।

हे नाथ ! भवदङ्घ्रितलस्पृशां—त्वच्छ्क्तिस्पर्शशालिनां[1], कदाचिद्-वसरे, तत्किमपि—असामान्यं वस्तु चेतसि स्फुरति, यत्र समस्तमिदं विश्वं, सुधासरसि—परमानन्दसागरे गलति—तन्मयीभवति। तत्तथा-विधमिदं वस्तु मह्यं सदा दिश—प्रयच्छ, यथा नित्यसमावेशानन्दघन एव भवानि[2]—इति शिवम् ॥ २६ ॥

इति श्रीमदुत्पलदेवाचार्यविरचितस्तोत्रावलौ स्वबलनिदेशनाख्ये पञ्चमे स्तोत्रे श्रीक्षेमराजाचार्यविरचिता विवृतिः ॥ ५ ॥



१. ख० पु० त्वद्भक्तिस्पर्श—इति पाठः।

२. ख० पु० भवामि इति भद्रम्—इति पाठः।

ॐ तत् सत्

अथ

अध्ववेस्फुरणाख्यं षष्टं स्तोत्रम्

क्षणमात्रमपीशान वियुक्तस्य त्वया मम ।
निबिडं तप्यमानस्य सदा भूया दृशः पदम् ॥ १ ॥

ईशान = हे ईश्वर !
क्षणमात्रम् = क्षण मात्र के लिए
अपि = भी
त्वया = आप से
वियुक्तस्य = अलग होने पर (मैं)
निबिडं = अत्यन्त
तप्यमानस्य = सन्तप्त होता हूं (अतः)
मम = (आप) मेरे
दृशः = ज्ञान-चक्षु का
पदं = विषय
सदा = सदा अर्थात् लगातार
भूयाः = बने रहें (अर्थात् मैं क्षण भर भी आप के साक्षात्कार के आनन्द से वञ्चित न रहूं) ॥१॥

व्युत्थानरूपे क्षणमात्रवियोगे, गाढानुरागवैवश्यात् निबिडम्—अत्यर्थं, तप्यमानस्य—स्वयमेव सन्तापमनुभवतो[1] न तु विषयविवशस्य । मम सदा दृशः—ज्ञानस्य, पदं भूयाः—परिस्फुरेत्यर्थः ॥ १ ॥

वियोगसारे संसारे प्रियेण प्रभुणा त्वया ।
अवियुक्तः सदैव स्यां जगतापि वियोजितः ॥ २ ॥

(प्रभो = हे स्वामी !)
जगता = जगत से
वियोजितः = अलग होते हुए
अपि = भी
(अहं = मैं)
वियोग- = वियोग ही
सारे = सार है जिस का, ऐसे
(अस्मिन् = इस)
संसारे = संसार में
प्रियेण = अत्यन्त प्रिय
त्वया = आप
प्रभुणा = प्रभु से
अवियुक्तः एव सदा स्याम् = कभी अलग न हो जाऊं ॥ २ ॥

---

१. ख० पु०, च० पु० अनुभावयतः—इति पाठः ।

अवियुक्तः—समाविष्टः । जगता—क्षित्यादिशिवान्तेन विश्वेनापि वियोजितः—विश्लेषितः । समावेशे च विश्वं[1] प्रत्यस्तमयो वस्तुतो भवत्येव ॥ २ ॥

कायवाङ्मनसैर्यत्र यामि सर्वं त्वमेव तत् ।
इत्येष परमार्थोऽपि परिपूर्णोऽस्तु मे सदा ॥ ३ ॥

(**भगवन्** = हे भगवान् !)
काय- = "शरीर,
वाक्- = वाणी
मनसैः = और मन से
यत्र = जहाँ कहीं भी
यामि = (मैं) विचरता हूँ,
तत् सर्वं = वह सब कुछ
त्वम् एव = आप का ही स्वरूप है"
इति एषः = यह बात
परमार्थः = (सैद्धान्तिक रूप में) सत्य होते हुए
अपि = भी
मे = मेरी दशा में
सदा = सदा
परिपूर्णः = (समावेश में प्रत्यक्ष रूप में) सिद्ध
अस्तु = होती रहे ॥ ३ ॥

यत्रेति—विषये । त्वमेव तदिति—चिदेकसारत्वात्[2] । इत्येष परमार्थ इति—

"यत्र यत्र.................. ।"

इत्युपक्रम्य

............"सर्वं शिवमयं यतः" ॥ स्व० तं० ४ प०, श्लो० ३१३ ॥

इत्याम्नातत्वात् । परिपूर्ण इति—समावेशेन[3] साक्षात्कृतः ॥ ३ ॥

निर्विकल्पो महानन्दपूर्णो यद्वद्भवांस्तथा ।
भवत्स्तुतिकरी भूयादनुरूपैव वाङ्मम ॥ ४ ॥

---

१. ख० पु० विश्वप्रत्यस्तमयो भवत्येव—इति पाठः ।
२. ग० पु० चिदेकसारं त्वाम्—इति पाठः ।
३. ख० पु० समावेशसाक्षात्कृतः—इति पाठः ।

(**प्रभो** = हे प्रभु !)
यद्वत् = जिस तरह
भवान् = आप
निर्विकल्पः = निर्विकल्प
(**च** = और)
महानन्दपूर्णः = परमानन्द-पूर्ण हैं,
तथा = उसी तरह
भवत्- = आप की
स्तुति-करी = स्तुति करने वाली
मम = मेरी
वाक् = वाणी
(**अपि** = भी)
(**भवत्-** = आपके)
अनुरूपा एव = समान ही (अर्थात् निर्विकल्प और परमानन्द-पूर्ण)
भूयात् = हो जाय ॥ ४ ॥

निर्विकल्पः—शुद्धचिद्रूपः । तथेति—निर्विकल्पा महानन्दमयी च । अत एव स्तुत्यसमुचितत्वात्[1] अनुरूपा ॥ ४ ॥

भवदावेशतः पश्यन् भावं भावं भवन्मयम् ।
विचरेयं निराकाङ्क्षः प्रहर्षपरिपूरितः ॥ ५ ॥

(**प्रभो** = हे ईश्वर !)
भवत्- = आप (के स्वरूप) में
आवेशतः = समाविष्ट होने से
(**अहं** = मैं)
भावं भावं = प्रत्येक वस्तु को
भवत्-मयं = आप का ही स्वरूप
पश्यन् = समझता रहूं
(**एवं** = और)
निराकांक्षः = आकांक्षाओं से रहित
(**तथा** = तथा)
प्रहर्ष- = परमानन्द रूपी हर्ष से
परिपूरितः = पूर्ण
सन् = होकर
विचरेयम् = विहार करता रहूं ॥५॥

भावं भावमिति वीप्सया विश्वाक्षेपः । निराकाङ्क्ष इत्यत्र[2] विशेषणद्वारको हेतुः प्रहर्षेत्यादिः,—प्रकृष्टेन महानन्दात्मना हर्षेण परिपूरितत्वादेव हि निराकांक्षता भवति ॥ ५ ॥

भगवन्भवतः पूर्णं पश्येयमखिलं जगत् ।
तावतैवास्मि सन्तुष्टस्ततो न परिखिद्यसे ॥ ६ ॥

---

१. ख० पु०, च० पु० स्तुत्ये समुचितत्वात्—इति पाठः ।
२. ख० पु०, च० पु० निराकांक्ष इति विशेषणद्वारकः—इति पाठः ।

भगवन् = हे भगवान्
(**अहं** = मैं)
अखिलं = समस्त
जगत् = संसार को
भवतः = आप के स्वरूप से
पूर्णं = परिपूर्ण (ही)
पश्येयम् = समझता रहूं ।
तावता = उतने से
एव = ही
सन्तुष्टः = (मैं) संतुष्ट (अर्थात् परमानन्द-पूर्ण)
अस्मि = हो जाऊंगा ।
ततः = उस के पश्चात्
(**त्वं** = आप)
न = नहीं
परिखिद्यसे = खिजाये जाएंगे (अर्थात् फिर मैं अपनी प्रार्थनाओं से आप को कभी नहीं खिजाऊंगा) ॥६॥

भवतः—चिन्मयस्य सम्बन्धितया

"प्रदेशोऽपि ब्रह्मणः सार्वरूप्यमनतिक्रान्तश्चाविकल्पश्च" ।

इति स्थित्या अखिलं जगत् पूर्णं पश्येयम् । भवता पूर्णमिति पाठे तु स्पष्टोऽर्थः । सन्तुष्टः—परमानन्दमयीं प्रीतिमितः । अतो हेतोर्न परिखिद्यसे;—हे भगवन्—चिद्रूपस्वात्मन् ! अणिमादिप्रार्थनाभिः न व्याकुलीक्रियसे इत्यर्थः ॥ ६ ॥

विलीयमानास्त्वय्येव व्योम्नि मेघलवा इव ।
भावा विभान्तु मे शश्वत्क्रमनैर्मल्यगामिनः ॥ ७ ॥

(**प्रभो** = हे ईश्वर !)
व्योम्नि = आकाश में
विलीयमानाः = लीन बने हुए
मेघ-लवाः = मेघ-खंडों की
इव = भान्ति
भावाः = (संसार के सभी) पदार्थ
शश्वत्- = सदा के लिए
क्रम- = क्रमपूर्वक (बिना प्रत्यवाय के)
नैर्मल्य- = निर्मलता (अर्थात् शुद्ध चिद्रूपता) को
गामिनः = प्राप्त हो कर
त्वयि = आप के स्वरूप में
एव = ही
(**विलीयमानाः** = लीन बने हुए)
मे = मुझे
विभान्तु = दिखाई दें ॥ ७ ॥

यत एवोल्लसितास्तत्र[1] त्वय्येव क्रमात्क्रमं संस्कारशेषतयापि विग-[2]

१. ख० पु० उल्लासिताः—इति पाठः ।

२. ग० पु० विगलन्तु—इति पाठः ।

लन्ते । यथा व्योम्नि मेघलवाः । ते हि तत एव प्रसृतास्तत्रैव विलीयन्ते । शश्वत्—सदा । क्रमेण नैर्मल्यं—शुद्धचिद्रूपत्वं गच्छन्ति तच्छीलाः, इत्यनेन चिदात्मतैवैषां[1] तात्त्विकं रूपमिति ध्वनति ॥ ७ ॥

स्वप्रभाप्रसरध्वस्तापर्यन्तध्वान्तसन्ततिः ।
सन्ततं भातु मे कोऽपि भवमध्याद्भवन्मणिः ॥ ८ ॥

(**भगवन्** = हे ऐश्वर्य-संपन्न प्रभु !)
स्व-प्रभा- = अपनी दीप्ति के
प्रसर- = प्रसार से
ध्वस्त- = समूल नष्ट किया है
अपर्यन्त- = अथाह
ध्वान्त- = अज्ञान रूपी
सन्ततिः = घना अंधकार जिस ने, ऐसा
कोऽपि = अलौकिक
भवत्- = आप (का स्वरूप रूपी)
मणिः = (चिन्तामणि) रत्न
मे = मुझे
भव-मध्यात् = इस संसार में ही
सन्ततं = सदा
भातु = दृष्टि-गोचर होता रहे ॥ ८ ॥

भवमध्यात्—विश्वस्य मध्यतः । कोपीति—शुद्धचिद्रूपः । भवानेव मणिः—सर्वाभिलाषपूरकत्वात्[3] मम सन्ततम्—अव्युत्थानं कृत्वा, भातु—समावेशेन स्फुरतु । स्वप्रभाप्रसरेण—निजरश्मिपरिस्पन्देन ध्वस्ता अपर्यन्ता ध्वान्तसन्ततिः—अख्यातिप्रतीतिर्येन[4] ॥ ८ ॥

कां भूमिकां नाधिशेषे किं तत्स्याद्यन्न ते वपुः ।
श्रान्तस्तेनाप्रयासेन सर्वतस्त्वामवाप्नुयाम् ॥ ९ ॥

(**शंकर** = हे कल्याण कारी भगवान्!)
(**त्वं** = आप)
कां = किस
भूमिकां = अवस्था में
न = नहीं
अधिशेषे = रहते हैं (अर्थात् सभी अवस्थाओं में ठहरे हुए हैं)
(**च** = और)

१. ख० पु० तेषाम्—इति पाठः ।
२. ख० पु०, च० पु० ध्वस्तपर्यन्त—इति पाठः ।
३. ग० पु० पूर्णत्वात्—इति पाठः ।
४. ख० पु० प्रवृत्तिर्येन—इति पाठः ।

तत् = वह
किं = कौन सी
(**वस्तु** = वस्तु है)
यत् = जो
ते = आप का
वपुः = स्वरूप
न = नहीं
स्यात् = हो सकती ? (अर्थात् प्रत्येक वस्तु आप का ही स्वरूप है ।)
तेन = इस लिए
श्रांतः = (स्वरूप-अप्रथा से संसार में चिर काल से) दुःखी बना हुआ
(**अहं** = मैं)
त्वाम् = आप को
अप्रयासेन = बिना प्रयास के ही
सर्वतः = प्रत्येक स्थान पर (अर्थात् जहां कहीं भी मैं चाहूं)
अवाप्नुयाम् = प्राप्त करूं (अर्थात् देखूं) ॥ ९ ॥

श्रान्त इति—अप्रत्यभिज्ञातस्वरूपत्वाच्चिरं संसारे खिन्नः । त्वां—चिद्रूपम् अप्रयासेन—ध्यानपूजाद्यायासं विना, सर्वतः—यतः कुतश्चित् अवाप्नुयां—समावेशेन स्वीकुर्याम् । यतः कां भूमिकाम्—अवस्थितिं नाधिशेषे—नाधितिष्ठसि । तद्बाह्यमान्तरं वा वस्तु किं यत्तव वपुः—स्वरूपं न स्यात् ॥ ९ ॥

भवदङ्गपरिष्वङ्गसम्भोगः स्वेच्छयैव मे ।
घटतामियति प्राप्ते किं नाथ न जितं मया ॥ १० ॥

नाथ = हे प्रभु !
भवत्- = आप के
अंग- = शरीर के
परिष्वंग- = आलिंगन का
संभोगः = (परम-समावेश रूपी) चमत्कार
मे = मुझे
स्वेच्छया = अपनी इच्छा से
एव = ही
घटताम् = सिद्ध हो जाय (अर्थात् प्राप्त होता रहे),
इयति = इतना
प्राप्ते (सति) = प्राप्त होने पर
किं = क्या
मया = मैं ने
न जितम् = नहीं जीता ? [अर्थात् उस दशा में मैं सर्वोच्च आत्मस्थान को प्राप्त करूंगा] ॥ १० ॥

अङ्गपरिष्वङ्गः—पर[1]समावेशस्पर्शः । स्वेच्छया—न तु कादाचित्कत्वेन । किं न जितं—सर्वोत्कृष्टेन मयैव स्थितमित्यर्थः ॥ १० ॥

१. ख० पु०, च० पु० परमसमावेशस्पर्शः—इति पाठः ।

ॐ तत् सत्

अथ

वैधुरवैजयनामधेयं सप्तमं स्तोत्रम्

त्वय्यानन्दसरस्वति
समरसतामेत्य नाथ मम चेतः ।
परिहरतु सकृदियन्तं
भेदाधीनं महानर्थम् ॥ १ ॥

नाथ = हे स्वामी !
त्वयि = आप
आनन्द-सरस्वति=आनन्द-सागर में
समरसताम् = समरसता अर्थात् तन्मयता को
एत्य = प्राप्त हो कर
मम = मेरा
चेतः = हृदय
भेद-अधीनं = भेद-प्रथा पर आश्रित (अर्थात् भेद-प्रथा से होने वाली)
इयन्तं = (अज्ञान रूपी) इतनी
महा-अनर्थं = बड़ी आपत्ति को
सकृत् = एक बार ही (अर्थात् सदा के लिए)
परिहरतु = दूर करें ॥ १ ॥

आनन्दसरस्वति—हर्षसमुद्रे[1], समरसतां—समावेशैकध्यम्[2] सकृत्—एकवारं, परिहरतु—यथा न पुनर्भवतीत्यर्थः[3] । इयन्तम्—अपर्यन्तम् ॥१॥

एतन्मम न त्विदमिति
रागद्वेषादिनिगडदृढमूले ।

---

१. ख० पु० प्रहर्षसमुद्रे—इति पाठः ।
२. ख० पु०, च० पु० समावेशकैवल्यम्—इति पाठः,
ग० पु० समावेशं प्राप्य—इति च पाठः ।
३. ख० पु० पुनर्भवेत्—इति पाठः ।

नाथ भवन्मयतैक्य-

प्रत्ययपरशुः पतत्वन्तः ॥ २ ॥

नाथ = हे स्वामी !
एतत् = "यह (सुखदायक वस्तु)
मम = मुझे
(**अस्तु** = मिले),
इदं = यह (दुःखदायक वस्तु)
तु = तो
न = न (मिले)"
इति = इस प्रकार के
राग-द्वेष- = राग, द्वेष
आदि- = आदि रूपी
निगड- = बेड़ियों की
दृढ-मूले = कठिन जड़ पर
भवन्मयता- = आप के स्वरूप के साथ
ऐक्य- = एकता का
प्रत्यय- = पूर्ण विश्वास (अथवा पूर्ण-आनन्द) रूपी
परशुः = फरसा
अन्तः = बीच में ही
पततु = आ पड़े (अर्थात् राग, द्वेष आदि को तहस-नहस कर दे) ॥२॥

एतत्—सुखं तद्धेतुरूपं मम अस्तु, इदं तु—दुःखं तद्धेतुरूपं मम मा भूत्,—इत्येवं भेदावग्रहरूपं[1] रागद्वेषाद्यात्मनो निगडस्य—बन्धनस्य दृढे—कठिने मूले अन्तर्—मध्ये भवन्मयतैक्यप्रत्ययः—चिदैक्यप्रतीतिरेव परशुः—कुठारः पततु ॥ २ ॥

गलतु विकल्पकलङ्कावली

समुल्लसतु हृदि निरर्गलता ।

भगवन्नानन्दरस-

प्लुतास्तु मे चिन्मयी मूर्तिः ॥ ३ ॥

भगवन् = हे भगवान् !
(**मे** = मेरे)
विकल्प- = संकल्प-विकल्प रूपी
कलंक- = कलंक की
आवली = माला
गलतु = नष्ट हो जाय,
हृदि = (मेरे) हृदय में
निरर्गलता = पूर्ण स्वतंत्रता (का भाव)
समुल्लसतु = चमक उठे

१. ख० पु० भेदावग्रहरूपरागद्वेषाद्यात्मनः—इति पाठः ।

(एवं = और)
मे = मेरी
चिन्मयी = चैतन्य-मयी
मूर्तिः = मूर्ति
आनन्द-रस- = आनन्द के रस से
प्लुता = आप्लावित
अस्तु = हो जाय ॥ ३ ॥

विकल्पानां भेदप्राधान्यात् कलङ्कता । निरर्गलता—निःशङ्कता स्वातन्त्र्यम् । मम चिन्मयी मूर्तिः—प्रमातृता, आनन्दरसप्लुता—समावेशानन्दोच्छलिता अस्तु ॥ ३ ॥

रागादिमयभवाण्डक-
लुठितं त्वद्भक्तिभावनाम्बिका तैस्तैः ।
आप्याययतु रसैर्मां
प्रवृद्धपक्षो यथा भवामि खगः ॥ ४ ॥

(परमात्मन् = हे परमेश्वर !)
राग-आदि- = राग, (द्वेष) आदि से
मय- = भरे हुए
भव- = (इस) संसार रूपी
अण्डक- = अंडे में
लुठितं = लोटते हुए
मां = मुझे
त्वद्- = आप की
भक्ति- = भक्ति की
भावना- = भावना रूपिणी
अम्बिका = माता
तैः तैः = उन (अलौकिक)
रसैः = (परमानन्द के) रसों से
आप्याययतु = पुष्ट करे,
यथा = जिस के फल-स्वरूप
(अहं = मैं)
प्रवृद्ध-पक्षः = बढ़े हुए (प्राण रूपी) परों वाला
खगः = पक्षी
भवामि = बन जाऊं ॥ ४ ॥

---

१. पूर्ण व्याख्या—जिस प्रकार पक्षिणी अंडे में लोटते हुए अपने बच्चे को रसों से पुष्ट करती है, जिस से उस के पर बढ़ जाते हैं और वह आकाश में उड़ने योग्य हो जाता है, उसी प्रकार आप की भक्ति की भावना राग, द्वेष आदि से भरे हुए इस संसार में फंसे हुए मुझ को परमानन्द के रस से पुष्ट करे, ताकि मैं स्वतंत्रता-पूर्वक चिदाकाश में विहार करूं ॥ ४ ॥

रागादिमये भवाण्डके—संसारगोलके, लुठितम्—अधोधः पतन्तं मां, त्वद्भक्तिभात्रनैव अम्बिका—माता, तैस्तैः—परमानन्दसारैः रसैराप्याययतु—तर्पयतु। यथा प्रवृद्धपक्षः—प्रकर्षेणासादितव्याप्तिज्ञानक्रियामयस्वात्मपक्षः। खगः—निर्मलचिद्गगनगतिर्भवामि। अण्डलुठितश्च पक्षी मात्रा रसैराप्यायितः, प्रवृद्धपक्षः खे[1] उड्डीनो गच्छतीति श्लेषोपमाध्वनिः॥ ४॥

त्वच्चरणभावनामृत-
रससारास्वादनैपुणं लभताम्।
चित्तमिदं निःशेषित-
विषयविषासङ्गवासनावधि मे॥ ५॥

(प्रभो = हे प्रभु !)
निःशेषित- = समाप्त कर ली है
विषय- = विषय रूपी
विष- = विष की
आसंग- = आसक्ति की
वासना- = इच्छा की
अवधि = अवधि जिस ने, ऐसा
इदं = यह
मे = मेरा
चित्तं = मन
त्वत्- = आप के
चरण- = चरणों की
भावना- = भक्ति-भावना रूपी
अमृत-रस- = अमृत-रस के
सार- = सार का
आस्वाद- = आस्वाद लेने (अर्थात् चमत्कार करने) की
नैपुणं = निपुणता को
लभताम् = प्राप्त करे॥ ५॥

त्वच्चरणभावना—त्वद्भक्तिचिन्ता[2], सैव अमृतरससारः—उत्कृष्टः आनन्दप्रसरः, तत्र आस्वादे—चमत्कारे, नैपुणं—वैदग्ध्यं ममेदं चित्तं लभताम्। कीदृशम्? निःशेषितः—समाप्तो विषयविषासंगवासनानां—वेद्यहालाहलव्यसनसंस्काराणामवधिर्मर्यादा येन॥ ५॥

---

१. ख० पु०, च० पु० खे गच्छति—इति पाठः।

२. ख० पु० त्वच्छक्तिचिन्ता—इति पाठः।

त्वद्भक्तितपनदीधिति-
संस्पर्शवशान्ममैष दूरतरम् ।
चेतोमणिर्विमुञ्चतु
रागादिक-तप्तवह्निकणान् ॥ ६ ॥

(प्रभो = हे स्वामी !)
एष = यह
मम = मेरा
चेतः- मणिः = हृदय रूपी (सूर्यकांत) रत्न
त्वद्- = आप की
भक्ति- = भक्ति रूपी
तपन- = सूर्य की
दीधिति- = किरणों के
संस्पर्श- = स्पर्श को
वशात्- = पा कर
राग- = राग
आदिक- = आदि
तप्त-वह्नि-कणान् = (वासनाओं के संस्कार रूपी) आग के गर्म ज़र्रों को
दूरतरं = पूर्ण रूप में
विमुञ्चतु = छोड़ दे ॥ ६ ॥

मम चेतोमणिरौचित्याच्चित्तसूर्यकान्तरत्नं, त्वद्भक्तितपनदीधिति-संस्पर्शवशात्—भवत्समावेशसूर्यकरासङ्गात्, रागादिकानेव तप्तवह्नि-कणान् मृष्टुमशक्यान्[1] स्फुलिंगान्, दूरतरम्—अत्यर्थं, मुञ्चतु—जहातु ॥ ६ ॥

तस्मिन्पदे भवन्तं
सततमुपश्लोकयेयमत्युच्चैः ।
हरिहर्यश्वविरिञ्चा
अपि यत्र बहिः प्रतीक्षन्ते ॥ ७ ॥

(अहं = मैं)
सततं = सदा
तस्मिन् = उस
अति-उच्चैः = अत्यन्त ऊंचे (अर्थात् अलौकिक)
पदे = स्थान पर
(तिष्ठन्तं = ठहरे हुए)
भवन्तं = आप की
उपश्लोकयेयं = स्तुति के गीत गाता रहूं,

१. ख० पु० द्रष्टुमशक्यान्—इति पाठः ।

यत्र = जहां
हरि- = भगवान् विष्णु,
हर्यश्व- = इन्द्र
विरिंचाः = और ब्रह्मा
अपि = भी
बहिः (एव) = बाहर (ही)
प्रतीक्षन्ते = प्रतीक्षा करते हैं ॥ ७ ॥

तस्मिन्नत्युच्चैः पदे—परशक्तिमार्गे त्वामुपश्लोकयेयं—श्लोकैः स्तवेयं[1] सम्यक् परामृशेयम। हर्यश्वः—इन्द्रः। बहिः प्रतीक्षन्ते—लिप्सवोऽपि वार्तानभिज्ञा इति यावत् ॥ ७ ॥

भक्तिमदजनितविभ्रम-
वशेन पश्येयमविकलं करणैः ।
शिवमयमखिलं लोकं
क्रियाश्च पूजामयी सकलाः ॥ ८ ॥

(**प्रभो** = हे ईश्वर !)
(**अहं** = मैं)
भक्ति- = (आप की) भक्ति (अर्थात् समावेश) के
मद- = हर्ष से
जनित- = उत्पन्न हुए
विभ्रम- = स्वरूप-विलास के
वशेन = कारण
करणैः = (अपनी आंख आदि) इन्द्रियों से
अविकलं = पूर्ण रूप में
अखिलं = (इस) समस्त
लोकं = जगत को
शिवमयं = शिव के रूप में
च = और
सकलाः = (अपने) सारे
क्रियाः = कार्यों को
(**त्वत्-** = आप की)
पूजामयीः = पूजा के रूप में
पश्येयम् = देखता रहूं ॥ ८ ॥

भक्तिमदेन—समावेशप्रहर्षेण जनितो यो विभ्रमो—लोकोत्तरो विलासस्तद्वशेन। करणैः—चक्षुरादिभिः। अविकलं—पूर्णं कृत्वा, करण-प्रसरात्मनि व्युत्थानेऽपि [2]श्रीभैरवीयमुद्राप्रवेशयुक्त्या समाविष्ट एव भूत्वा

१. ख० पु० स्तुवीय—इति पाठः।

२. श्रीभैरवीयमुद्राया लक्षणं यथा—

'अन्तर्लक्ष्यो बहिर्दृष्टिर्निमेषोन्मेषवर्जितः।
इयं सा भैरवीमुद्रा सर्वतन्त्रेषु गोपिता ॥' इति।

अखिलं लोकं—विश्वं[1] लोकं शिवमयम्, क्रियाश्च—वाङ्मनःकाय-व्यापृतीः सकलाः पूजामयीः—चिन्मयस्वरूपोल्लासरूपाः पश्येयम् ॥ ८ ॥

मामकमनोगृहीत-
त्वद्भक्तिकुलाङ्गनाणिमादिसुतान् ।
सूत्वा सुबद्धमूला
ममेति बुद्धिं दृढीकुरुताम् ॥ ९ ॥

(**नाथ** = हे स्वामी !)
मामक- = मेरे
मनः- = मन (रूपी प्राणेश्वर) से
गृहीत- = (प्राणेश्वरी के रूप में) स्वीकार की गई
त्वद्- = आप की
भक्ति- = भक्ति रूपिणी
कुल-अंगना = कुल-स्त्री
अणिमा-आदि- = (अभेद-सार) अणिमा आदि
सुतान् = पुत्रों को
सूत्वा = उत्पन्न कर के
(**इत्येवं** = और इस प्रकार)
सु-बद्ध-मूला = सुदृढ मूलों वाली अर्थात् प्रौढ (हो कर)
मम = '(ये) मेरे (ही अपने हैं)',
इति = ऐसी
बुद्धिं = (अपनी ममता-भरी) बुद्धि को
दृढीकुरुताम् = पुष्ट करे, (जिस के फलस्वरूप वह मेरे मन से कभी बिछुड़ न सके) ॥ ९ ॥

मामकेन मनसा गृहीता—प्राणेशत्वेन स्वीकृता येयं भक्तिरति-स्पृहणीयत्वात् सर्वजनागोचरत्वाच्च कुलाङ्गना—पत्नी, अथ च आगम-भाषया श्रीकुलेश्वरीरूपा । सा अणिमादीनेव सुतान् सूत्वा—अन्तः-स्थितानेवाभिव्यक्तिं नीत्वा, महाव्याप्त्या सुस्फुटतया परामृश्य, सुष्ठु बद्धमूला—प्ररूढा सति, 'मम इयद्विश्वं न तु अन्यस्य'—इति बुद्धिं दृढीकुरुतां—प्ररूढिं नयतु । अत्र च अभेदसारा अणिमादयोऽभिप्रेताः । तथाहि—चित्पद एव सर्वान्तर्भावक्षमत्वाद् अणिमा, व्यापकत्वान्महिमा, भेदमयगौरवाभावात् लघिमा, विश्रान्तिस्थानत्वात्प्राप्तिः, विश्ववैचित्र्य-ग्रहणात् प्राकाम्यम्, अखण्डितत्वादीशित्वं, सर्वं[1] सहत्वाद्यत्र कामाव-

1. ख० पु० 'विश्वं लोकम्'—इति पदद्वयं नास्ति ।

सायत्वं च। सत्यतः परिपूर्णतया विद्यते, अन्यत्र तु तत्प्रसादादति-परिमितं प्राप्तमिति कृत्वा पूर्णमेवात्र तदभिप्रेतं न त्वन्यत् पूर्णत्वेन नैराकाङ्क्षात्,

'आसतां तावदन्यानि दैन्यानि…।' शि० स्तो०, स्तो० ३, श्लो० १६ ॥

इत्याद्युक्तेर्व्याघातप्रसंगाच्च। एवमुत्तरत्रापि स्मर्तव्यमिति शिवम् ॥ ६ ॥

इति श्रीमदुत्पलदेवाचार्यविरचितस्तोत्रावलौ विधुर-
विजयनामके सप्तमे स्तोत्रे श्रीक्षेमराजाचार्य-
विरचिता विवृतिः ॥ ७ ॥



ॐ तत् सत्

अथ

अलौकिकोद्वलनाख्यमष्टमं स्तोत्रम्

यः प्रसादलव ईश्वरस्थितो
या च भक्तिरिव मामुपेयुषी ।
तौ परस्परसमन्वितौ कदा
तादृशे वपुषि रूढिमेष्यतः ॥ १ ॥

(**देव** = हे परमात्मा !)
ईश्वर- = (आप) ईश्वर के पास
स्थितः = ठहरा हुआ
यः = जो
प्रसाद-लवः = थोड़ा सा अनुग्रह है
या च = और जो
भक्तिः इव = थोड़ी सी भक्ति
माम् = मेरे पास
उपेयुषी = आई है,
तौ = वे दोनों
परस्पर- = एक दूसरे के साथ
समन्वितौ = सम्मिलित हो कर
तादृशे = वैसे (अलौकिक)
वपुषि = (सच्चिदानन्द) स्वरूप में
कदा = कब
रूढिम् = विकास को
एष्यतः = प्राप्त होंगे ? (अर्थात् ऐसा समय कब आएगा, जब मैं भक्ति करता रहूंगा और आप अनुग्रह करते रहेंगे ?) ॥ १ ॥

मायाकालुष्योपशान्त्या चितो नैर्मल्यं प्रसादः । तस्य लवः—अल्पता । पूर्णतायां तु देहापगमाच्छिवतैव । ईश्वर इति सप्तमी अनन्य-[1]भावे,—ईश्वरे एव स्थित इत्यर्थः । स एव हि चिद्रूपः तथा स्वयमेव प्रसीदति भक्तिप्रसादात् । ईश्वरस्य रूपोपमान्यप्रत्वम्[2] । इव शब्दो भक्तेः

१. ख० पु० अनन्यत्र भावे—इति पाठः ।
२. ख० पु० ईश्वरस्य रूपोपमान्यङ्गत्वमिति पाठः ।
ग० पु० ईश्वरस्वरूपोपमान्यप्रत्वमिति पाठः ।

परिमितताामाह;—काष्ठाप्राप्ता ह्यसौ मोक्षास्वादमय्येव । उपेयुषी—उपगतवती । तौ—भक्तिप्रसादौ परस्परं सम्यगन्वितौ तरुणाविव प्रेम[1]-निर्भरतया स्वानुरूप्येण सम्बद्धौ । तादृशे वपुषि इति—पर[2]मानन्दघनतैकमये पूर्णे स्वरूपे । रूढिं—विश्रान्तिम् ॥ १ ॥

त्वत्प्रभुत्वपरिचर्वणजन्मा
कोऽप्युदेतु परितोषरसोऽन्तः ।
सर्वकालमिह मे परमस्तु
ज्ञानयोगमहिमादि विदूरे ॥ २ ॥

(**ईश्वर** = हे स्वामी !)
इह = इस संसार में
परं = = केवल
त्वत्- = आप के
प्रभुत्व- = स्वामित्व के
परिचर्वण- = आस्वादन से
जन्मा = उत्पन्न हुआ
कोऽपि = अलौकिक
परितोष-रसः- = आनन्द-रस
सर्वकालं = सदैव (अर्थात् व्युत्थान में भी)
मे = मेरे
अन्तः = हृदय में
उदेतु, = विकसित होता रहे;
ज्ञान- = ज्ञान
योग- = और योग की
महिमा आदिः- = महिमा आदि (तो)
विदूरे = दूर ही
अस्तु = रहे, (अर्थात् उनसे मुझे कोई प्रयोजन नहीं) ॥ २ ॥

त्वत्प्रभुत्वस्य—त्व[3]त्स्वामित्वस्य
'गर्जामि बत............... ।' स्तो० ३, श्लो० ११ ॥

इति प्रागुक्तश्लोकयुक्त्या यत् परिचर्वणं, ततो जन्म यस्य मम [4]कोऽपि—अलौकिकः, परितोषरसः—आनन्दप्रसरः, इहेति—जगति ।

१. ख० पु० प्रेमनिर्भरौ—इति पाठः ।
२. ख० पु० परानन्दघनतैकमये—इति पाठः ।
ग० पु० परमानन्दघनतैकसारे—इति पाठः ।
३. ख० पु० त्वत्स्वामिकत्वस्येति पाठः ।
४. ग० पु० स कोऽपि—इति पाठः ।

सर्वकालं—व्युत्थानावसरेऽपि । परं—केवलम् । उदेतु—उल्लसतु । ज्ञानं—विश्वमयस्वात्मप्रतिपत्तिः । योगः—तत्तद्भूमिकालाभः । तयोर्महिमा—प्रकर्षः । आदिपदात्[1]तत्सिद्ध्युदयरूपः फलम् ॥ २ ॥

लोकवद्भवतु मे विषयेषु
स्फीत एव भगवन्परितर्षः ।
केवलं तव शरीरतयैतान्
लोकयेयमहमस्तविकल्पः ॥ ३ ॥

भगवन् = हे भगवान् !
लोक-वत् =(अन्य) लोगों की तरह
मे = मुझे
(**अपि** = भी)
विषयेषु = विषयों के प्रति
स्फीतः एव = बहुत बड़ी
परितर्षः = तृष्णा
भवतु = बनी रहे
केवलं = पर केवल इतनी सी बात हो कि
अहम् = मैं
अस्त- = नष्ट हुए
विकल्पः = विकल्पों वाला
(**सन्** = होकर)
एतान् = इन (विषयों) को
तव = आप के
शरीरतया = स्वरूप से ही
लोकयेयम् = देखता रहूं ॥ ३ ॥

महार्थमुद्रामुद्रित[2]स्येयमुक्तिः । हे भगवन् मम लोकस्येव विषयेषु—रूपादिषु, स्फीतः—बहल एव परितर्षः—स्पृहयालुता अस्तु, किन्तु एतान्—विषयान् अहम् अस्तविकल्पः—गलितभेदप्रतिपत्तिः सन्, तव—चिदात्मनः शरीरतया—अहन्तासारत्वेन, लोकयेयं—पश्येयम् ॥ ३ ॥

देहभूमिषु तथा मनसि त्वं
प्राणवर्त्मनि च भेद[3]मुपेते ।
संविदः पथिषु तेषु च तेन
स्वात्मना मम भव स्फुटरूपः ॥ ४ ॥

१. ख० पु० तत्सिद्ध्युदयरूपः फलम्—इति पाठः ।
२. ग० पु० मुद्रितस्योक्तिः इति पाठः ।
३. ख० पु० भेदमुपेतः—इति पाठः ।

(**प्रभो** = हे ईश्वर !)
देह- = देह-भूमियों
भूमिषु = (अर्थात् बुढ़ापा, मृत्यु आदि अवस्थाओं) में
तथा = और
मनसि = (संकल्प-विकल्प-मय) मन में
च = तथा
भेदम् = भेद को
उपेते = प्राप्त हुए
प्राण-वर्त्मनि = प्राण-मार्ग में (अर्थात् सुख-दुःख आदि अवस्थाओं में)
च = एवं
तेषु = उन
संविदः = ज्ञान-सम्बन्धी
पथिषु = मार्गों में (अर्थात् सभी व्यावहारिक नील-पीत आदि ज्ञानों में)
त्वं = आप
तेन = उस
स्वात्मना = चिदानन्द रूपी अलौकिक स्वरूप में
मम = मुझे
स्फुट-रूपः = प्रत्यक्ष दर्शन
भव = दीजिए ॥ ४ ॥

देहभूमिषु—जरामरणाद्यवस्थासु, मनसि—कल्पनासारे,[1] प्राण-वर्त्मनि—सुखदुःखादिस्पर्शमये, सम्विदः पथिषु—नीलादिज्ञानेषु, तेषु इति—विचित्रेषु, भेदमुपेते[2] इति—नपुंसकशेषः,[3] सर्वस्मिन्नस्मिन्नभिहिते प्रकारे भेदमये सतीति यावत्। तेनेति—स्वात्मनि चमत्कृतेन चिद्धनेन, स्वात्मना—स्वरूपेण, मम स्फुटरूपः—स्वप्राधान्येन स्फुरन् भव ॥ ४ ॥

निजनिजेषु पदेषु पतन्त्विमाः
करणवृत्तय उल्लसिता मम।
क्षणमपीश मनागपि मैव भूत्
त्वदविभेदरसक्षतिसाहसम् ॥ ५ ॥

ईश = हे स्वामी !
इमाः = ये
मम = मेरी
उल्लसिताः = उल्लास अर्थात् आनन्द से भरी हुई
करण- = इन्द्रियों की

१. ख० पु० विकल्पनासारे—इति पाठः।
२. ग० पु० भेदमुपेतः—इति पाठः।
३. ख० पु० नपुंसकविशेषः—इति पाठः।

वृत्तयः = वृत्तियां
निज-निजेषु = अपने-अपने
पदेषु = विषयों में
पतन्तु = लगी रहें,
(**परन्तु** = किन्तु)
(**मम** = मुझे)
त्वद्- = आप के
अविभेद-रस- = अद्वयानन्द-रस से
क्षति- = वञ्चित होने का
साहसं = साहस
क्षणम् अपि = क्षण भर के लिए भी
मनाक् अपि = और जरा सा भी
मैव भूत् = न हो (अर्थात् मैं आप के विरह को न सह सकूं) ॥ ५ ॥

इमाः मम करणवृत्तयः—चक्षुरादिसंविद्देव्यः। उल्लसिताः—अलौकिकेन निजौजसा सोल्लासाः। स्वेषु स्वेषु रूपादिषु विषयेषु प्रसरन्तु। त्वदविभेदरसक्षतिः—त्वत्समावेशच्युतिः,[1] सैव साहसम्—अविमृश्य-[2]कारित्वं मैव भूत। पूर्वत्र[3] विषयेषु परितर्षः आकांक्षात्मा[4] उक्तः, इह तु तत्र सम्विदां प्रसरः,—इति विशेषः ॥ ५ ॥

लघुमसृणसिताच्छशीतलं
भवदावेशवशेन भावयन् ।
वपुरखिलपदार्थपद्धते-
र्व्यवहारानतिवर्तयेय तान् ॥ ६ ॥

(**प्रभो** = हे स्वामी !)
भवत्- = आप के
आवेश- = स्वरूप-समावेश के
वशेन = प्रभाव से
(**अहं** = मैं)
लघु- = (माया के गौरव से रहित होने से) हल्के,
मसृण- = (सुखदायक स्पर्श वाला होने से) कोमल,
सित- = (प्रकाश-स्वरूप होने से) श्वेत,
अच्छ- = (विश्व-प्रतिबिम्ब-धारी होने से) निर्मल,
शीतलं = और (संसार-ताप-हारक होने से) शीतल

१. ख० पु० समावेशच्युतिः—इति पाठः।
२. ख० पु० अविमृश्यकारिता—इति पाठः।
३. ख० पु० सर्वत्रेति पाठः।
४. ख० पु० आकांक्षा—इति पाठः।

वपुः = (आप के आनन्द-मय) स्वरूप की
भावयन् = भावना करते हुए
तान् = उन
अखिल- = सब
पदार्थ- = भाव-वर्ग-सम्बन्धी
पद्धतेः = प्रणालियों के
व्यवहारान् = (भेद-रूप लौकिक) व्यवहारों को
अतिवर्तयेय = छोड़ दूं ॥ ६ ॥

भवदावेशवशेन मायीयगुरुत्वहान्या लघु । सुखस्पर्शत्वान्मसृणं[1] । प्रकाशघनत्वात्, सितं । अच्छं शीतलं चेति प्राग्वत् । भावयन्—सम्पादयन्, निखिलायाः पदार्थपद्धतेः—मातृमेयराशेः सम्बन्धिनो व्यवहारान्—लौकिकान् परिस्पन्दान्, अतिवर्तयेय—निवर्तयेय ॥ ६ ॥

विकसतु स्ववपुर्भवदात्मकं
समुपयान्तु जगन्ति ममाङ्गताम् ।
व्रजतु सर्वमिदं द्वयवल्गितं
स्मृतिपथोपगमेऽप्यनुपाख्यताम् ॥ ७ ॥

(**प्रभो** = हे भगवान् !)
स्व-वपुः = मेरी आत्मा
भवत्- = आप का
आत्मकं = स्वरूप
(**सन्** = होकर)
विकसतु = खिल उठे ।
जगन्ति = (पृथ्वी से लेकर सदाशिव तक के सारे) लोक
मम = मेरे
अंगतां = अंग
समुपयान्तु = बन जायें !
इदं = यह
सर्वं = सारा
द्वय- = भेद-प्रथा का
वल्गितं = विकास
स्मृत-पथ- = स्मृति-पथ में
उपगमे = आकर
अपि = भी (अर्थात् याद पड़ने पर भी)
अनुपाख्यतां व्रजतु = सर्वथा भूल जाये (अर्थात् इस के साथ मेरा दूर का सम्बन्ध भी न रहे) ॥७॥

स्वं—चिन्मयं भवदात्मकं वपुः—स्वरूपं विकसतु। अत एव जगन्ति—धरादिसदाशिवान्तानि मम अङ्गताम्—अभिन्नतां, सम्यक्—अपुनरुत्था-

१. ख० पु० सुखस्पर्शादिति इति पाठः ।

नेनोपयान्तु। ततश्च सर्वं द्वयवल्गितं—भेदविजृम्भितं, स्मृतिपथोपगमेऽपि[1] अनुपाख्यतां—स्मृतेरविषयतां व्रजतु ॥ ७ ॥

समुदियादपि तादृशतावका-
ननविलोकपरामृतसम्प्लवः ।
मम घटेत यथा भवदद्वया-
प्रथनघोरदरीपरिपूरणम् ॥ ८ ॥

(**नाथ** = हे स्वामी !)
तादृश- = (काश) उस
तावक- = (स्वातन्त्र्य-शक्ति रूपी) आप के
आनन- = मुख का
विलोक- = दर्शन रूपी
पर-अमृत- = परमामृत की
संप्लवः = बाढ़
अपि = भी
समुदियात् = (कभी) आ जाती,
यथा = जिस से
मम = मेरे लिए
भवद्- = आप के
अद्वय- = अद्वैत-स्वरूप का
अप्रथन- = अदर्शन रूपी
घोर- = भयंकर
दरी- = खंदक
परिपूरणं घटेत = पूर्ण रूप में भर जाये (अर्थात् जिस से आप के स्वरूप का दर्शन करने में कोई बाधा न रहे) ॥ ८ ॥

भवदद्वयाप्रथनं—चिदैक्याप्रथा, सैव घोरा—दुष्पूरा संसारभयप्रदा दरी—खदा, तस्याः परिपूरणं—चिदैक्यसाक्षात्कारः, मम यथा घटेत तथा तादृशं—परमानन्दनदी प्रसरहेतुः यत्तावकमाननं

'शैवी मुखम्............... ।' वि० भै०, श्लो० २० ॥

इत्यादि स्थित्या परशक्तिरूपं, तेन यो विलोकः—अवलोकनमनुग्रहः[2], तस्य वावलोकः[3]—स्मरणं, स एव परामृतसम्प्लवः—परस्पर्शरसौघोऽपि[4] समुदियात्—इति रुद्रशक्तिसमावेशप्रकर्षमाशास्ते ॥ ८ ॥

१. ख० पु० पथोपगमे—इति पाठः ।
२. ख० पु० विलोकने अनुग्रहः—इति पाठः ।
३. ग० पु०, च० पु० विलोकः—इति पाठः ।
४. ग० पु० परःस्पर्शरसौघोऽपीति पाठः ।

अपि कदाचन तावकसङ्गमा-
मृतकणाच्छुरणेन तनीयसा ।
सकललोकसुखेषु पराङ्मुखो
न भवितास्म्युभयच्युत एव किम् ॥ ९ ॥

(**नाथ** = हे ईश !)
कदाचन = किसी समय होने वाले
तनीयसा = जरा से
तावक- = आप के
संगम- = समागम रूपी
अमृत- = अमृत की
कण- = बूंदों के
आच्छुरणेन = छिड़काव से
सकल- = समस्त
लोक- = सांसारिक
सुखेषु = सुखों से
पराङ्मुखः = विमुख बना हुआ
(**अहं** = मैं)
किम् = क्या
उभय- = दोनों (अर्थात् परमार्थ तथा लौकिक सुख) से
च्युतः = वञ्चित
एव = ही तो
न = नहीं
भवितास्मि = हो जाऊंगा ? ॥ ९ ॥

तावकसङ्गमः—त्वत्समावेश एव अमृतकणाच्छुरणं सुधाशीकरा[1]प्लावः । तनीयसा—प्रसरन्निर्मलस्वरूपेण । सकलेषु लौकिकेषु सुखेषु

'सर्वं दुःखं विवेकिनः' ।

इति स्थित्या हेयेष्वपि, परामृताच्छुरितत्वात् पराङ्मुखो न भवितास्मि—सम्मुख एव भविष्यामि । कीदृक् ? उभयस्मात्—द्वैताच्च्युत एव—हेयोपादेयहान्या सर्वमभेदेन पश्यन्नित्यर्थः ॥ ९ ॥

सततमेव भवच्चरणाम्बुजा-
करचरस्य हि हंसवरस्य मे ।
उपरि मूलतलादपि चान्तरा-
दुपनमत्वज भक्तिमृणालिका ॥ १० ॥

---

१. ख० पु० आप्लावनमिति पाठः ।

अज = हे जन्म-रहित प्रभु !
सततम् = सदा
एव = ही
भवत् = आप के
चरण-अम्बुज- = चरण-कमलों के
आकर- = (पराशक्ति रूपी) सरोवर में
चरस्य = संचार करने वाले
मे = मुझ
हंसवरस्य = राजहंस को
(भवत्- = आप की)
भक्ति- = भक्ति रूपिणी
मृणालिका = कमल की डण्डी
उपरि = ऊपर से (अर्थात् स्वरूप-प्रवेश के समय),
मूलतलात् अपि = नीचे से (अर्थात् स्वरूप-विश्रांति के समय)
च = और
अन्तरात् अपि = मध्य में (अर्थात् स्वरूप-साक्षात्कार रूपी मध्य-काल में भी)
उपनमतु = प्राप्त हो (अर्थात् मेरी आत्मा आप की भक्ति का आनन्द सदा उठाती रहे) ॥ १० ॥

मम हंसवरस्य—भेदाभेदयोर्हानसमादानधर्मिणो व्याख्यातदृशा सततमेव भवच्चरणाम्बुजानाम्[1] आकरः—उत्पत्तिस्थानं पराशक्तिभूस्तत्र[2] विचारिणः । भक्तिरेव मृणालिकाबिसाङ्कुरः । उपनमतु—उपभोग्या[3] अस्तु । उपरि—इत्यादि प्रवेशमध्यविश्रान्तिभूमिभ्यः सर्वाभ्य एवेत्यर्थः । हंसः—आत्मा ॥ १० ॥

उपयान्तु विभो समस्तवस्तून्यपि
चिन्ताविषयं दृशः पदं च ।
मम दर्शनचिन्तनप्रकाशा-
मृतसाराणि परं परिस्फुरन्तु ॥ ११ ॥

विभो = हे व्यापक ईश्वर !
समस्त- = (संसार की) सारी
वस्तूनि = वस्तुएँ
अपि = भी
मम = मेरी
चिन्ता- = चिन्ता (अर्थात् विकल्पों) के

१. ख० पु० भवच्चरणाम्बुजमाकर—इति पाठः ।
२. ग० पु० पराशक्तिभूः—इति पाठः ।
३. ख० पु० उपभोग्यमस्तु—इति पाठः ।

विषयं = विषय
च = और
दृशः = (मेरे) नेत्र (आदि इन्द्रियों) के
पदं = विषय
उपयान्तु = बन जाएं,
परं = पर केवल (इतनी सी बात हो कि)
दर्शन- = दर्शन
चिन्तन- = और चिन्तन के समय (वे)
प्रकाश- = प्रकाश
अमृत- = और अमृत (अर्थात विमर्श) रूपी
साराणि = सार वाले (हो कर)
परिस्फुरन्तु = खिल उठें ॥ ११ ॥

चिन्ताविषयं—विकल्प्यताम्[1]। दृशः पदं—साक्षात्कार्यत्वम्[2]। दर्शन-चिन्तनयोरविकल्पसविकल्पयोः प्रकाशामृतं—बोधरसायनमेव सारम्—उत्कृष्टं रूपं येषां, तानि हेयोपादेयकलङ्कशून्यानि समस्तानि वस्तूनि परं—केवलं परितः—समन्तात् स्फुरन्तु ॥ ११ ॥

परमेश्वर तेषु तेषु कृच्छ्रे-
ष्वपि नामोपनमत्स्वहं भवेयम् ।
न परं गतभीस्त्वदङ्गसङ्गा-
दुपजाताधिकसम्मदोऽपि यावत् ॥ १२ ॥

परमेश्वर = हे परमेश्वर !
अहं = मैं
तेषु तेषु = उन अनेक
कृच्छ्रेषु = दुःखों के
उपनमत्सु = आने पर
अपि = भी
न परं = न केवल
गत-भीः = दूर हुए भय वाला (अर्थात् निर्भय)
(**एव** = ही)
भवेयं = बना रहूं
यावत् = बल्कि
त्वद्- = आप के
अङ्ग- = (चित् रूपी) शरीर के
सङ्गात् = स्पर्श से
उपजात- = होने वाले
अधिक- = अत्यन्त
सम्मदः = हर्ष को
अपि = भी
भवेयम् = प्राप्त करता रहूं ॥ १२ ॥

कृच्छ्रेषु—क्लेशेषु न केवलमहं गतभीः—त्यक्तभयस्त्वदङ्गसङ्गात्—

१. ख० पु०, च० पु० कल्पन्तामिति—पाठः, ग० पु० विकल्पतामिति च पाठः ।
२. ग० पु० साक्षात्कार्यत्वादिति—पाठः ।

रुद्रशक्तिसमावेशात्, यावदुपजातः अधिकः—उत्कृष्टः सम्मदो—हर्षो यस्य तादृगपि भवेयम्। अधिकशब्दस्यायमाशयः यदुत तत्तद्दुःखेष्व-प्युदितेष्वविलुप्तस्थितिस्तत्कवलनक्रमेण महावीरतया पूर्णामेव चिद्वृत्तिं प्राप्नुयाम् ॥ १२ ॥

भवदात्मनि विश्वमुम्भितं यद्
भवतैवापि बहिः प्रकाश्यते तत्।
इति यद्दृढनिश्चयोपजुष्टं
तदिदानीं स्फुटमेव भासताम् ॥ १३ ॥

(प्रभो = हे ईश्वर !)
यत् = "जो
(इदं = यह)
विश्वं = जगत
भवत्-आत्मनि = आप के (तुर्यानन्द-मय) स्वरूप (रूपी सूत्र) में
उम्भितं = पिरोया गया है,
तत् = वह
भवता = आप के स्वरूप से
एव = ही
बहिः अपि = (भेद-प्रथा के रूप में) बाहर से भी
प्रकाश्यते = प्रकाशित किया जाता है,"
इति = इस प्रकार
यत् = जो (यह बात मैं ने)
दृढ-निश्चय- = दृढ़ निश्चय से
उपजुष्टं = अपनाई है (अर्थात् समा-वेश में अनुभव की है)
तदिदानीम् (अपि) = वह अब भी (अर्थात् व्युत्थान में भी) (मुझे)
स्फुटम् एव = प्रत्यक्ष रूप में
भासताम् = दिखाई दे ॥ १३ ॥

यद्विश्वं—व्योमकलातः कालानलान्तं भवदात्मनि उम्भितं—त्वच्चित्सूत्रप्रोतं, तद्भवतैव न तु अन्येन। बहिरिति—तत्तत्प्रमात्रपेक्षया बाह्यत्वेन प्रकाश्यते। अपिशब्दो बहिःप्रकाशनेऽपि अन्तःप्रकाशनाविरहमाह[1]। इति यद्वस्तु वाक्यार्थरूपं दृढेन—निश्चलेन निश्चयेन उप—आत्मसमीपे, जुष्टं—प्रीत्या सेवितं, समावेशेनास्वादितं, तदिदानीमिति—व्युत्थानेऽपि, स्फुटमेव भासतां—प्रत्यक्षीभवतु इति शिवम् ॥ १३ ॥

इति श्रीमदुत्पलदेवाचार्यविरचितस्तोत्रावलौ अलौकिकोद्बलना-ख्येऽष्टमे स्तोत्रे श्रीक्षेमराजाचार्यविरचिता विवृतिः ॥ ८ ॥

---

१. ख० पु० अन्तःप्रकाशाविरहमाह—इति पाठः।

ॐ तत् सत्

अथ

स्वातन्त्र्यवेजयाख्यं नवमं स्तोत्रम्

कदा नवरसार्द्रार्द्र-
सम्भोगास्वादनोत्सुकम् ।
प्रवर्तेत विहायान्यन्
मम त्वत्स्पर्शने मनः ॥ १ ॥

(**नाथ** = हे स्वामी !)
नव- = नित नये
रस- = (भक्ति के) रस से
आर्द्र-आर्द्र- = अत्यन्त कोमल (अर्थात् अत्यन्त स्पृहणीय)
सम्भोग- = (समावेश रूपी) सम्भोग का
आस्वादन- = चमत्कार करने के लिये
उत्सुकं = लालायित बना हुआ
मम = मेरा
मनः = हृदय
अन्यत् (सर्वं) = और सब कुछ (अर्थात् कल्पनाओं का जाल आदि)
विहाय = छोड़कर
त्वद्- = आप का
स्पर्शने = स्पर्श करने में
कदा = भला कब
प्रवर्तेत = लग जाये ? (अर्थात् कब आप के समावेश का अनुभव करेगा ?) ॥ १ ॥

नवरसेन—नूतनभक्तिप्रसरेण[1] आर्द्रार्द्रः—सातिशयं स्पृहणीयो यः समावेशात्मा सम्भोगः, तदास्वादे उत्सुकं—सोत्कण्ठं मम मनः, अन्यत्—कल्पनाजालं विहाय त्वत्स्पर्शने प्रवर्तेत—त्वत्समावेशमयं भवेत् ॥ १ ॥

त्वदेकरक्तस्त्वत्पाद-
पूजामात्रमहाधनः ।

---

१. ख० पु० प्रसारेण च—इति पाठः ।

कदा साक्षात्करिष्यामि
भवन्तमयमुत्सुकः ॥ २ ॥

(**प्रभो** = हे ईश्वर !)
त्वद्-एक-रक्तः = केवल आप में ही अनुरक्त बना हुआ
त्वद्- = (तथा) आप के
पाद- = चरणों की
पूजा- = पूजा ही
मात्र- = केवल
महाधनः = जिसकी बड़ी धन-सम्पत्ति है, ऐसा
उत्सुकः = (और इसी लिये आप को पाने के लिए) लालायित बना हुआ
अयम् (**अहं**) = मैं
भवन्तं = आप (के चिदानन्द स्वरूप) का
कदा = भला कब
साक्षात्- = प्रत्यक्ष दर्शन
करिष्यामि = करूंगा ? ॥ २ ॥

त्वय्येवैकत्र न तु विभूतिषु रक्तः। अत एव त्वत्पादपूजामात्रं— त्वन्मरीचिसपर्यैव महत्—स्फीतं धनं यस्य।

'प्रमा समाप्तोत्सवम्'

इति स्थित्या क्षणमात्रमपि व्युत्थानमसहमानः उत्सुकः सन् कदा त्वां साक्षात्करिष्यामि ॥ २ ॥

ततोऽपि—

गाढानुरागवशतो
निरपेक्षीभूतमानसोऽस्मि कदा ।
पटपटिति विघटिताखिल-
महार्गलस्त्वामुपैष्यामि ॥ ३ ॥

(**परमात्मन्** = हे परमेश्वर !)
गाढ- = अत्यन्त
अनुराग- = अनुराग के
वशातः = कारण
(**अहं** = तो मैं)
निरपेक्षीभूत- = आकांक्षा-रहित
मानसः = हृदय वाला
अस्मि (**एव**) = हूँ ही,
पटपट्-इति- = (अब) पट पट शब्द करके
विघटित- = तोड़ी हुई
अखिल- = समस्त

महा-अर्गलः =(अविद्या आदि रूपिणी) बड़ी अर्गलाओं वाला (अर्थात् तोड़े हुए समस्त बन्धनों वाला)
(**सन्** = होकर)
कदा = कब
त्वाम् = आप के पास
उपैष्यामि = *पहुंच जाऊंगा ॥ ३ ॥

निरपेक्षीभूतम्—उच्चारकरणध्यानाद्यन्तर्मुखं तत्सर्वं परिहरत् मानसं यस्य स तथाविधः, कदा त्वामुपैष्यामि—ऐकध्येन प्राप्स्यामि। कीदृक्? पटपटिति विघटितानि—झटिति त्रुटितानि, अखिलानि मायीयानि अर्गलानि—अविद्यादिपाशा यस्य। पटपटिति—इत्याद्युक्त्या अपुन-[1]रुत्थानत्रुटितपाशान्तरसाधर्म्यमुक्तम् ॥ ३ ॥

स्वसंवित्सारहृदया-
धिष्ठानाः सर्वदेवताः ।
कदा नाथ वशीकुर्यां
भवद्भक्तिप्रभावतः ॥ ४ ॥

नाथ = हे स्वामी !
भवत्- = आप की
भक्ति- = (समावेश रूपिणी) भक्ति के
प्रभावतः = प्रभाव से
(**अहं** = मैं)
स्व-संवित्- = (प्रकाश और विमर्श-रूप) स्वात्म-संवित्ति के
सार- = सार
हृदय- = (चित्प्रकाश रूपी) हृदय में
अधिष्ठानाः = ठहरने वाली
सर्व-देवताः = सभी इन्द्रिय-देवियों को
कदा = भला कब
वशीकुर्याम् = वश में करूं (अर्थात् इन को अपने अधीन बना सकूं)?

स्वसंवित्सारं—प्रकाशविमर्शात्मकं हृदयमधिष्ठानम्—आश्रयो यासां ताः सर्वाः ब्राह्म्यादिका देवताः, याभिः

---

* अर्थात् आपके स्वरूप की एकता प्राप्त करूंगा ।

१. ख० पु० अपुनरुत्थानम्—इति पाठः ।

..............'[1]शक्तिचक्रस्य भोग्यताम् ।

..............गतः'.............. ॥ स्पं०, ३ नि०, १३ श्लो० ॥

इति स्थित्या पशवः पाशिताः । ताः कदा भवद्भक्तेः—समावेशात्मनः प्रभावाद्वशीकुर्यां—तच्चक्रैश्वर्यं प्राप्नुयामिति यावत् ॥ ४ ॥

कदा मे स्याद्विभो भूरि
भक्त्यानन्दरसोत्सवः ।
यदालोकसुखानन्दी
पृथङ्नामापि [2]लप्स्यते ॥ ५ ॥

विभो = हे व्यापक ईश्वर !
भक्ति- = (आप की) भक्ति रूपी
आनन्द-रस- = आनन्द-रस का (वह)
उत्सवः = उत्सव
कदा = भला कब
मे = मुझे
भूरि = प्रभूत-मात्रा में
स्यात् = प्राप्त होगा,
यदा = जब (अर्थात् जिस अवस्था में)
पृथक्- = भिन्न भिन्न
नामा = नामों वाला (होते हुए)
अपि = भी
(**अयं** = यह)
(**भाववर्गः** = भाव-वर्ग)
आलोक- = चित्-प्रकाश के
सुख-आनन्दी = आनन्द-रस से प्रपूरित बना हुआ
लप्स्यते = कहलायेगा ? ॥ ५ ॥

भूरि—प्रभूतः । उत्सवोक्त्या अतिस्पृहणीयत्वात्तदे[3]कव्यग्रतामात्मन आशास्ते । पृथङ्नामेत्यनेन परं सामरस्यं सू[4]चयति ॥ ५ ॥

१. तदुक्तं श्रीस्पन्दे—

'शब्दराशिसमुत्थस्य शक्तिवर्गस्य भोग्यताम् ।
कलाविलुप्तविभवो गतः सन् स पशुः स्मृतः' ॥ १३ ॥

इति ।

२. घ० पु० लप्स्यसे—इति पाठः ।

३. ख० पु०, च० पु० तदेकव्यग्रमात्मानमाशास्ते—इति पाठः ।

४. ग० पु० पूरयतीति—पाठः ।

ईश्वरमभयमुदारं
पूर्णमकारणमपह्नुतात्मानम् ।
सहसाभिज्ञाय कदा
स्वामिजनं लज्जयिष्यामि ॥ ६ ॥

(**प्रभो** = हे प्रभु !)
ईश्वरम् = सर्व-ऐश्वर्य-सम्पन्न
अभयम् = अभय-स्वरूप
उदारं = उदार-चित्त
पूर्णम् = पूर्ण अर्थात् आकांक्षारहित
अकारणम् = कारण-रहित अर्थात् नित्य-स्वरूप
(**तथा** = और)
अपह्नुत-आत्मानं = (अपनी स्वातंत्र्य-शक्ति से) छिपाये हुए स्वरूप वाले
स्वामि-जनं = (आप) स्वामी को
सहसा = (शांभव-आवेश से) एकबारगी
अभिज्ञाय = पहचान कर (अर्थात् प्रत्यक्ष दर्शन करके)
(**अहं** = मैं)
कदा = भला कब
लज्जयिष्यामि = लज्जित करूंगा ? (अर्थात् आप को भक्त-जनों में प्रकट करूंगा) ? ॥ ६ ॥

अशेषविभूत्यास्पदत्वादीश्वरम् । अप्रतियोगित्वादभयम् । सर्वप्रदत्वादुदारम् । निराकाङ्क्षत्वात्पूर्णम् । नित्यत्वादकारणम् । अथ च अकारणं—निर्निमित्तमेव जगद्रूपताग्रहणेन[1] स्वरूपगोपनासारत्वादपह्नुतात्मानम्[2] । यो हि अनीश्वरादिरूपः स गोपायतामात्मानं[3] भगवांस्तु नैवम्[4] । अथ च गोपितात्मैवेति[5] । ईदृशं स्वामिजनं—निजप्रभुं, सहसोत—शाम्भवावेशयुक्त्या कदा अभिज्ञाय—साक्षात्कृत्य, लज्जयिष्यामि—अपह्नुतिप्रधानतद्रूपगुणीकारेण पूर्णचिदेकरूपतयैव प्रथयेय[6] इत्यर्थः ॥ ६ ॥

१. ख० पु० जगद्रूपताग्रहणे—इति पाठः ।
२. ख० पु० गोपनसारत्वादिति पाठः ।
ग० पु० गोपनसतत्त्वादिति च पाठः ।
३. ख० पु० गोपयतामात्मानमिति पाठः ।
४. ख० पु० नैवेति पाठः ।
५. ख० पु० अथ चागोपितात्मैवेति पाठः ।
६. ग० पु० प्रथयेति पाठः ।

कदा कामपि तां नाथ
तव वल्लभतामियाम् ।
यया मां प्रति न क्वापि
युक्तं ते स्यात्पलायितुम् ॥ ७ ॥

नाथ = हे स्वामी !
तव = आप की
तां = उस
कामपि = अलौकिक
वल्लभताम् = प्रेमपात्रता अर्थात् कृपापात्रता को
(**अहं** = मैं)
कदा = भला कब
इयाम् = प्राप्त करूं (अर्थात् मैं कब आप की कृपा का पात्र बनूं),
यया = जिस (कृपा के प्रभाव) से
मां प्रति = मेरे विषय में (अर्थात् मेरे सामने से)
ते = आप का
पलायितुं = भागना (अर्थात् अपने स्वरूप को छुपाना)
क्वापि = किसी दशा में भी
युक्तं = ठीक
न स्यात् = नहीं होगा ? ॥ ७ ॥

'तव वल्लभताम्'—इत्युक्त्या[1] इदमाह—मम तावदत्यन्तवल्लभोऽसि । तव तु अहमलौकिकभक्तिप्रकर्षात् कदा कामपि—असामान्यां प्रसादपात्रतां प्राप्नुयां यया वल्लभतया मां प्रति—मदाभिमुख्येन तव न क्वापि पलायितुं—स्वात्मानं गोपयितुं[2] युक्तं स्यात्; सततमेव अन्तराविश्य तिष्ठेरित्यर्थः[3] ॥ ७ ॥

तत्त्वतोऽशेषजन्तूनां
भवत्पूजामयात्मनाम् ।
दृष्ट्यानुमोदितरसा-
प्लावितः स्यां कदा विभो ॥ ८ ॥

१. ख० पु० इत्युक्त्वा—इति पाठः ।
२. ख० पु० गोपायितुमिति पाठः ।
३. ग० पु० तिष्ठ इत्यर्थः—इति पाठः ।

विभो = हे व्यापक प्रभु !
(**अहं** = मैं)
कदा = भला कब
अशेष- = सभी
जन्तूनां = प्राणियों को
तत्त्वतः = यथार्थ रूप में
भवत्- आप की
पूजा- = पूजा करने में
मय- = लगे हुए
आत्मनां = स्वरूप वाले
(**दृष्ट्वा** = देखकर)
दृष्ट्या = (इस पारमार्थिक) दृष्टि का आश्रय लेकर
अनुमोदित-रस- = आनन्द-रस से
आप्लावितः = आप्लावित अर्थात् व्याप्त
स्याम् = हो जाऊं ? ॥ ८ ॥

सर्वे जन्तवः परमार्थतो यत्किंचित्कुर्वाणाः स्वात्मदेवताविश्रान्तिसार-भवत्पूजामयाः। एतेषां सम्बन्धिन्या तत्त्वतो दृष्ट्या—त्वदनुग्रहमहिमोत्थेन[1] स्वात्मप्रत्यभिज्ञानेन हेतुना, तैरेवानुमोदितः—श्लाघितो यो रसो—भक्त्यानन्दप्रसरस्तेन आप्लावितः—व्याप्तः कदा स्याम्। तत्त्वत इत्यावृत्त्या योज्यम्। अथ वा अशेषजन्तूनामिति कर्मणि षष्ठी। ततश्चायमर्थः—कदा अशेषजन्तून् तत्त्वतो भवत्पूजामयान् दृष्ट्वा[2] अनुमोदनरसेन—आनन्दप्रसरेण आप्लावितः स्याम्—इति। अत्रानुमोदित[3] इति भावे क्तः। उभयत्रापि व्याख्याने 'मत्समः सर्वोऽस्तु'—इत्याशंसातात्पर्यम् ॥ ८ ॥

ज्ञानस्य परमा भूमि-
र्योगस्य परमा दशा।
त्वद्भक्तिर्या विभो कर्हि
पूर्णा मे स्यात्तदर्थिता ॥ ९ ॥

विभो = हे व्यापक स्वामी !
या = जो
त्वद्-भक्तिः = (स्वरूप-समावेश रूपिणी) आप की भक्ति
ज्ञानस्य = ज्ञान की
परमा = सर्वोत्कृष्ट
भूमिः = अवस्था
(**तथा** = और)

---

१. ख० पु० महिमोक्तेनेति पाठः।
२. घ० पु० दृष्ट्या—इति पाठः।
३. ग० पु० अत्रानुमोदितमिति पाठः।

योगस्य = योग की
परमा दशा (मता) = पराकाष्ठा (मानी गई) है,
तदर्थिता मे=उस के लिए मेरी प्रार्थना
कर्हि = कब
पूर्णा = पूर्ण अर्थात् कृतार्थ
स्यात् = होगी ? (अर्थात् मुझे वह भक्ति कब प्राप्त होगी ?) ॥ ९ ॥

सर्वशास्त्रेषु ज्ञानं मुक्तिहेतुत्वेनोक्तं, मुक्तेश्च समावेशसतत्त्वयैव[1] व्यवस्थापनात् । तद्रूपा या त्वद्भक्तिः ज्ञानस्य परमा भूः ।

'योगमेकत्वमिच्छन्ति
वस्तुनोऽन्येन वस्तुना ।' मा० वि०, अ० ४, श्लो० ४ ॥

इत्यागमलक्षितस्य विचित्रसमावेशात्मनो योगस्य परमा—चैतन्यभैरवैक्यापत्तिरूपा दशा च या त्वद्भक्तिः, तदर्थिता मम कर्हि—कदा पूर्णा—कृतकृत्या स्यात् ॥ ९ ॥

सहसैवासाद्य कदा
गाढमवष्टभ्य हर्षविवशोऽहम् ।
त्वच्चरणवरनिधानं
सर्वस्य[2] प्रकटयिष्यामि ॥ १० ॥

(प्रभो = हे ईश्वर !)
त्वत्- = आप के
चरण-वर- = (परा शक्ति रूपी) उत्कृष्ट चरणों के
निधानं = कोष को
सहसा एव = एकबारगी ही (अर्थात् आप की अनुग्राहिका शक्ति से ही)
आसाद्य = प्राप्त कर के
(एवं = और)
गाढम् = भली भांति
अवष्टभ्य = अपना कर (अर्थात् उसे सुरक्षित रख कर)
(तथा फलतः = तथा फलस्वरूप)
हर्ष-विवशः = परमानन्द-पूर्ण
(सन् = होकर)
अहं = मैं
कदा = भला कब
(तत् निधानं = उस कोष को)
सर्वस्य = सभी भक्तों के सामने
प्रकटयिष्यामि = प्रकट करूंगा ? ॥

१. ख० पु०, च० पु० सतत्त्वतयैवेति पाठः ।
ग० पु० सतत्त्वेनैवेति पाठः । घ० पु० सतत्त्वैवेति च पाठः ।
२. ख० पु० सर्वत्रेति पाठः ।

सहसैव—झटिति परप्रतिभाविकासेन, आसाद्य—आ-समन्तात् स्वात्मसम्भोगपात्रीकृत्य, तथा गाढमवष्टभ्य—व्युत्थानपरिक्षयार्थं प्रयत्नेनात्मीकृत्य, तत एव हर्षविवशः—परमानन्दनिर्भरोऽहं कदा त्वच्चरणवरनिधानं—समस्तसम्पन्मयं भवत्परशक्तिनिधिं सर्वस्य प्रकटयिष्यामि—छन्नतयान्तःस्थितमपि सूचितोपदेशयुक्त्या उन्मुद्रयिष्यामि । परप्रतिभाबलप्रयत्नावष्टम्भपूर्वमनुग्राह्यावलोकनादिकं[1] यत्समावेशसंक्रमोपदेशे तत्त्वं, तत्परमसर्वानुग्रहसमर्थं स्यादित्यर्थः । अनेन स्वात्मनः परिपूर्णत्वाद्विश्वजनानुजिघृक्षापरतां[2] सूचयति ॥ १० ॥

परितः प्रसरच्छुद्ध-
त्वदालोकमयः कदा ।
स्यां यथेश न किञ्चिन्मे
मायाच्छायाबिलं भवेत् ॥ ११ ॥

ईश = हे स्वतन्त्र स्वामी !
(**अहं** = मैं)
परितः = चारों ओर
प्रसरत्- = व्याप्त हुए
शुद्ध- = (और) अत्यन्त निर्मल
त्वद्- = आप के
आलोक- = चित्-प्रकाश से
मयः = सम्पन्न
कदा = कब
स्याम् = बनूं,
यथा = जिस के फलस्वरूप
मे = मेरा
किंचित् = कुछ भी
माया- = भेद-प्रथा रूपी
छाया- = अन्धकार से
आबिलं = मलिन
न = न
भवेत् = होने पाये ? ॥ ११ ॥

परितः—समन्तात् प्रसरच्छुद्धः—अद्वयरूपो यस्त्वदालोकः—चित्प्रकाशः, तन्मयः कदा स्याम् । यथा मायाच्छायाबिलम्[3]—अद्वयाख्याति-

१. ख० पु० अनुग्रहावलोकनादिकमिति पाठः ।

२. ख० पु० पूर्णत्वादिति पाठः ।

३. ख० पु० मायाच्छाययाबिलमिति पाठः ।
ग० पु० मायाबिलमिति च पाठः ।

कुहरं मम न किञ्चिद्भवेत्—न किञ्चिच्छिष्येत । छायाशब्देन मायाबिल-स्यावास्तवतामाह । मायाच्छायया आबिलं—कालुष्यं न किञ्चिदिति वा योज्यम् ॥ ११ ॥

आत्मसात्कृतनिःशेष-
मण्डलो निर्व्यपेक्षकः[1] ।
कदा भवेयं भगवं-
स्त्वद्भक्तगणनायकः ॥ १२ ॥

भगवन् = हे भगवान् !
आत्म-सात्कृत- = चित्-स्वरूप के साथ अभिन्न बनाये हुए
निःशेष- = (सदाशिव से पृथ्वी तक के) सभी
मण्डलः = भुवनों वाला
निर्व्यपेक्षकः = (और इसी लिए) आकांक्षा-शून्य
(**सन्** = होकर)
(**अहं** = मैं)
कदा = भला कब
त्वद्- = आप के
भक्त-गण- = भक्त-जनों का
नायकः = प्रधान नियन्ता
भवेयम् = बन जाऊं ? ॥ १२ ॥

आत्मसात्कृतानि—चिदैक्यमापितानि निःशेषाणि—सदाशिवादि-क्षित्यन्तानि मण्डलानि—भुवनानि येन सः । निर्व्यपेक्षः—अद्वितीयः । त्वद्भक्तगणनायकः—प्रधानं कदा स्याम् ॥ १२ ॥

नाथ लोकाभिमानाना-
मपूर्वं त्वं निबन्धनम् ।
महाभिमानः कर्हि स्यां
त्वद्भक्तिरसपूरितः ॥ १३ ॥

नाथ = हे स्वामी !
लोक- = लोक अर्थात् रुद्र तथा क्षेत्रज्ञ-प्रमाताओं के
अभिमानानाम् = अभिमान के
अपूर्वं = विशेष
निबन्धनं = कारण (तो)

1. ख० पु०, च० पु० निर्व्यपेक्षकः—इति पाठः ।

त्वम् = आप
(**एव** = ही)
(**असि** = हैं),
(**परम्** = पर)
(**अहं** = मैं)
त्वद्- = आप की
भक्ति- = भक्ति के
रस- = रस से
पूरितः = परिपूर्ण
(**एवं** = तथा)
महाभिमानः = (पूर्णाहन्ता रूपी) महान् अभिमान से युक्त
कर्हि = भला कब
स्याम् = बन जाऊं ? ॥ १३ ॥

'स्रष्टास्मि, स्थापयितास्मि[1], संहर्तास्मि; तथा पण्डितः शूरो यज्ञवानस्मि'—इति नानाविधानां *रुद्रक्षेत्रज्ञाभिमानानां त्वमेव चिद्रूपो निबन्धनं—कारणम्, अपूर्वं—निर्निमित्तं कृत्वा स्वस्वातन्त्र्येणैवेति यावत्। वस्तुतो हि तवैव सर्वकर्तृत्वान्न ब्रह्मादीनां स्रष्टृत्वादि न वा पाण्डित्यादि कस्यचित्। केवलं त्वमेव तत्र तत्र तथाभिमानमुत्थापयसि। यथा चैवं तथा कर्हि—कदा त्वदिच्छात एव महाभिमानः—'विश्वात्मा चिदानन्दघनः शिव एवास्मि'—इति दृढोत्साहावष्टंभो भक्तिरसेन पूरितो—व्याप्तः स्याम्। भक्तिरसपूरित इति वदतोऽयमाशयः यदासादितमहाभिमानस्यापि समावेशास्वादमयः प्रभुविषये दासभाव एवोचितः ॥ १३ ॥

अशेषविषयाशून्य-
श्रीसमाश्लेषसुस्थितः ।
शयीयमिव[2] शीताङ्घ्रि-
कुशेशययुगे कदा ॥ १४ ॥

(**भगवन्** = हे ईश्वर !)
अशेष- = सभी
विषय- = (रूप आदि) विषयों से
अशून्य- = पूर्ण
श्री- = भक्ति-लक्ष्मी के
समाश्लेष- = आलिंगन से

१. ग० पु० स्थापितास्मि—इति पाठः।

* ब्रह्मा आदि पांच मुख्य कारणों को रुद्रप्रमाता कहते हैं, और सांसारिक समृद्धि-शाली व्यक्तियों को क्षेत्रज्ञ-प्रमाता कहते हैं।

२. ख० पु० शयीय शिवशीताङ्घ्रिकुशेशययुगे—इति पाठः।

सुस्थितः = सुखी
(**सन्** = होकर)
(**अहं** = मैं)
शीत- = (आप के) शीतल (अर्थात् संसार का संताप हरने वाले)
अङ्घ्रि- = चरण रूपी
कुशेशय- = कमलों के
युगे = जोड़े में
कदा = भला कब
शयीयम् इव = सो जाऊँ अर्थात् विश्राम करूं ? ॥ १४ ॥

शीताङ्घ्रिकमलयुग्मं[1]—प्राग्वत् । शयीयं[2]—विश्राम्याम् । कीदृक्—अशेषविषयाशून्या—विश्वनिर्भरा येयं श्रीः—भक्तिलक्ष्मीः । तत्कृतेन समाश्लेषेण—दृढावष्टम्भेन सुस्थितः । काव्यार्थः स्पष्टः ॥ १४ ॥

भक्त्यासवसमृद्धाया-
स्त्वत्पूजाभोगसम्पदः ।
कदा पारं गमिष्यामि
भविष्यामि कदा कृती ॥ १५ ॥

(**प्रभो** = हे प्रभु !)
(**अहं** = मैं)
भक्ति- = भक्ति रूपिणी
आसव- = मदिरा से
समृद्धायाः = बढ़ी हुई
त्वत्- = आप की
पूजा- पूजा के
भोग- = उपयोग रूपी
संपदः = संपत्ति की
पारं = चरम सीमा को
कदा = कब
गमिष्यामि = प्राप्त करूंगा
(**अत एव** = और इस प्रकार)
कदा = कब
कृती = कृतार्थ (अर्थात् सफल-मनोरथ)
भविष्यामि = हो जाऊंगा ! ॥ १५ ॥

भक्त्यासवेन—सेवारसेन, समृद्धा—स्फीता या त्वत्पूजाभोगसंपत्—समावेशविश्रांतिश्रीः, तस्याः पारं—प्रान्तकोटिं कदा गमिष्यामि, अत एव कदा कृतार्थः स्याम् ॥ १५ ॥

१. ख० पु०, च० पु० शीताङ्घ्रिकमलयुगे—इति पाठः ।
ग० पु० शीताङ्घ्रिकमलं प्राग्वत्—इति च पाठः ।
२. ख० पु० शयीय—इति पाठः ।

चिरव्युत्थानान्तरितां समावेशदशामेव आकांक्षति—

आनन्दबाष्पपूर-
स्खलितपरिभ्रान्तगद्गदाक्रन्दः ।
हासोल्लासितवदन-
स्त्वत्स्पर्शरसं कदाप्स्यामि ॥ १६ ॥

(**प्रभो** = हे स्वामी !)
आनन्द- = आनन्द के
बाष्प- = आंसुओं की
पूर- = धारा से
स्खलित- = रुकी हुई
परिभ्रान्त- = परिभ्रान्त (अर्थात् विस्मयान्वित)
गद्गद- = और अस्पष्ट
आक्रन्दः = पुकार वाला
(**एवं** = तथा)
हास- = (परमानन्द रूपी) अट्टहास से
उल्लासित- = खिले हुए
वदनः = मुख वाला (होकर)
(**अहं** = मैं)
त्वत्- = आप के
स्पर्श-रसं = स्पर्श-अमृत के रस को
कदा = भला कब
आप्स्यामि = (समाधि तथा व्युत्थान दोनों अवस्थाओं में) प्राप्त करूंगा ! ॥ १६ ॥

आनन्दबाष्पपूरेण—अन्तःसमावेशहर्षवशविसरदश्रुसन्तत्या, स्खलितः—अस्थानप्रतिहतः । परिभ्रान्तः—चिरमनुरणन् । गद्गदः—अस्पष्टाक्षरः, आक्रन्दो—महानादो यस्य । हासेन—विकासेन उल्लासितं वदनं—शक्तिमार्गो यस्य; अत एव हासेनोल्लासितं—व्याप्तं शोभितं च वक्त्रं यस्य ॥ १६ ॥

पशुजनसमानवृत्ता-
मवधूय दशामिमां कदा शम्भो ।
आस्वादयेय तावक-
भक्तोचितमात्मनो रूपम् ॥ १७ ॥

१. ख० पु० हासोल्लसितवदनः—इति पाठः ।
२. ख० पु० उल्लसितमिति पाठः । ३. ख० पु० आसादयेयेति पाठः ।

शम्भो = हे महादेव !
पशु-जन- = तुच्छ लोगों के
समान- = समान
वृत्ताम् = व्यवहार वाली
इमां = इस
दशाम् = (अज्ञान की) दशा को
अवधूय = झाड़ कर
(**अहं** = मैं)
तावक- = आप के
भक्त- भक्त-जनों के
उचितम् = योग्य
आत्मनः = अपने
रूपं = स्वरूप (अर्थात् चिद्रूप स्वात्म-स्थिति) का
कदा = कब
आस्वादयेय = चमत्कार करूं ? ।।१७।।

व्युत्थानपतितभेदमयीम् इमामिति—स्फुटं भान्तीं दशामवधूय—निवार्य । अथ च समावेशप्रसरत्सर्वाङ्गावधूननेनाभिभूय, तावकभक्तोचितं—नित्योदितपरमानन्दमयम् आत्मनः—न त्वन्यस्य कस्यचिद् रूपं—स्वरूपं, कदा आस्वादयेय—चमत्कुर्याम् ।। १७ ।।

लब्धाणिमादिसिद्धि-
विगलितसकलोपतापसन्त्रासः ।
त्वद्भक्तिरसायनपान-[1]
क्रीडानिष्ठः कदासीय ।। १८ ।।

(**प्रभो** = हे प्रभु !)
लब्ध- प्राप्त की हैं
अणिमा- (अभेदमयी) अणिमा
आदि- = आदि
सिद्धिः = (अष्ट-) सिद्धियां जिसने, ऐसा
(**अत एव** = और इस लिए)
विगलित- = नष्ट हो गए हैं
सकल- = सभी
उपताप- = दुःख
सन्त्रासः = भय जिसके, ऐसा
(**सन्** = होकर) (मैं)
कदा = कब
त्वद्- आप की
भक्ति- = भक्ति रूपी
रसायन- = रसायन (अर्थात् अमृत) का
पान- पान करने की
क्रीडा- = क्रीडा में
निष्ठः = लीन
आसीय = बना रहूं ! ।। १८ ।।

१. ख०, ग० पु० रसनिपानक्रीडेति पाठः ।

अणिमादिसिद्धिः—प्राग्वद्भेदमयी। अत एव विगलितः—शान्तः उपतापः सन्त्रासश्च यस्य। ब्रह्मादीनां तु भेदमयाणिमादियोगेऽपि मरणादित्रासस्यावश्यंभावात्। तथाभूतोऽपि त्वद्भक्त्यमृतपानप्रमोदपरः स्याम् ॥ १८ ॥

नाथ कदा स तथाविध
आक्रन्दो मे[1] समुच्चरेद् वाचि।
यत्समनन्तरमेव
स्फुरति पुरस्तावकी मूर्तिः ॥ १९ ॥

नाथ = हे स्वामी
सः = वह
तथाविधः = उस प्रकार की (अर्थात् अलौकिक)
आक्रन्दः = पुकार
मे वाचि = मेरी वाणी में से
कदा = भला कब
समुच्चरेत् = निकलेगी
यत्- = जिसके
समनन्तरम् एव = साथ ही
तावकी = आप का
मूर्तिः = (परमानन्द-पूर्ण) स्वरूप
(**मे** = मेरे)
पुरः = सामने (अर्थात् समावेश में)
स्फुरति = चमक उठे ! ॥ १९ ॥

चिरव्युत्थितस्योक्तिः। स तथाविध इति—वक्तुमशक्यः। आक्रन्दो—महानादः, समुच्चरेत्—स्वयमेवोल्लसेत्, स्फुरति—समावेशेन दीप्यते, मूर्तिः—स्वरू[2]पम् ॥ १९ ॥

गाढगाढभवदङ्घ्रिसरोजा-
लिङ्गनव्यसनतत्परचेताः।
वस्त्ववस्त्विदमयत्नत एव
त्वां कदा समवलोकयितास्मि ॥ २० ॥

---

१. घ० पु०, च० पु० ममेति पाठः।
२. च० पु० 'स्वयम्' इति पाठः।

(**प्रभो** = हे स्वामी !)
गाढ-गाढ- = अत्यन्त दृढ़ता से
भवत्- = आप के
अंघ्रि- = (ज्ञान और क्रिया रूपी) चरण-
सरोज- कमलों के
आलिंगन- = आलिंगन के
व्यसन- = व्यसन में
तत्पर- लगे हुए
चेताः = हृदय वाला
(**अहं** = मैं)
इदं वस्तु अवस्तु च = सत् तथा असत् पदार्थों से युक्त (अर्थात् भाव-अभाव-मय) इस (विश्व) को
त्वाम् = आप के स्वरूप में
अयत्नतः एव = बिना प्रयास के ही (अर्थात् बिना ध्यान, जप आदि के ही)
कदा = भला कब
सम् = भली भांति
अवलोकयितास्मि = देखूंगा ॥२०॥

वीप्सया व्यसनतत्परशब्दाभ्यां च भक्तिप्रकर्षवैवश्यमाह। वस्त्ववस्त्विदमिति—भावाभावरूपं विश्वम्। अयत्नत एव—ध्यानजपादि विना, त्वामपि—त्वद्रूपम् सम्यक्—तत्त्वतोऽवलोकयितास्मि—द्रक्ष्यामीति शिवम् ॥ २० ॥

इति श्रीमदुत्पलदेवाचार्यविरचितस्तोत्रावलौ स्वातंत्र्य-
विजय-नामके नवमे स्तोत्रे श्री क्षेमराजाचार्य-
विरचिता विवृतिः ॥ ९ ॥



ॐ

अथ

अविच्छेदभङ्गाख्यं दशमं स्तोत्रम्

न सोढव्यमवश्यं ते जगदेकप्रभोरिदम् ।
माहेश्वराश्च लोकानाम्[1]इतरेषां समाश्च यत् ॥ १ ॥

(**प्रभो** = हे प्रभु !)
जगत्- = जगत के
एक- = अद्वितीय
प्रभोः = स्वामी
ते = आप को
अवश्यम् = निःसन्देह
इदं = यह
न = नहीं
सोढव्यं = सहन करना चाहिए

यत् = कि
(**वयं** = हम)
माहेश्वराः = (आप) महेश्वर के भक्त
च = भी हों (और)
इतरेषां = अन्य
लोकानां = (अज्ञानी) लोगों के
समाः च = समान भी (अर्थात् अज्ञानी ही)
(**स्याम** = बने रहें) ॥ १ ॥

माहेश्वराः—विश्वेश्वरस्वरूपसमाविष्टाः, इतरेषां—भेदमयानां ब्रह्मादीनां समाः—इतीदं ते—तव न सोढव्यं—त्वयैवैतन्न सह्यते । स्वभावसिद्धमेवैतत् ; यतस्त्वमेवैकः—अद्वितीयो जगतः[2] प्रभुः । चकारौ विरोधं[3]हेतुमाहतुः ।

'तत्कथं जनवदेव चरामि' स्तो० ४, श्लो० १० ॥

इति स्थित्या व्युत्थाने इतरेषां लोकानां माहेश्वराः समाः—इति तव न सोढुं युक्तमित्यन्ये ॥ १ ॥

---

१. ख० पु० जगतामिति पाठः ।

२. ग० पु० जगति—इति पाठः ।

३. ख० पु० विरोधमाहतुः—इति पाठः ।

ये सदैवानुरागेण भवत्पादानुगामिनः ।
यत्र तत्र गता भोगांस्ते कांश्चिदुपभुञ्जते ॥ २ ॥

(**भगवन्** = हे भगवान् !)
ये = जो
(**जनाः** = लोग)
(**भवत्-** = आप की)
अनुरागेण = भक्ति से
सदैव = सदा ही
भवत्- = आप के
पाद- = (प्रकाश-विमर्श रूपी) चरणों के
अनुगामिनः = अनुयायी
(**भवन्ति** = बने रहते हैं,)
ते = वे, चाहे
यत्र तत्र = जिस किसी अवस्था में भी
गताः = हों,
कांश्चित् = अलौकिक
भोगान् = (परमानन्द रूपी) भोगों का ही
उपभुञ्जते = चमत्कार करते हैं ॥ २ ॥

अनुरागेण—आसक्त्या, ये त्वन्मरीचिसम्बद्धास्ते यत्रतत्रेति—सर्वावस्थास्थिताः, कांश्चित्—[1]परमानन्दमयान् भोगानुपभुञ्जते ॥ २ ॥

भर्ता कालान्तको यत्र भवांस्तत्र कुतो रुजः ।
तत्र चेतरभोगाशा का लक्ष्मीर्यत्र तावकी ॥ ३ ॥

(**स्वामिन्** = हे प्रभु !)
यत्र = जहां
काल- = महाकाल के
अन्तकः = नाशक,
भवान् = आप
भर्ता = रक्षा करने वाले
(**स्यात्** = हों)
तत्र = वहां
रुजः = रोग (या दुःख)
कुतः = कहां ?
च = और
यत्र = जहां
तावकी = आप की
लक्ष्मीः = (भक्ति रूपिणी) लक्ष्मी
(**स्यात्** = हो)
तत्र = वहां
इतर-भोग- = अन्य (सांसारिक विषयरूपी) भोगों की
आशा = अभिलाषा
का = कहां ? ॥ ३ ॥

१. ख॰ पु॰, च॰ पु॰ परानन्दमयान्—इति पाठः ।

कालान्तकः—इत्यनेन महाकालसञ्चार्यमाणाः सर्वा रुजः कालग्रासिनि प्रभौ सति कुतः ? मूलोच्छेदान्नैव भवन्तीत्यर्थः। इतरभोगाशा—सदाशिवादिपदलक्ष्मीस्पृहा का ? न[1] काचित्; भेदस्य ग्रस्तत्वात्। लक्ष्मीः—अद्वयप्रकाशसंपत् ॥ ३ ॥

क्षणमात्रसुखेनापि विभुर्येना[2]सि[3] लभ्यसे।
तदैव सर्वः कालोऽस्य त्वदानन्देन पूर्यते ॥ ४ ॥

(**नाथ** = हे स्वामी !)
येन = जिस (भक्त) ने
क्षण-मात्र- = (समाधि काल के) क्षण-मात्र के
सुखेन = सुख से (भी)
असि = आप
विभुः = व्यापक प्रभु को
लभ्यसे = प्राप्त किया हो,
तदा एव = उसी वक्त से
अस्य = उस का
सर्वः कालः = (व्युत्थान-दशा-संबन्धी) सारा समय
त्वद्- = आप (चिद्रूप) के
आनन्देन = आनन्द-रस से
पूर्यते = भरा रहता है ॥ ४ ॥

येन—भक्तेन, क्षणमात्रेण समावेशस्पन्देन हेतुना, असि—त्वं लभ्यसे, अस्य—भक्तस्य त्वया तदैवावसरे सर्वः कालः—व्युत्थानदशाभाव्यपि आनन्देन पूर्यते—अका[4]लकिलतचिदानन्दस्वरूपानुप्रवेशेन तन्मयीक्रियते; उत्तरकालं च तत्संस्कारेणाप्लाव्यते। विभुः—स्वामी व्यापकश्च ॥ ४ ॥

आनन्दरसबिन्दुस्ते चन्द्रमा गलितो भुवि।
सूर्यस्तथा ते प्रसृतः संहारी तेजसः कणः ॥ ५ ॥
बलिं यामस्तृतीयाय नेत्रायास्मै तव प्र[5]भो।
अलौकिकस्य कस्यापि माहात्म्यस्यैकलक्ष्मणे ॥ ६ ॥
[युगलकम्]

१. ग० पु० न काचिदत्र भेदस्य ग्रस्तत्वादिति पाठः।
२. ख० पु० येनापि लभ्यसे—इति पाठः। ३. ख० पु० अपि—इति पाठः।
४. ग० पु० अकालकलितम्—इति पाठः।
५. ख० पु०, च० पु० विभो—इति पाठः।

विभो = हे व्यापक स्वामी !
(**अयं** = यह)
चन्द्रमाः = चन्द्रमा तो
ते = आप के (स्वरूपसंबन्धी)
आनन्दरस- = आनन्द-रस का
बिन्दुः = एक बिन्दु (है जो)
भुवि = इस जगत में
गलितः = प्रसारित हुआ है
तथा = और
(**अयं** = यह)
सूर्यः = सूर्य
ते आप के (स्वरूप-संबन्धी)
तेजसः = तेज का
(**एकः** = एक)
संहारी = संहारक (अर्थात् भेद-ग्रासी)
कणः = कण है (जो)
प्रसृतः = प्रकाशित हुआ है ॥ ५ ॥

(**वयं तु** = हम तो)
कस्यापि = (इन सूर्य, चन्द्रमा आदि के प्राण-प्रद), असामान्य
अलौकिकस्य = अलौकिक
माहात्म्यस्य = महिमा के
एक- = अद्वितीय
लक्ष्मणे = चिह्न-स्वरूप,
तव = आप के
अस्मै = इस
तृतीयाय = तीसरे (प्रमातृ-रूप)
नेत्राय = नेत्र पर
बलिं = निछावर
यामः = होते हैं (अर्थात् इसी अग्नि-स्वरूप नेत्र में अपनी प्रमातृता समर्पित करते हैं) ॥ ६ ॥

ते—तव, भुवि—अग्नीषोमात्मकमध्यशक्तिमार्गे, आनन्दरसबिन्दुर्यः स[1] एवाह्लादकारित्वाच्चन्द्रमाः, गलितः—द्रुतस्वभावः। इन्दुश्चन्द्रमाश्च[2] गलितः—मनः-प्रमेयराशिसहितं तत्रैव विलीनम्। तथा तत्रैव संहारी-भेदग्रासी तेजसः[3] कणः—परमाग्निस्फुलिङ्गो यः, स एव प्रकाशकत्व-तमोपहत्वादेः सूर्यः प्रसृतः। सूर्यश्च प्राणे[4] विलीनः; द्रावितसोमसूर्या हि परा[5] शाक्ती भूमिः। अस्मै—शक्तिरूपाय नेत्राय बलिं यामः। अपि

१. ग० पु० स एव चन्द्रमाः—आह्लादकारित्वादिति पाठः।
२. ख० पु०, च० पु० बिन्दुश्चन्द्रमा—इति पाठः।
३. ख० ग० पु० तेजः कणः—इति पाठः। ४. घ० पु० प्रमाणो—इति पाठः।
५. ख० पु०, च० पु० परा शक्तिभूमिः—इति पाठः।

च,—भुवि यश्चन्द्रमाः स त्वदीयआनन्दरसबिन्दुः[1] गलितः—स्रुतः। सूर्यश्च तव सम्बन्धिनः तेजसः कणः प्रसृतः—स्फुरितः। यथागमः

'ज्ञानशक्तिः प्रभोरेषा तपत्यादित्यविग्रहा ॥' स्व० तं०, १० प०, श्लो० ४९९ ॥

'तपते चन्द्ररूपेण क्रियाशक्तिः परस्य सा ॥' स्व० तं०, १० प०, श्लो० ५०२ ॥

इति। अस्मै—एतदर्थं सूर्यचन्द्रोल्लासिनाय[2] तव यत् तृतीयं नेत्रं तस्मै, बलिं यामः—अत्रैव महावह्निमये मायीयदेहादिप्रमातृतां समर्पयामः। कीदृशाय? कस्यापि—असामान्यस्य ब्रह्मेन्द्रोपेन्द्राद्यगोचरस्य[3] अलौकिकस्य माहात्म्यस्य एकलक्ष्मणे—असाधारणाभिज्ञानाय। अस्मै इति—तादर्थ्ये चतुर्थी ॥ ५-६ ॥

तेनैव दृष्टोऽसि भवद्दर्शनाद्योऽतिहृष्यति।
कथञ्चिद्यस्य वा हर्षः कोऽपि तेन त्वमीक्षितः ॥ ७ ॥

(**प्रभो** = हे ईश्वर !)
यः = जो भक्त
[**शक्ति-समावेशेन** = शक्ति-समावेश के क्रम से]
भवत्- = आप का
दर्शनात् = दर्शन कर के
अति- = अत्यन्त
हृष्यति = आनन्दित हो जाता है,
तेन एव = उस ने
(**त्वं** = आप को)
दृष्टः = देखा
असि = है
वा = और
कथञ्चित् = किसी प्रकार (अर्थात् शांभव-समावेश के क्रम से)
यस्य = जिसे
कोऽपि = अलौकिक
हर्षः = आनन्द प्राप्त होता है,
तेन = उसी ने
त्वम् = आप (के तात्विक स्वरूप) का
ईक्षितः = साक्षात्कार किया है ॥७॥

'उच्चाररहितं वस्तु
चेतसैव विचिन्तयन्' ॥ मा० वि०, अ० २, श्लो० २२।

इति शाक्तसमावेशयुक्त्या भवन्तं दृष्ट्वा योऽतिहृष्यति—आनन्दमयो

१. ग० पु० आनन्दबिन्दुः—इति पाठः।
२. ख० पु० सूर्यचन्द्रोल्लासनाय—इति पाठः।
३. ग० पु० ब्रह्मोपेन्द्राद्यगोचरस्येति पाठः।

भवति, तेनैव क्वापि त्वद्भेदोपासापरेण असि—त्वं दृष्टः। कथञ्चिदिति-

'अकिञ्चिच्चिन्तकस्य……।' मा० वि०, अ० २, श्लो० २३ ॥

इति शाम्भवसमावेशक्रमेण वा यस्य कोऽपि हर्षो न तु भेदोपासापरेण हर्षः, तेन कोऽपीति—चिद्घनस्त्वमीक्षितः—प्रत्यभिज्ञातः ॥

येषां प्रसन्नोऽसि विभो यैर्लब्धं हृदयं तव ।
आकृष्य त्वत्पुरात्तैस्तु बाह्यमाभ्यन्तरीकृतम् ॥ ८ ॥

विभो = हे व्यापक प्रभु !
येषां = जिन के प्रति
(**त्वं** = आप)
प्रसन्नः = दयालु अर्थात् अनुकूल
असि = होते हैं
(**तथा** = और)
यैः = जिन्हों ने
तव = आप के
हृदयं = हृदय (अर्थात् प्रकाश-विमर्शात्मक संविद्धाम) को
लब्धं = प्राप्त किया है,
तैः = उन्हों ने
तु = तो
त्वत्- = आप के
पुरात् = (चिद्रूप) स्थान से
बाह्यम् = (इस) बाहरी (जगत्) को
आकृष्य = निकाल कर (अर्थात् प्रकट कर के)
(**पुनरिदम्** = फिर इसे)
आभ्यन्तरीकृतम् = भीतर (चित्-पद में ही) लीन किया है ॥८॥

प्रसन्नोऽसीति प्राग्वत्। अत एव हृदयं—प्रकाशविमर्शात्मकं रूपं लब्धम्—आत्मीकृतं यैस्तैस्त्वत्पुरात्—त्वदीयात्पूरकाच्चिद्रूपात् आकृष्य—विस्फार्य, देहाद्यपेक्षया बाह्यं विश्वमिदं पुनराभ्यन्तरीकृतम्

'सृष्टिं तु सम्पुटीकृत्य……।' प० त्रिं२ श्लो० ३० ॥

इति श्रीत्रिंशकोक्ततत्त्वार्थदृशा संविद् उदितं संविद्भेदेन चाभासमानं विश्वं चिन्मयमेवैषामिति यावत्। अनुरणनशक्त्या लौकिकेश्वरार्थः प्राग्वत् ॥ ८ ॥

त्वद्दृते निखिलं विश्वं समदृग्यातमीक्ष्यताम् ।
ईश्वरः पुनरेतस्य त्वमेको विषमेक्षणः ॥ ९ ॥

१. ख० पु० अभेदोपासनापरेणेति पाठः। २. ख० पु० प्रभो—इति पाठः।

(**विभो** हे स्वामी !)
त्वद्- आप के
ऋते = विना
(**इदं** = यह)
निखिलं = सारा
विश्वं = जगत तो
समदृक् = (भेद-दृष्टि के कारण) सम-नेत्र अर्थात् दो नेत्रों वाला
ईक्ष्यतां = देखने में
यातम् = आता है,
पुनः = किन्तु
एतस्य = इस (जगत) के
एकः = अद्वितीय
ईश्वरः = स्वामी
त्वं = आप
विषम-ईक्षणः = (अभेद-दृष्टि के कारण) विषम-नेत्र अर्थात् तीन नेत्रों वाले
(**असि** = हैं) ॥ ९ ॥

समदृगिति । समा—तुल्या भेदमयी[1] दृक्—संवित्तिर्यस्य तत्, द्विनयनं च, ईक्ष्यतां—प्रमेयतां यातम् । एक इति—अद्वितीयः, विषमं—भेदप्लोषकमीक्षणं—ज्ञानं यस्य, त्रिनेत्रश्च ॥ ९ ॥

आस्तां भवत्प्रभावेण विना सत्तैव नास्ति यत् ।
त्वद्दूषणकथा येषां त्वदृते नोपपद्यते ॥१०॥

(**प्रभो** = हे स्वामी !)
येषां = 'जिन (चार्वाक आदि अनीश्वरवादियों) से की गई
त्वद्- = आप की
दूषण- = निन्दा की
कथा = बात
त्वद्- = आप (चिद्रूप) के
ऋते = बिना
न उपपद्यते = हो ही नहीं सकती,
भवत्- = आप (चिदात्मा) के
प्रभावेण = प्रभाव के
विना = बिना
तेषां = उन की
सत्ता एव = सत्ता ही
न अस्ति = नहीं हो सकती',
(**इति**) **यत्** = (यह) जो बात है,
(**तत्** = उसे)
[2]**आस्ताम्** = रहने दिया जाय ॥१०॥

१. ख० पु० तुल्या—अभेदमयी—इति पाठः ।

२. नास्तिक्यवासना शास्त्रों में निन्द्य कही गई है, इसी आशय से स्तोत्रकार इस विषय में आलोचना नहीं करना चाहते हैं । कहा भी है

'नास्तिक्यवासनामाहुः पापात्पापीयसीमिमाम् ।'

इत्यादि श्रीतन्त्रोक में ।

येषां—बौद्धसांख्यमीमांसकादीनां, त्वद्दूषणकथा दूषयित्रात्मक-प्रस्फुरच्चिद्रूपं त्वत्स्वरूपं विना नोपपद्यते, येषां विचित्रतनुकरणप्रज्ञानां बुद्धिमत्प्रभावं विना सत्तैव नास्ति—इत्यादि युक्तिवृन्दं पतितपाष्ण्या-घातकल्पमास्ताम् ॥ १० ॥

बाह्यान्तरान्तरायालीकेवले चेतसि स्थितिः ।
त्वयि चेत्स्यान्मम विभो किमन्यदुपयुज्यते ॥ ११ ॥

विभो = हे व्यापक ईश्वर !
बाह्य- = (भेद-प्रथा रूपी) बाहरी
आन्तर- = (तथा संकल्प-विकल्प रूपी) भीतरी
अन्तराय- = विघ्नों की
आली- = पंक्तियों से
केवले = रहित बने हुए
मम = मेरे
चेतसि = हृदय में
चेत् = यदि
त्वयि = आप (चित्-स्वरूप) की
स्थितिः = स्थिति
स्यात् = प्राप्त हो जाय, (अर्थात् मुझे समावेश-एकाग्रता प्राप्त हो),
(**ततः** = तो फिर)
किम् = भला कौन सी
अन्यत् = दूसरी वस्तु
उपयुज्यते = उपयोग में आ सकती है (अर्थात् फिर किसी दूसरी चीज़ या उपाय की अपेक्षा नहीं रहेगी ।) ? ॥ ११ ॥

बाह्याः—शरीरप्रमातृतापेक्षतत्तद्वस्तुसंयोगवियोगादयः । आन्तराः—बुद्ध्याद्यपेक्षकामनासङ्कल्पादयो[1] ये अन्तरायाः—स्वविश्रान्त्युपरोधिनः, तेषामाली—पङ्क्तिस्तया[2] केवले—रहिते, त्वद्विषये चेतसि यदि मम स्थितिः—समावेशैकाग्रता स्यात्, तत्किमन्यदुपयुज्यते;—प्राप्तव्यस्यैव प्राप्तत्वात् ॥ ११ ॥

अन्ये भ्रमन्ति भगवन्नात्मन्येवातिदुःस्थिताः ।
अन्ये भ्रमन्ति भगवन्नात्मन्येवातिसुस्थिताः ॥ १२ ॥

१. ख० पु० बुद्ध्याद्यपेक्षका मनःकल्पनादयः—इति पाठः । ग० पु० बुद्ध्याद्य-पेक्षकामनाकल्पनादयः—इति च पाठः ।

२. घ० पु० 'तेषामाली पङ्क्तिस्तया'—इति स्थाने 'तैः' इति पाठः ।

भगवन् = हे भगवान् !
अन्य = कई (अर्थात् अज्ञानी लोग)
आत्मनि एव = अपने ही स्वरूप में
अति- = अत्यन्त
दुःस्थिताः = दुःखी
(**सन्तः** = हो कर)
भ्रमन्ति = (जन्म, मरण आदि के असीम चक्कर में) घूमते रहते हैं,
(**तथा** = और)
भगवन् = हे ईश्वर !
अन्ये = कई (अर्थात् ज्ञानवान् भक्तजन)
आत्मनि एव = अपने ही (चिदानन्द-मय) स्वरूप में
अति- = अत्यन्त
सुस्थिताः = सुखी (परमानन्द-पूर्ण)
(**सन्तः** = हो कर)
भ्रमन्ति = (इस जगत में) विहार करते हैं ॥ १२ ॥

अन्य इति—नैरात्म्यजडात्मवादिनः संसारिणश्च, आत्मनि—निज एव स्वरूपे, भ्रमन्ति—विपर्यस्यन्ति; जन्ममरणादिपरम्परामपर्यन्तां भजन्ते। अतिदुःस्थिताः तत्त्वज्ञत्वाभावात् क्लिश्यन्ते[1]। अन्ये इति—केचिदेवापश्चिमाः, आत्मन्येव—चिद्रूपे न[2] तु परत्र क्वचिदपि, अतिसुस्थिताः—परमानन्दैकघनाः सन्तो, भ्रमन्ति—विरहन्ति ॥ १२ ॥

अपीत्वापि भवद्भक्तिसुधामनवलोक्य च।
त्वामीश त्वत्समाचारमात्रात्सिद्ध्यन्ति जन्तवः ॥१३॥

ईश = हे ईश्वर !
भवत्- = आप के
भक्ति-सुधाम् = (समावेश रूपी) भक्ति-अमृत का
अपीत्वा = पान न करके
अपि = भी
(**तथा** = तथा)
त्वाम् = आप के स्वरूप का
अनवलोक्य = साक्षात्कार न करके
च = भी
त्वत्- = आप (चिद्रूप) की
समाचर-मात्रात् = केवल (बाह्य जप आदि चर्या रूपिणी) कथा करने से (ही)
जन्तवः = (आप के भक्त) जन
सिद्ध्यन्ति = (स्वरूप-समावेश रूपी) सिद्धि को पाते हैं ॥ १३ ॥

१. ख० ग० पु० क्लिश्यन्तः—इति पाठः।
२. ग० पु० न त्वपरत्रेति पाठः।

त्वद्भक्तिसुधां—शाक्तसमावेशानन्दरसम् अपीत्वापि—अचमत्कृ[1]-त्यापि, अनवलोक्य च त्वामिति—चित्स्वरूपं त्वां मनागप्यप्रत्यभिज्ञाय, जन्तवः—जन्मादिभाजोऽपि, त्वत्समाचारमात्रादिति—तत्तदाम्नायचर्यापादोक्तात् सिद्ध्यन्ति—परसिद्धिभाजो भवन्ति। अपिशब्देन मात्रशब्देन च विस्मयो ध्वन्यते। तथा ह्यागमे

'कदाचिद्भक्तियोगेन चर्यया···।' श्रीवीर तं० ॥

इत्युपक्रम्य

'संसारिणोऽनुगृह्णाति विश्वस्य जगतः पतिः ॥' श्रीवीर० तं० ॥

इत्यन्तमुक्तम्। अस्मद्गुरुभिरपि तन्त्रसारेऽभिहितं—

[2]*'परमेसरु सच्छन्दु बहुकोणबिअ अप्पाइच्छ।
चरिआसि तु णणिजजपाहुं कि अभबणो अइअच्छ ॥'

इति ॥ १३ ॥

भृत्या वयं तव विभो तेन त्रिजगतां यथा।
बिभर्ष्यात्मानमेवं ते भर्त्तव्या वयमप्यलम् ॥१४॥

विभो = हे व्यापक प्रभु !
वयं = हम
तव = आप के
भृत्याः = सेवक
(**स्मः** = हैं,)
तेन = इसलिए
यथा = जैसे
(**त्वं** = आप)
त्रिजगताम् = तीनों लोकों की
आत्मानं = आत्मा (अर्थात् अपने स्वरूप) को
बिभर्षि = धारण तथा पोषण करते हैं,
एवं = इसी तरह
वयम् अपि = हम (सेवक) भी
ते = आप से
अलं = पूर्ण रूप में
भर्त्तव्याः = धारण और पोषण किए जाने योग्य
(**स्मः** = हैं) ॥ १४ ॥

---

१. ख० पु० अचमत्कृत्वापि—इति पाठः।

२. *ख० ग० पु०—'अमिऊणणिजजणहुं किमु भवनो अचि अच्छ।
परमेसरुसच्छन्दु बहुकोणविअप्पाइच्छचरीति ॥'
इति पाठः।

त्रिजगतामिति प्राग्वत्। बिभर्षि इति—धारयसि पोषयसि च। आत्मानं—स्वं रूपम्। वयमप्यलम्—इत्यत्रायमाशयः यथा त्वया विश्वमन्तर् अभेदेन बिभ्रतापि देहाद्यभिमानग्रहणेन वस्तुतस्त्वन्मया अपि वयं व्यतिरेकोचिता इव यत्र भिन्नमेव विश्वं जानीमः, ततोऽलम्—अत्यर्थं ते—तव वयं धारणीयाः पोषणीयाश्च, यतो भृत्याः स्मः ॥ १४ ॥

परानन्दामृतमये दृष्टेऽपि जगदात्मनि।
त्वयि स्पर्शरसेऽत्यन्ततरमुत्कण्ठितोऽस्मि ते ॥ १५ ॥

(**प्रभो** = हे ईश्वर !)
पर-आनन्द- = परमानन्द रूपी
अमृत-मये = अमृत-स्वरूप,
त्वयि = आप
जगदात्मनि = विश्वात्मा (प्रभु) का
दृष्टे = साक्षात्कार करने पर
अपि = भी
(**अहं** = मैं)
ते = आप के
स्पर्श-रसे = (समावेश रूपी) स्पर्श का आनन्द पाने के लिए
अत्यन्ततरम् = अत्यन्त ही
उत्कण्ठितः = लालायित
अस्मि = होता हूं ॥ १५ ॥

त्वयि परानन्दसारे[1], नीलपीतादिरूपेण[2] जगदात्मनि दृष्टेऽपि—व्युत्थाने तन्मुखेन प्रत्यभिज्ञातेऽपि, स्पर्शरसे—गाढसमावेशस्पर्शप्रसरे, ते—तव भृशमुत्कण्ठितोऽस्मि ॥ १५ ॥

देव दुःखान्यशेषाणि यानि संसारिणामपि।
धृत्याख्यभवदीयात्मयुतान्यायान्ति सह्यताम् ॥१६॥

देव = हे लीलामय प्रभु !
यानि = जो (अर्थात् जितने) भी
अशेषाणि = समस्त
दुःखानि = (आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक) दुःख
(**भवन्ति** = होते हैं,)
(**तानि** = वे)
धृति-आख्य- = धृति नाम वाले
भवदीय- = आप के
आत्म- = स्वरूप से
युतानि = संबन्ध रखते
(**सन्ति** = हैं,)

१. ख० पु०, च० पु० परमानन्दसारे—इति पाठः।
२. ख०, ग०, घ० पु० नीलपीतादिरूपे—इति पाठः।

(अतः = अतः)
संसारिणाम् = संसारी जनों के लिए
अपि = भी
सह्यतां = सहनीय
आयान्ति = हो जाते हैं (अर्थात् आप धैर्यात्मा प्रभु के प्रभाव से सभी दुःख सहन किये जा सकते हैं) ॥ १६ ॥

हे देव—क्रीडादिशील[1] ! अशेषाणि[2]—कीटब्रह्मादिविस्पन्दितानि तावद्दुःखानि; भेदमयत्वात्। तान्यपि संसरणपराणां प्रमातॄणां सोढव्यतां गच्छन्ति[3]। यतो धृत्याख्येन।

'इदमद्य मया लब्धमिदं प्राप्स्ये मनोरथम्।' भ० गी० । १६, १३ ॥

इत्याद्यभिमानावष्टम्भग्राहिणा त्वदीयेनात्मना युतानि[4]—संपृक्तान्येतानि ॥ १६ ॥

सर्वज्ञे सर्वशक्तौ च त्वय्येव सति चिन्मये।
सर्वथाप्यसतो नाथ युक्तास्य जगतः प्रथा ॥ १७ ॥

नाथ = हे स्वामी !
त्वयि = आप
चिन्मये = चिद्रूप के
सर्वज्ञे = सर्वज्ञ
च = और
सर्वशक्तौ = सर्वशक्तिमान्
सति = होने से
एव = ही
सर्वथा = सब प्रकार से
अपि = ही
असतः = सत्ताहीन
अस्य = इस
जगतः = जगत का
प्रथा = प्रकाश अर्थात् अस्तित्व
(**सर्वथा** = सर्वथा)
युक्ता = पूर्ण रूप से सिद्ध
(**भवति** = हो जाता है) ॥ १७ ॥

अस्य जगतः—विश्वस्य, सर्वथापि—देशकालाकारार्थक्रियाकारित्वादिना[5] स्वरूपेण प्रकाशबाह्यस्यानुपपद्यमानत्वादविद्यमानस्य[6], त्वयि

१ ख० पु० क्रीडादिस्वभाव—इति पाठः।
२ ग० पु० अशेषकीटब्रह्मादि—इति पाठः।
३ ख० पु० यान्ति—इति पाठः।
४. घ० पु० युक्तानि—इति पाठः।
५. ख० पु० देशकालनानार्थक्रियेति—पाठः।
६. ख० पु० अनुपदृश्यमानत्वादिति पाठः।

चिन्मये सर्वशक्तौ—स्वतंत्रे सर्वावभासके च सति, सर्वथापि प्रथा युक्ता। सर्वथेत्युभयत्र योज्यम् ॥ १७ ॥

त्वत्प्राणिताः स्फुरन्तीमे गुणा लोष्टोपमा अपि ।
नृत्यन्ति पवनोद्धूताः कार्पासपिचवो यथा ॥ १८ ॥
यदि नाथ गुणेष्वात्माभिमानो न भवेत्ततः ।
केन हीयेत जगतस्त्वदेकात्मतया प्रथा ॥ १९ ॥ [युगलकं]

नाथ = हे स्वामी !
यथा = जैसे
कार्पास- = रूई के
पिचवः = छोटे-छोटे टुकड़े
पवन- = वायु से
उद्धूताः = उड़ाये जाने पर
नृत्यन्ति = (आकाश में) नाचने लगते हैं,
(**तथा** = वैसे ही)
लोष्ट- = मिट्टी के
उपमाः = समान (अत्यन्त जड़ होती हुई)
अपि = भी
इमे = ये
गुणाः = इन्द्रियां
त्वत्- = आप (की चिद्रूपता) से
प्राणिताः (सन्तः) = जीवित होकर ही
स्फुरन्ति = स्फूर्ति को प्राप्त करती हैं ।
यदि = यदि
गुणेषु = (इन) इन्द्रियों में
आत्म-अभिमानः = आत्म-अभिमान
न भवेत् = न होता
ततः = तो
जगतः = (इस) जगत की
त्वद्- = आप के स्वरूप के साथ
एक-आत्मतया = अभेद-रूप
प्रथा = स्थिति (अर्थात् स्वात्म-परामर्श की स्थिति) को
केन = कौन
* **हीयेत** = त्यागता ? ॥ १८,१९ ॥

* भाव यह है—हे भगवन् ! ये इन्द्रियां तो मिट्टी आदि के समान ही जड़ पदार्थ हैं, किन्तु आप की चिद्रूपता से अनुप्राणित होकर ये अपने कार्य करने के योग्य हो जाती हैं । इन इन्द्रियों को अपना-अपना काम कर सकने का अभिमान होता है, जैसे—"मैं देखता हूं, मैं खाता हूं"—इत्यादि । उन के इस अभिमान का कारण आप की सत्ता ही है । अतः इन इन्द्रियों के विषय-सेवन रूपी सामान्य व्यवहार में ही स्वात्म-परामर्श के स्पर्श का आभास सब व्यक्तियों को मिलता है । फलतः वे विषय ग्रहण करने की दशा में भी

गुणाः—बुद्ध्यादिपरिस्पन्दाः, लोष्टोपमा अपि—जडाः, त्वत्प्राणिताः—त्वज्जीविताः सन्तः स्फुरन्ति, अन्यथा न कथञ्चित्[1]चकास्युः। अत्र दृष्टान्तः—यथा कार्पासानां पिचवः—लेशाः पवनेन—वायुना उद्धूताः सन्तो नृत्यन्ति—नभसि विलसन्ति। एवं च हे नाथ यदि भक्तेषु गुणेषु त्वन्मायाशक्तिदत्त[2] आत्माभिमानो न भवेत्ततोऽस्य जगतः त्वदेकात्मतया—त्वदभेदेन या प्रथा, सा केन हेतुना हीयेत[3]—न केनचिन्निवार्येत[4]; भक्तानां विश्वस्य त्वदैक्येन स्फुरणात्।

"गुणादिस्पन्दनिःष्यन्दाः······।
······स्युर्ज्ञस्यापरिपन्थिनः॥" स्प०, १ नि, १९ श्लो०॥

इत्युक्तम् ॥१८।१९॥

वन्द्यास्तेऽपि महीयांसः प्रलयोपगता अपि।
***त्वत्कोपपावकस्पर्शपूता ये परमेश्वर॥ २०॥**

परमेश्वर = हे परमेश्वर !
ये = जो
प्रलय- = (आप के द्वारा) नाश को
उपगताः = प्राप्त होने पर
अपि = भी
त्वत्- = आप के
कोप- = क्रोध रूपी
ते अपि = वे (महाकाल, कामदेव, त्रिपुरासुर तथा अन्धकासुर आदि) भी
महीयांसः=(अलौकिक) महिमा वाले
वन्द्याः = पूजनीय हैं,

आप की अहंता होने के कारण अपनी तात्त्विक आत्मस्थिति को त्याग देते हैं। यदि इन्द्रियों में अभिमान न होता और आप के स्वरूप-स्पर्श की प्राप्ति न होती तो स्वात्म-परामर्श-स्थिति को कोई भी व्यक्ति न त्यागता॥ १८,१९॥

१ ख० पु० न कथञ्चित्काः स्युः—इति पाठः।

२ ग० पु० त्वन्मयः शक्तिदत्तः—इति पाठः।

३ ख० पु० हीयते—इति पाठ।

४ ख० पु० निवार्यते—इति पाठः। ग० पु० निवर्तेत—इति पाठः।

* भाव यह है—यद्यपि महाकाल और अन्धक आदि राक्षस आपकी क्रोधाग्नि से भस्म हो गए, तो भी वे उसके स्पर्श से पवित्र होने के कारण मुक्त हो गए। फलतः वे धन्य हैं।

पावक- = अग्नि के
स्पर्श- = स्पर्श से
पूताः = पवित्र
(**सन्ति** = हो गए हैं) ॥ २० ॥

तेऽपीति—कालकामत्रिपुरान्धकाद्याः। न केवलं साक्षादनुगृहीताः भक्तिमन्तः—इति अपिशब्दार्थः[1]। महीयांस इति—अलौकिकमाहात्म्ययुक्ताः। प्रलयं—विनाशमुपगता अपि ये ते—तव श्रीकण्ठाद्यवतारवपुषः सम्बन्धिना निग्रहद्वारकानुग्रहात्मना[2] क्रीडाकोपाग्निस्पर्शेन पवित्रिताः ॥ २० ॥

महाप्रकाशवपुषि विस्पष्टे भवति स्थिते।
सर्वतोऽपीश तत्कस्मात्तमसि प्रसराम्यहम् ॥ २१ ॥

ईश = हे स्वामी !
भवति = आप के
महाप्रकाशवपुषि=महा-प्रकाश-स्वरूप
(**तथा** = तथा)
सर्वतः = पूर्ण रूप में
विस्पष्टे = प्रकट-स्वरूप (अर्थात् विश्व-प्रकाश-मय)
स्थिते = होने पर
अपि = भी
अहं = मैं
तत्-कस्मात् = क्यों
तमसि = (व्युत्थान-संबन्धी भेद-प्रथात्मक) अन्धकार में
प्रसरामि=फिरता (अर्थात् भटकता) हूँ ? ॥ २१ ॥

व्युत्थानवैवश्यात् साक्षात्कारभूमिमलभमानस्य[3] उक्तिरियम्। यतः कानिचिदत्र समावेशोत्कर्षशंसीनि, अन्यानि व्युत्थानप्रहाणाकांक्षा-[4]पराणि, अपराणि सार्वात्म्यप्रथाप्रथयितॄणी पराणि निःशेषभेदोपशम-मयशिवताशंसापराण्यस्य सूक्तानि। तानि च यथायोगं[5] संयोजितानि

१ ख० पु० अपिशब्दः—इति पाठः।
२ ख० पु० निग्रहद्वारकात्मना अनुग्रहात्मना—इति पाठः, ग० पु० निग्रहद्वारकात्मना क्रीडेत्यादि च पाठः।
३ ख० पु० साक्षात्कारमलभमानस्येति पाठः।
४ ग० पु० व्युत्थानप्रहरणाकांक्षेति पाठः।
५ घ० पु० यथायोग्यम्—इति पाठः।

संयोजयिष्यन्ते[1] च, इति नास्यास्मत्परमेष्ठिन ईदृगुक्तिषु अपूर्णता मन्तव्या। विस्पष्टेऽपीति—विश्वप्रकाशमये। तमसि प्रसरामीति—व्युत्थानविवशो[2] भवामीति ॥ २१ ॥

अविभागो भवानेव स्वरूपममृतं मम।
तथापि मर्त्यधर्माणामहमेवैकमास्पदम्[3] ॥ २२ ॥

(**प्रभो** = हे प्रभु !)
अविभागः = अद्वैत-स्वरूप
भवान् = आप
एव = ही
मम = मेरे
अमृतं = अमृत-मय (अर्थात् आनन्द-घन)
स्वरूपम् = (तात्त्विक) स्वरूप
(**अस्ति** = हैं,)
तथापि = तो भी
अहं = मैं
मर्त्यधर्माणाम् = (मनुष्य आदि) मरण-शील प्राणियों के स्वाभाविक गुणों का (अर्थात् जन्म-मरण के चक्कर का)
एव = ही
एकम् = एक
आस्पदम् = स्थान (या आश्रय)
(**अस्मि** = बना रहा हूँ) ॥ २२ ॥

इयमप्युक्तवदेवोक्तिः। भवानेव—न त्वन्यत् किंचित्। अमृतम्—आनन्दघनं। मर्त्यधर्माणां—हानादानादिप्रयासानाम्। अहमिति—व्युत्थाने देहाद्यभिमानमयः, न तु चिद्रूपः। एक एवेति-प्राग्वत् ॥ २२ ॥

महेश्वरेति यस्यास्ति नामकं वाग्विभूषणम्।
प्रणामाङ्कश्च[4] शिरसि स एवैकः प्रभावितः ॥ २३ ॥

(**प्रभो** = हे स्वामी !)
"महेश्वर" = 'हे महेश्वर !'
इति = ऐसा
नामकं = (आप का पवित्र) नाम
यस्य = जिस की
वाक्- = वाणी का

१ ग० पु० नियोजयिष्यन्ते चेति पाठः।
२ ख० ग० पु० व्युत्थानवशी भवामीति पाठः।
३ ख० पु० अहमेवैक आस्पदमिति पाठः।
४ ग० पु० नामाङ्कमिति पाठः।

विभूषणम् = भूषण
अस्ति = बना रहता है
च = और
(**यस्य** = जिस के)
शिरसि = सिर अर्थात् माथे पर
प्रणाम- = (आप के प्रति) प्रणाम का
अङ्कः (अस्ति)=चिह्न (लगा रहता है),
स एव = वही (आप का भक्त)
एकः = अद्वितीय
प्रभावितः = महिमा वाला (अर्थात् धन्य)
(**अस्ति** = होता है) ॥ २३ ॥

नामकं[1]—यद्वन्दिनः पठन्ति, तत् महेश्वर, ब्रह्मादिविश्वेश्वर, प्रभो—इति यस्य वाचो विभूषणमस्ति, तथा शिरसि प्रणामाङ्कः—परस्वभावप्रह्वताभिज्ञानं च यस्यास्ति, स एवैकः—अद्वितीयः, प्रभौ—महेश्वरे इतः—सम्बद्धः । अथ वायं प्रणामाङ्कितः—समाविष्टो भक्तिशाली भगवद्भेदस्पर्शप्राप्तेः[2] नामाङ्कत्वात् प्रभावितः—प्रख्यातः ॥ २३ ॥

सदसच्च भवानेव येन तेनाप्रयासतः ।
स्वरसेनैव भगवंस्तथा सिद्धिः कथं न मे ॥ २४ ॥

भगवन् = हे भगवान् !
येन = चूंकि
सत् = (घट, पट आदि) सत्
असत् च = और (आकाशपुष्प आदि) असत् पदार्थ (अर्थात् भाव-अभाव-मय जगत)
भवान् = आप
एव = ही हैं
तेन = इसलिए
तथा = वैसी (अर्थात् अलौकिक)
सिद्धिः = (आप की साक्षात्कार-रूपिणी) सिद्धि
मे = मुझे
अप्रयासतः = (ध्यान आदि के) आयास के बिना
स्वरसेन एव = आप ही आप
कथं न = क्यों नहीं
(**भवति** = प्राप्त होती है ?) ॥ २४ ॥

सदसदिति—भावाभावरूपं विश्वं त्वमेव यतः, ततो मम अप्रयासतः—उपायजालं विना, स्वरसेनैव—नित्योदितत्वेन कथं तथा न सिद्धिः—त्वत्साक्षात्कारः सदोदितो न कस्मादस्ति ॥ २४ ॥

---

१ ग० पु० नामाङ्कमिति पाठः ।

२ ग० पु० भगवदभेदस्पर्शे प्राप्तेः—इति पाठः ।

शिवदासः शिवैकात्मा किं यन्नासादयेत्सुखम् ।
तर्प्योऽस्मि देवमुख्यानामपि येनामृतासवैः ॥ २५ ॥

(**भक्त-जनाः** = हे भक्त-जनो !)
(**तत्** = वह)
किं = कौन सा
सुखम् = सुख
(**अस्ति** = है,)
यत् = जिसे
शिव- = शिव में
एक- = मिली हुई
आत्मा = आत्मा वाला
शिव-दासः = शिव का भक्त
न आसादयेत् = प्राप्त नहीं कर सकता (अर्थात् वह परमानन्द-पूर्ण हो ही जाता है),
येन = क्योंकि
(**अहं** = मैं)
देव- = दूसरों से तृप्त किये
मुख्यानाम् = जाने वाले ब्रह्मा आदि प्रमुख देवताओं के द्वारा
अपि = भी
अमृत-आसवैः = अमृत-रसों से
तर्प्यः = तृप्त किये जाने योग्य
अस्मि = हूं ॥ २५ ॥

यत एव शिवदासस्तत एव समाविष्टत्वात् शिवैकात्मा, तत्[1]किं य[2]न्न सुखमासादयेत्,-पर[3]मानन्दमयो भवत्येवेत्यर्थः । यतो देवमुख्यानाम्—अन्यैस्तर्पणीयानामपि ब्रह्मादीनां, हृदयादिस्थानस्थितानामिन्द्रिय-देवतानां च, अमृतासवैः—प्रमेयप्रथासमयस्फूर्जदद्वयप्रकाशानन्दप्रसरैः, तर्प्यः—परिपूरणीयोऽस्मि, न तु पशुवद्भोग्यः ॥ २५ ॥

हृन्नाभ्योरन्तरालस्थः प्राणिनां पित्तविग्रहः ।
ग्रससे त्वं महावह्निः सर्वं स्थावरजङ्गमम् ॥ २६ ॥

(**प्रभो** = हे स्वामी !)
प्राणिनां = (मनुष्य आदि) प्राणियों के
हृत्- = हृदय
नाभ्योः = और नाभि के
अन्तराल- = बीच में
स्थः = ठहरे हुए,
पित्त- = जठर-अनल-
विग्रहः = स्वरूप

१ ख० पु० किं—इति पाठः ।
२ ग० पु० यत्सुखं नासादयेदिति पाठः ।
३ ख० पु० परानन्दमयो भवत्येवेति पाठः ।

महा-वह्निः = महान् अग्नि
त्वं = आप
सर्वं = सारे
स्थावर-जंगमं = जड-चेतन-मय
(**जगत्** = जगत) का
* **ग्रससे** = ग्रास करते हैं ॥ ॥ २६ ॥

हृन्नाभ्योरन्तराले—घटस्थाने स्थितः प्राणिनां—सर्वेषां पित्तविग्रहः—पित्तरूपः उष्णान्नाद्याहरणाद्बाह्यस्य[1] तेजसोऽपि ग्रसनान्महावह्निस्त्वम्। अत एव स्थावरजङ्गमग्रासित्वम्[2]। अनेन सर्व[3]प्रमातृजठरादिस्थानेन विश्व[4]भक्षक एक एव परमेश्वरः परमार्थसन्निति शिवम् ॥ २६ ॥

इति श्रीमदुत्पलदेवाचार्यविरचितस्तोत्रावलौ अविच्छेद-
भङ्गाख्ये दशमे स्तोत्रे श्रीक्षेमराजाचार्य-
विरचिता विवृतिः ॥ १० ॥



* भाव यह है—हे भगवन् ! मनुष्य का रूप धारण करके आप समस्त जड-वर्ग का ग्रास करते हैं अर्थात् उसे निगल जाते हैं और पशु, पक्षी आदि के रूप में चेतन-वर्ग का आस्वाद लेते हैं ॥ २६ ॥

१ ख० पु० बाह्यतेजसोऽपीति पाठः।

२ ग० पु० स्थावरजङ्गममश्नासि त्वमिति पाठः।

३ ग० पु० सर्वत्र प्रमातृजठरादिस्थानेनेति पाठः।

४ ख० पु० विश्वभक्षक एवेति पाठः।

ॐ तत् सत्

अथ

औत्सुक्यविश्वसितनामैकादशं स्तोत्रम्

जगदिदमथ वा सुहृदो
बन्धुजनो वा न[1] भवति मम किमपि ।
त्वं पुनरेतत्सर्वं
यदा तदा कोऽपरो मेऽस्तु ॥ १ ॥

* (**प्रभो** = हे ईश्वर !)
इदं = यह
जगत् = जगत
अथवा = अथवा
सुहृदः = मित्र-जन
वा = या
बन्धु-जनः = बन्धु-बान्धव,
मम = (इन में से) मेरा
किमपि = कोई भी
न = नहीं
भवति = है ।
यदा पुनः = जब
(**तत्त्वतः** = वास्तव में)
त्वम् = आप
(**एव** = ही)
मे = मेरे
एतत् = यह
सर्वम् = सब कुछ (अर्थात् मित्र, बन्धु-बान्धव आदि)
(**असि** = हैं),
तदा = तो
अपरः = (आप के अतिरिक्त) दूसरा
कः = कौन
(**मे**) **अस्तु** = (मेरा) हो ? (अर्थात् किसी दूसरे सखा या संबन्धी की अपेक्षा नहीं है ।) ॥ १ ॥

---

१ ख० पु० न भवति किमपि—इति पाठः,
ग० पु० भवति न मे किमपि—इति च पाठः ।

* आशय यह है—हे परमेश्वर ! आप ही मेरी दुनिया हैं, आप ही मित्र तथा संबन्धी हैं और आप ही मेरे सब कुछ हैं ।

जगदादित्रयं लोकक्रमेण अन्तरङ्गमपि मम न किंचित्;—तद्विलक्षणचिन्मात्रैकरूपत्वात्। यदा पुनः प्रकाशमयत्वादेतत्सर्वं त्वमेव, तदा मम अपरः—व्यतिरिक्तः कोऽस्तु,—न किञ्चित्; जगदपि स्वरूपमेवेति यावत्॥ १॥

स्वामिन्महेश्वरस्त्वं साक्षात्सर्वं जगत्त्वमेवेति।
वस्त्वेव सिद्धिमेत्विति याच्ञा तत्रापि याच्ञैव॥ २॥

* **स्वामिन्** = हे स्वामी !
त्वं = आप
महेश्वरः = परमेश्वर
(**असि** = हैं)
(**तथा इदं** = और यह)
सर्वं = सारा
जगत् = जगत
साक्षात् = प्रत्यक्ष रूप में
त्वम् = आप का
एव = ही स्वरूप
(**असि** = है),
इति = इस लिए
वस्तु = "(कोई निश्चित) वस्तु
एव = ही
सिद्धिम् = सिद्धि को
एतु = प्राप्त करे,"
इति = ऐसी
याच्ञा = प्रार्थना
तत्रापि = ऐसी दशा में तो
याच्ञा एव = प्रार्थना ही
(**भवति** = रह जाती है)॥ २॥

महेश्वर इति प्राग्वत्। साक्षादिति—अद्वयदृष्ट्या[1], नांशाधिष्ठानेन। इति वस्त्वेव-पारमार्थिकमेवैतत्। तत्रापि एवमवस्थितेऽपि[2]। एतत्सिद्धिमेतु;–इति या याच्ञा, सा याच्ञैव—

---

* भाव यह है—हे भगवन्! आप सर्व-सिद्धि-प्रद हैं। आप के सांनिध्य के कारण संसार में होने वाली कोई ऐसी वस्तु नहीं है, जो मुझे सहज में ही उपलब्ध न हो। अतः किसी वस्तु के लिए आप से प्रार्थना करने का कोई अवकाश ही नहीं है॥ २॥

१ ख० पु० अद्वयदृष्ट्या चाधिष्ठानेनेति पाठः।

२ ख० पु० एवमेव स्थिते—इति पाठः।

"त्वमेव प्रकटीभूया इत्यनेनैव लज्ज्यते ॥"

शि० स्तो०, ३ स्तो० १६ श्लो० ॥

इति स्थित्या न युक्तैवेत्यर्थः ।

"होन्ति कमलाइ कमलाइ"

इति न्यायेन द्वितीयो याच्ञाशब्दः अचारुत्वनै[१]ष्प्रयोजन्यादिमात्रताध्वननपरः ॥ २ ॥

त्रिभुवनाधिपतित्वमपीह य-
त्तृणमिव प्रतिभाति भवज्जुषः ।
किमिव तस्य फलं शुभकर्मणो
भवति नाथ भवत्स्मरणादृते ॥ ३ ॥

नाथ = हे स्वामी !
इह = इस संसार में
यत् = जो
त्रि- = तीनों
भुवन- = लोकों का
अधिपतित्वम् = स्वामित्व
(**अस्ति** = है),
(**तत्** = वह)
अपि = भी
भवत्- = आप के
जुषः = (समावेश-युक्त) भक्त-जनों को
तृणम् = तृण के
इव = समान (तुच्छ)
प्रतिभाति = दिखाई देता है,
(**अतः** = अतः)
तस्य = उस (स्वरूप-संपन्मय)
शुभ-कर्मणः = शुभ-कर्म का (अर्थात् उस कर्म के करने वाले का)
भवत्- = आप के
स्मरणात् = स्मरण के
ऋते = बिना
किम् इव = भला और क्या
फलं = फल
भवति = हो सकता है ! ॥ ३ ॥

भवज्जुषः—समावेशयुक्तान्, इति प्रतियोगे शस् । इहेति—अस्मिन्नेव समये । त्रिभुवनाधिपतित्वं—भूर्भुवस्स्वः—स्वामित्वमपि, तृणमिव प्रतिभाति । तस्य—तथाप्रतिभानलक्षणस्य शुभकर्मणोः, भवत्स्मरणा-

१ ख० पु० निष्प्रयोजनत्वादिपात्रताध्वननपरः,
ग० पु० निष्प्रयोजनत्वादिमात्रताध्वननपुरःसरः इति च पाठः ।

इते—भवत्स्मृतिं[1] विना, किं फलं, न किंचिदन्यद्व्यतिरिक्तमस्तीति यावत् प्राप्तव्यस्यैव प्राप्तत्वात् ॥ ३ ॥

येन नैव भवतोऽस्ति विभिन्नं
किञ्चनापि जगतां प्रभवश्च ।
त्वद्विजृम्भितमतोऽद्भुतकर्म-
स्वप्युदेति न तव स्तुतिबन्धः ॥ ४ ॥

* (**प्रभो** = हे ईश्वर !)
येन = चूंकि
भवतः = आप (के स्वरूप) से
विभिन्नं = भिन्न
किंचन = कुछ
अपि = भी
न अस्ति = नहीं है
च = और
जगतां = (समस्त) जगत को
प्रभवः = उत्पन्न करने वाला
(**अपि** = (ब्रह्मा) भी)
त्वद्- = आप के ही स्वरूप का
विजृम्भितम् एव (अस्ति)=स्फार है,
अतः = इस लिए
तव = (संसार की उत्पत्ति तथा नाश आदि) आप के
अद्भुत- = चमत्कार-पूर्ण
कर्मसु = कार्यों में
अपि = भी (भेद के अभाव के कारण)
स्तुति-बन्धः = (आप की) स्तुति करने (का प्रश्न ही)
न = नहीं
उदेति = उठता ॥ ४ ॥

त्वत्तो भिन्नं किंचनापि नास्ति,—सर्वस्य प्रकाशैकरूपत्वात्[2] । जगतां प्रभवोऽपि—ब्रह्माद्याः तवैव जृम्भा येन हेतुना, अतः अद्भुतेषु विश्वसर्ग-

1. ख० पु० भवत्स्मरणं विनेति पाठः ।

* भाव यह है—हे प्रभु ! इस संसार में अत्यन्त चमत्कार-पूर्ण कार्यों का करना आपके बायें हाथ का खेल है । जब आप ही स्तुत्य, स्तोत्र, स्तुति तथा स्तुति-कर्ता आदि के रूपों में भासमान हैं, तो कौन किस की और कैसे स्तुति करे ? ॥ ४ ॥

२. ख० पु० प्रकाशरूपत्वादिति पाठः ।

संहारादिष्वपि कर्मसु तव[1] स्तुतिबन्धः स्तोत्रादिभेदाभावान्नास्ति;[2]— त्वमेव स्तोत्रस्तुतिस्तुत्यरूपतया भासि, इत्ययमत्र तत्त्वार्थः ॥ ४ ॥

त्वन्मयोऽस्मि भवदर्चननिष्ठः
सर्वदाहमिति चाप्यविरामम् ।
भावयन्नपि विभो स्वरसेन
स्वप्नगोऽपि न तथा किमिव स्याम् ॥ ५ ॥

विभो = हे व्यापक ईश्वर !
अहं = मैं
सर्वदा = सदैव
भवत्- = आप (चित्-स्वरूप) के
अर्चन- = पूजन में
निष्ठः = लगा हुआ
च = और
त्वद्- = आप (के स्वरूप) से
मयः = अभिन्न
अस्मि = बना रहता हूँ,
इति = इस प्रकार
अविरामम् = लगातार
अपि = ही
(**भवन्तं** = आप की)
भावयन् = भक्ति-भावना करता हुआ
अपि = भी
(**अहं** = मैं)
स्वप्नगः = स्वप्न-अवस्था में जा कर
अपि = भी
स्वरसेन = आप से आप
(**एव** = ही)
तथा = वैसा (अर्थात् आप के पूजन में लगा हुआ)
किम् इव = भला क्यों
न = नहीं
* **स्याम्** = होता हूं ! ॥ ५ ॥

त्वन्मय इति—त्वमेव प्रकृतं रूपं यस्य, तथा भूतोऽस्मि । त्वय्येव चिन्मये विश्वार्पणक्रमेणाहं सर्वदा अर्चननिष्ठः—इत्यविरामं कृत्वा भावयन्नपि—व्युत्थाने अनुसन्दधदपि, स्वप्नगोऽपि स्वरसेनैव—स्वेच्छा-[3]

१. ख० पु० तव न स्तुतिबन्धः—इति पाठः ।

२. ख० पु० स्तोत्रादिभेदाभावात्—इति पाठः ।

* भाव यह है—हे भगवान् ! मुझे स्वप्न-अवस्था में भी उस समावेश-सुख का अनुभव क्यों नहीं होता, जो मुझे जागरण-अवस्था में सदा और सहज में ही उपलब्ध होता है ॥ ५ ॥

३. ख० ग० पु० स्वेच्छया वशेनैवेति पाठः ।

वशेनैव किमिति न तथैव भवामि—कस्मात्स्वप्नेऽपि—संस्कारप्रबोध-सारेऽपि जागरावत्[1] त्वदर्चापरो न भवामि—न समाविशामीति यावत् ॥

येन मनागपि भवच्चरणाब्जो-
द्भूतसौरभलवेन विमृष्टाः ।
तेषु विस्रमिव भाति समस्तं
भोगजातममरैरपि मृग्यम् ॥ ६ ॥

(प्रभो = हे स्वामी !)
ये = जो
(भक्ताः = भक्त-जन)
भवत्- = आप के
चरण-अब्ज- = चरण-कमलों से
उद्भूत- = निकली हुई
सौरभ- =(चिदानन्द रूपी) सुगंधि के
लवेन = लेश-मात्र का
मनाक् = ज़रा सा
अपि = भी
विमृष्टाः = स्पर्श प्राप्त करते हैं,
तेषु = उन्हें (तो)
अमरैः = देवताओं के लिए
अपि = भी
मृग्यं = वाञ्छनीय
समस्तं = समस्त
भोग- = (स्वर्ग आदि) भोगों का
जातं = समूह
विस्रम्* = दुर्गन्धि से भरा हुआ
इव = जैसा (अर्थात् अत्यन्त तुच्छ और त्याज्य)
भाति = प्रतीत होता है ॥ ६ ॥

चरणाब्जं—प्राग्वत् । सौरभम्—अवस्थास्नुरामोदसंस्कारस्तस्य लवः[2]—अंशमात्रं न तु पूर्णं रूपं, तेन ये विमृष्टाः—मनाङ्मात्रेणापि पात्रीकृताः, तेषु समस्तं—सदाशिवान्तं भोगजातं देवैरपि प्रार्थनीयं विस्रं—दुरामोदमिव प्रतिभाति । एवं च पूर्णसमावेशशालिनां दण्डापूपिकयैव दूरोत्सारितः सिद्ध्यभिलाषः ॥ ६ ॥

---

१. ख० पु० जागरवत्—इति पाठः ।

* जब सामान्य भक्त की ऐसी दशा होती है, तो उनका भला क्या कहना, जिन्हें पूर्ण समावेश-सुख का अनुभव होता है। उनके हृदय से तो विषय-सम्बन्धी सुख की अभिलाषा आप से आप ही दूर भाग जाती है ॥ ६ ॥

२. ख० पु० लवो-लेशमात्रम्—इति पाठः ।

हृति ते न तु विद्यतेऽन्यदन्य-
द्वचने कर्मणि चान्यदेव शंभो।
परमार्थसतोऽप्यनुग्रहो वा
यदि वा निग्रह एक एव कार्यः ॥ ७ ॥

शम्भो = हे महादेव !
ते = आप के
हृदि = हृदय (अर्थात् संकल्प) में
अन्यत् = कुछ,
वचने = वाणी में
अन्यत् = कुछ
च = और तथा
कर्मणि = कर्म (अर्थात् व्यवहार) में
अन्यत् = कुछ और
एव = ही
विद्यते = हो,
(**इति**) **तु** = (ऐसी बात) तो
न = नहीं
अस्ति = है (अर्थात् आप के मन, वचन और कर्म में पूर्ण साम्य है),
(**तस्मात्** = इस लिए) (आप को)
परमार्थसतः अपि (**मम**) = (मुझ) सच्चे भक्त तथा सरल-स्वभाव वाले पर
अनुग्रहः वा = अनुग्रह (अर्थात् आप के स्वरूप के साथ एकता)
यदि वा = अथवा
निग्रहः = निग्रह (अर्थात् आप चित्-स्वरूप की अप्रथा)
एकः एव = एक ही
कार्यः = करना चाहिए ॥ ७ ॥

चिदद्वयप्रथारूपो महादेवः यत्र प्रथितुं प्रवृत्तः तत्र हृदयादनुष्ठान-पर्यन्तं प्रथते। यत्र तु गूहितात्मा, तत्र हृदि, वचसि कर्मणि च गूहितात्मैव, यतः परमार्थेन सतः—साधोः सात्त्विकस्य च वस्तुतो निग्रहानुग्रहयोर्मध्यादेकमेव कर्त्तव्यं भवति न तु शबलचेष्टितत्वम्—इति अर्थान्तरन्यासाद्[1] भेदः। प्रकृतेऽर्थे निग्रहानुग्रहौ—स्वरूपनिमीलनोन्मीलने, अप्रकृतेऽपि—अपकारोपकाराविति श्लेषच्छायापि ॥ ७ ॥

मूढोऽस्मि दुःखकलितोऽस्मि जरादिदोष-
भीतोऽस्मि शक्तिरहितोऽस्मि तवाश्रितोऽस्मि।

१. ख० पु० अर्थान्तरन्याससम्भेदः—इति पाठः।

शम्भो तथा कलय शीघ्रमुपैमि येन
सर्वोत्तमां धुरमपोज्झितदुःखमार्गः ॥ ८ ॥

शम्भो = हे महादेव !
(**अहं** = मैं)
मूढः = मूर्ख अर्थात् अज्ञानी
अस्मि = हूँ,
दुःख- = (संसार के) दुःखों में
कलितः = फंसा हुआ
अस्मि = हूँ,
जरा- = बुढापा
आदि- आदि
दोष- = दोषों से
भीतः = भयभीत
अस्मि = हुआ हूँ,
शक्ति-रहितः = सामर्थ्य-हीन
अस्मि = हूँ,
(**परञ्च** = किन्तु)
तव = आप की
आश्रितः = शरण में
अस्मि = आया हूँ ।
(**तस्मात् त्वं** = इसलिए आप)
तथा = ऐसा
कलय = कीजिए
येन = कि
(**अहं** = मैं)
अपोज्झितदुःखमार्गः = (स्वरूप-अप्रथन रूपी) दुःख-मार्ग को त्याग कर
सर्वोत्तमां = (स्वरूप-समावेश-रूपिणी) सर्वोत्कृष्ट
धुरं = पदवी को
शीघ्रम् = (शाम्भवोपाय द्वारा) तुरन्त
उपैमि = प्राप्त करूँ ॥ ८ ॥

व्युत्थानापेक्षयैवैतदित्युक्तप्रायम् । 'तवाश्रितोऽस्मि'—इत्यत्र भरं कृत्वा उत्तरार्धं योज्यम् । कलय—सम्पादय । सर्वोत्तमां—सम्पूर्णसमावेशमयीम् ॥ ८ ॥

त्वत्कर्णदेशमधिशय्य महार्घभाव-
माक्रन्दितानि मम तुच्छतराणि यान्ति ।
वंशान्तरालपतितानि जलैकदेश-
खण्डानि मौक्तिकमणित्वमिवोद्वहन्ति ॥ ९ ॥

(**प्रभो** = हे स्वामी !)
मम = मेरी
तुच्छतराणि = अति तुच्छ
आक्रन्दितानि = करुण-स्वर-पूर्ण पुकारें
त्वत्- = आप के

कर्ण- = कानों के
देशम् = पास
अधिशय्य = पहुँच कर ही
महार्घभावं = बहुमूल्यता (अर्थात् बड़े गौरव) को
यान्ति, = प्राप्त करती हैं,
इव = जिस प्रकार (स्वाति-नक्षत्र में)
जल- = (वर्षा के) जल की
एक-देश-खण्डानि = छोटी-छोटी बूंदें
वंश- = बांस के
अन्तराल- = बीच में
पतितानि = पड़ कर
मौक्तिक-मणित्वम् = मोतियों के रूप को
* **उद्वहन्ति** = धारण करती हैं ॥९॥

अधिशय्य—प्राप्य, महार्घभावम्—अनर्घत्वम्, तुच्छतराणीति अनौद्धत्यं ध्वनति। यान्तीति तु अति[1]भक्तत्वेन निश्चितप्रतिपत्तित्वात्। वंशान्तरे इत्यर्थान्तरन्यासः स्पष्टः ॥ ९ ॥

किमिव च[2] लभ्यते बत न तैरपि नाथ जनैः
क्षणमपि कैतवादपि च ये तव नाम्नि रताः।
शिशिरमयूखशेखर तथा कुरु[3] येन मम
क्षतमरणोऽणिमादिकमुपैमि यथा विभवम् ॥१०॥

नाथ = हे ईश्वर !
क्षणम् = क्षण-मात्र के लिए
अपि च = भी अथवा
कैतवात् = छल-कपट से
अपि = भी
ये = जो
तव = आप के
नाम्नि = नाम (के स्मरण) में
रताः = अनुरक्त होते हैं,
तैः = उन

* कवि-परम्परा-गत वर्णन के अनुसार कहा जाता है कि स्वाति नक्षत्र में वर्षा के जल की बूंदें सीप में मोती, बाँस में वंशलोचन-मणि और सांप के मुख में विष बनती हैं।

१ ख० पु० अतिभक्तित्वेनेति पाठः।
ग० पु० अतिभक्तत्वादिति च पाठः।
२ ख० पु० न—इति पाठः।
३ ग० पु० कुरुषे न ममेति पाठः।

जनैः = लोगों से
अपि = भी
किमिव च = भला क्या कुछ
वत न लभ्यते = प्राप्त नहीं किया जाता ! (अर्थात् वे भी इच्छानुसार सब कुछ पाते हैं) !
(**तस्मात्** = इसलिए)
शिशिर-मयूख-शेखर = हे शशि-शेखर ! (महादेव जी !)
मम = मेरे लिए
तथा कुरु = ऐसा कीजिए
येन (अहं) = कि (मैं)
क्षत-मरणः (सन्) = मृत्यु-पाश से छूट कर (अर्थात् अकाल-कलित हो कर)
यथा-विभवम् = ऐश्वर्य-पूर्वक
अणिमादिकम् = अणिमा आदि (सिद्धियों) को
उपैमि = प्राप्त करूँ ॥ १० ॥

कैतवात्—व्याजादपि ये जनास्तव नाम्नि—न तु तात्त्विके स्वरूपे रतास्तैरपि किं न लभ्यते—पूजासत्काराद्यभीष्टमपरिज्ञाततदाशयेभ्यः सकाशात्प्राप्यत एव। ये तु परमार्थतः सततं च त्वयि रताः, ते अर्थादेव परमार्थमया एव। अतो हे शिशिरमयूखशेखर—सर्वसन्तापहारिन्! तथा कुरु यथा प्राग्व्याख्यातरूपाणिमादिकं विभवमुपैमि। क्षतमरणः—अकालकलितः। अस्य पदस्यायमाशयः—यद् ब्रह्मादयः अणिमादिविभूतियुक्ता अपि मृतिधर्माण एव। यथोक्तमस्मद्गुरुभिः क्रमकेलौ

'श्रीमत्सदाशिवपदेऽपि गतोग्रकाली
भीमोत्कटभ्रुकुटिरेष्यति भङ्गभूमिः ॥'

इति। अतो मां क्षतमरणं—चिदानन्दघनमद्वयाणिमादिपात्रं कुरु। ये तु विभूतिस्पृहापरत्वे[1]नैतद्व्याकुर्वते तेषां

'स्मरसि नाथ कदाचिदपीहितं' ॥ शि० स्तो०, ४, श्लो० २० ॥

इति,

'सत्येन भगवन्नान्यः······' ॥ शि० स्तो०, १६, श्लो० ६ ॥

इति,

'······विस्रमिव भाति समस्तं
भोगजातम्······' ॥ शि० स्तो० ११, श्लो० ६ ॥

इत्यादि च व्याहतमेव ॥ १० ॥

---

१. ख० पु० स्पृहणीयत्वेनेति पाठः।

शम्भो शर्व शशाङ्कशेखर शिव त्र्यक्षाक्षमालाधर
श्रीमन्नुग्रकपाललाञ्छन लसद्भीमत्रिशूलायुध ।
कारुण्याम्बुनिधे त्रिलोकरचनाशीलोग्रशक्त्यात्मक
श्रीकण्ठाशु विनाशयाशुभभरानाधत्स्व सिद्धिं पराम् ॥

शम्भो = हे कल्याण-कारक !
शर्व = हे (पापियों को) सन्ताप देने वाले !
शशाङ्क-शेखर = हे चन्द्र-शेखर !
शिव = हे कल्याण-स्वरूप !
त्र्यक्ष = हे त्रिनेत्र-धारी !
अक्षमालाधर = हे जप-मालाधारी !
श्रीमन् = हे मोक्ष-लक्ष्मी वाले !
उग्र- = हे भयंकर
कपाल-लाञ्छन = खोपड़ियों के चिह्न वाले !
लसत्- = हे चमकीले
भीम- = तथा भयानक
त्रिशूल- = त्रिशूल रूपी
आयुध = आयुध को धारण करने वाले ।
कारुण्य-अम्बुनिधे = हे दया-सागर !
त्रि-लोक-रचना-शील = हे तीनों लोकों के निर्माता !
उग्र- = हे भयंकर
शक्ति-आत्मक = शक्ति-स्वरूप
श्रीकण्ठ = हे श्रीकण्ठ !
अशुभ- = (मेरे) पापों की
भरान् = गठरियों को
आशु = तुरन्त
विनाशय = तहस-नहस कीजिए
(**तथा** = और)
परां = (मुक्ति-रूपिणी) उत्कृष्ट
सिद्धिम् = सिद्धि (मुझे)
आधत्स्व = प्रदान कीजिए ॥ ११ ॥

उग्राणि—भीषणानि अशेषब्रह्मादिसम्बन्धीनि कपालानि लाञ्छनं यस्य । उग्राः[1]—विश्वसंहर्त्र्यः शक्तयः आत्मा यस्य । अशुभभरान्—भेदोल्लासान् । परां—परमाद्वयानन्दसाराम्[2] ॥ ११ ॥

तत्किं नाथ भवेन्न यत्र भगवान्निर्मातृतामश्नुते
भावः स्यात्किमु तस्य चेतनवतो नाशास्ति यं शङ्करः ।

१. ख० ग० पु० 'उग्राः' इत्यादि, 'आत्मा यस्य'—इत्यन्तं नास्ति ।
२. ख० पु० रूपाम्—इति पाठः ।

इत्थं ते परमेश्वराक्षतमहाशक्तेः सदा संश्रितः
संसारेऽत्र निरन्तराधिविधुरः क्लिश्याम्यहं केवलम् ॥

नाथ = हे स्वामी !
परमेश्वर = हे महेश्वर !
तत् = वह
किं = कौन सी वस्तु
भवेत् = हो सकती है,
यत्र = जहाँ (अर्थात् जिस के)
भगवान् = आप प्रभु
निर्मातृतां = निर्माता के रूप में
न अश्नुते = व्याप्त नहीं होते ?
(**तथा** = और)
तस्य = उस
चेतनवतः = (सकल आदि) चेतन (प्रमातृ-वर्ग) का
किमु = (वह) कौन सा
भावः = (भूत, भुवन आदि रूपी) पदार्थ
स्यात् = हो सकता है,
यं = जिस पर
शङ्करः = (आप) महादेव
न आशास्ति = अनुशासन नहीं करते ?
इत्थं = इस प्रकार
अक्षत- = परिपूर्ण
महा-शक्तेः = महाशक्ति वाले
ते = आप की
संश्रितः = शरण में आकर
(**अपि** = भी)
अहम् = मैं
अत्र = इस
संसारे = संसार में
सदा = सदैव
निरन्तर- = लगातार
आधि- = मानसिक पीडाओं से
विधुरः (**सन्**) = व्याकुल हो कर
केवलं = केवल
*__क्लिष्यामि__ = दुःख का ही अनुभव करता हूँ ॥ १२ ॥

तदिति—तत्त्व[1]भूतभावभुवनादि, भावः—सत्ता, चेतनवतः—सकलादेर्मन्त्रमहेश्वरान्तस्य आशास्तीति

'प्रवृत्तिर्भूतानामैश्वरी ।'

इति स्थित्या सर्वप्रमातृनि[2]यामकत्वरूपं शासितृत्वं भगवत एव । सदेति—

* भाव यह है—हे शंकर ! आप सारे जगत के उत्पादक, रक्षक तथा संहारक हैं । मैं आप की शरण में आया हूँ, किन्तु फिर भी दुःखी हूँ । आप ऐसे सर्वशक्तिमान प्रभु का शरणागत हो और वह दुःखी हो ! यह क्यों ?

१ ख० पु०, च० पु० तत्त्वभूतभावो भुवनादिभावः—इतिः पाठः ।

२ ख० पु०, च० पु० नियामकरूपमिति पाठः ।

न तु कदाचित्, निरन्तराधिविधुरत्वं—व्युत्थाने समावेशानासादनात्। अहं केवलम्—इत्यत्रायमभिप्रायः;—मायीया इयं देहादिप्रमातृता चेद्गलिता, तत्सर्वमिदं त्वन्मयमेवोच्यते। देहाद्यहन्तैवोन्मूलनीया वर्तते ॥१२॥

यद्यप्यत्र वरप्रदोद्धततमाः पीडाजरामृत्यव
एते वा क्षणमासतां बहुमतः शब्दादिरेवास्थिरः।
तत्रापि स्पृहयामि सन्ततसुखाकाङ्क्षी चिरं स्थास्नवे
भोगास्वादयुतत्वदङ्घ्रिकमलध्यानाग्र्यजीवातवे॥१३॥

वर-प्रद् = हे वर-दायक (प्रभु) !
यद्यपि = यद्यपि
अत्र = इस संसार में
पीडा- = दुःख,
जरा- = बुढ़ापा
मृत्यवः = और मृत्यु
उद्धततमाः = अत्यन्त भयंकर अर्थात् असह्य
(भवन्ति = होते हैं),
एते वा = तो भी इन को
क्षणम् = अभी
आसताम् = रहने दीजिए,
(किन्तु = किन्तु)
बहु-मतः = बहु-मान्य
शब्द-आदिः = शब्द आदि विषय
एव = ही तो
अस्थिरः = अस्थिर अर्थात् क्षण-भंगुर
(भवति = हैं)।
तत्रापि = ऐसा होते हुए भी
संतत-सुख- = (अद्वयानन्द रूपी) स्थायी सुख को
आकाङ्क्षी = चाहने वाला
(अहं = मैं)
चिरं स्थास्नवे = चिर-स्थायी,
भोग-आस्वाद- = (चित्-आनन्द के) चमत्कार से
युत- = युक्त
त्वद्- = (चित्-प्रकाश संबन्धी प्रकाश-विमर्श रूपी) आप के
अङ्घ्रि-कमल- = चरण-कमलों के
ध्यान- = ध्यान से युक्त
अग्र्यजीवातवे = (और इसीलिए) श्रेष्ठ जीवन के लिए
स्पृहयामि = कामना करता हूँ ॥१३॥

अत्रेति—संसारे। उद्धततमाः—असह्याः। क्षणमासतां—साम्प्रतं तिष्ठन्तु—इति लौकिक्युक्तिः। बहुमतः विश्वस्याभिलषितः सन्ततम्—अद्वयानन्दरूपं सुखमाकाङ्क्षति[1] तच्छीलः चिरं स्थास्नवे—चिरमवस्थान-

१ ख० पु०, च० पु० सुखमाकाङ्क्षतीति तच्छीलः—इति पाठः

शीलाय, जीवातवे—जीविताय, स्पृहयामि । कीदृशाय ? भोगास्वाद-युतत्वदङ्घ्रिकमलध्यानाग्र्याय—परमानन्दचमत्कारयुक्तत्वन्मरीचिपद्म-चिन्तनप्रधानाय। अत एव स्पृहणीयत्वम् ॥ १३ ॥

हे नाथ प्रणतार्तिनाशनपटो श्रेयोनिधे धूर्जटे
दुःखैकायतनस्य जन्ममरणत्रस्तस्य मे साम्प्रतम् ।
तच्चेष्टस्व यथा मनोज्ञविषयास्वादप्रदा उत्तमाः
जीवन्नेव समश्नुवेऽहमचलाः सिद्धीस्त्वदर्चापरः ॥

हे नाथ = हे नाथ !
प्रणत- = हे शरणागतों के
आर्ति- = दुःखों को
नाशन- = नष्ट करने में
पटो = प्रवीण !
श्रेयः-निधे = हे कल्याण-सागर !
धूर्जटे = हे धूर्जटि शङ्कर !
दुःख-एक- = केवल दुःखों का
आयतनस्य- = घर बने हुए
जन्म-मरण- = (तथा) जन्म-मृत्यु से
त्रस्तस्य = भयभीत बने हुए
मे = मेरे लिए
साम्प्रतं = अब
तत् = ऐसा
चेष्टस्व = कीजिए
यथा = कि
अहं = मैं
त्वद्- = आप की
अर्चा- = पूजा में
परः = तत्पर
(सन् = हो कर)
मनोज्ञ- = (चिदानन्द रूपी) मनोहर
विषय- = विषयों के
आस्वाद- = चमत्कार को
प्रदाः = देने वाली
उत्तमाः = श्रेष्ठ
अचलाः = तथा चिर-स्थायी
सिद्धीः = (स्वरूप-प्रथनात्मक) सिद्धियों को
जीवन्नेव = जीते जी ही
समश्नुवे = प्राप्त करूँ । (अर्थात् समाविष्ट हो कर ही मैं आप की पूजा में लीन होता रहूँ और इस प्रकार जीवन्मुक्त बनूँ) ॥ १४ ॥

मनोज्ञं—चिदानन्दसुन्दरं, विषयाणां—रूपादीनां चमत्कारास्वादं प्रदं[1]-दति यास्ताः, उत्तमा अचलाः सिद्धीरिति प्राग्वत् । जीवन्नेवेति—न[2] तु देह-

१ ख० पु० च० पु० ददति—इति पाठ ।

२ ग० पु०, च० पु० न देहपाते—इति पाठः ।

पाते, अपि तु जीवदवस्थायामेव । समाविष्ट एवाहं त्वदर्चापर इति—त्वयि—चिदानन्दात्मनि विश्वार्पणपरः ॥ १४ ॥

नमो मोहमहाध्वान्त-
ध्वंसनानन्यकर्मणे ।
सर्वप्रकाशातिशय-
प्रकाशायेन्दुलक्ष्मणे* ॥ १५ ॥

(**नाथ** = हे स्वामी !)
मोह- = मोह रूपी
महा- = महान्
ध्वान्त- = अन्धकार को
ध्वंसन- = नष्ट करने में
अनन्य-कर्मणे = सदा उद्यत रहने वाले,
सर्व- = समस्त
प्रकाश- = (अग्नि, सूर्य और चन्द्र आदि के) प्रकाश से
अतिशय- = बढ़ चढ़ कर
प्रकाशाय = तेज को धारण करने वाले
(**च** = और)
इन्दु-लक्ष्मणे = चन्द्रमा ही चिह्न वाले (अर्थात् सोम-कला-धारी)
(**भवते** = आप को)
नमः (अस्तु) = नमस्कार (हो) ॥१५॥

महामोहध्वान्तस्य—मायातमसः ध्वंसने अनन्यकर्मा—सदोद्युक्तः, सर्वान्—अग्नीषोमसूर्यप्रकाशानतिशेते यस्तथाभूतः प्रकाशो यस्य, तस्मै । ध्वान्तध्वंसे—प्रकाशनव्यापारे चानुगुणमभिधानमिन्दुलक्ष्मणे इति शिवम् ॥ १५ ॥

इति श्रीमदुत्पलदेवाचार्यविरचितस्तोत्रावल्यामौत्सुक्यविश्वसितनाम्नि एकादशस्तोत्रे श्रीक्षेमराजाचार्यविरचिता विवृतिः ॥ ११ ॥



१ ख० पु० जीवद्दशायामेवेति पाठः ।

२ घ० पु० एव—इति पाठः ।

३ ख० पु०, च० पु० चिदात्मनि—इति पाठः ।

* 'इन्दुलक्ष्मणे'—यह महादेव का नाम अत्यन्त सार्थक है । इससे सूचित होता है कि भगवान् शङ्कर प्रकाश फैला कर अन्धकार को दूर करने की पूरी क्षमता रखते हैं ।

ॐ तत् सत्

अथ

रहस्यनिर्देशनाम द्वादशं स्तोत्रम्

सहकारि न किञ्चिदिष्यते
भवतो न प्रतिबन्धकं दृशि।
भवतैव हि सर्वमाप्लुतं
कथमद्यापि तथापि नेक्षसे ॥ १ ॥

(प्रभो = हे ईश्वर !)
भवतः = आप का
दृशि = साक्षात्कार करने में
किञ्चित् = (अन्तः करण की शुद्धि आदि) किसी
सहकारि = सहायक (साधन) की
न इष्यते = अपेक्षा नहीं है
(**तथा किंचित्** = तथा कोई)
प्रतिबन्धकं = रोकने वाला भी
न = नहीं है,
हि = क्योंकि
सर्वं = (यह) सारा (जड-चेतन-मय जगत)
भवता = आप (चिद्रूप) से
एव = ही
आप्लुतं = व्याप्त है ।
तथापि = ऐसा होते हुए भी,
कथम् = क्या बात है कि
अद्य-अपि = अभी भी (व्युत्थान में)
(**त्वं** = आप)
* **न ईक्षसे** = (प्रत्यक्ष रूप में) दिखाई नहीं देते ॥ १ ॥

भवतो दृषि—त्वत्प्रकाशने, मलपरिपाकादिकं सहकारि न किञ्चित्, नापि प्रतिबन्धकं किञ्चिदस्ति, यस्मात् सहकार्याद्यभिमतं त्वयैव व्याप्तं,

---

* भाव यह है—हे प्रभो ! समावेश की भांति व्युत्थान में भी मुझे आप के साक्षात्कार का आनन्द मिलता रहे, यही मेरी कामना है और इसी से मैं सफल-मनोरथ हो जाऊंगा ।

तथापि कथं[1]मद्यापि—इयति व्युत्थाने नेक्षसे—न प्रकाशसेऽस्माकमित्यर्थः। भवतः—इति कर्मणि षष्ठी ॥ १ ॥

अपि भावगणादपीन्द्रिय-
प्रचयाद्[2]प्यवबोधमध्यतः।
प्रभवन्तमपि स्वतः सदा
परिपश्येयमपोढविश्वकम् ॥ २ ॥

(**प्रभो** = हे स्वामी !)
भाव-गणात् = (घट, पट आदि) वस्तु-वर्ग से
अपि = भी
इन्द्रिय- = इन्द्रियों के
प्रचयात् = समूह में से
अपि = भी
अवबोध-मध्यतः अपि = (और) चित्-प्रकाश रूपी तुर्य-अवस्था में भी
स्वतः = आप से आप ही
प्रभवन्तं = प्रकट बने हुए
(**त्वाम्** = आप के स्वरूप को)
(**अहं** = मैं)
सदा = सदा
अपोढ-विश्वकं = भेद-भाव को तिलाञ्जलि दे कर
* **परिपश्येयम्** = सर्वथा (अर्थात् व्युत्थान में भी, देखता रहूँ ॥ २ ॥

भावेभ्यः, इन्द्रियेभ्यः, ज्ञानेभ्य आत्म[3]नश्च सकाशात् त्वामेव प्रभुं नित्यं परितः—समन्तात् पश्येयम्। कथम्? अपोढविश्वकं—तिरस्कृताशेषभेदं कृत्वा ॥ २ ॥

कथं ते जायेरन्कथमपि च ते दर्शनपथं
व्रजेयुः केनापि प्रकृतिमह[4]ताङ्केन खचिताः।

---

१ ख० पु० कथमद्यापीति-व्युत्थाने—इति पाठः।
ग० पु०, च० पु० कथमद्यापीति इयति व्युत्थाने—इति च पाठः।

* भाव यह है—चाहे समावेश हो अथवा व्युत्थान, सभी दशाओं में मैं प्रत्यक्ष रूप में आप के साक्षात्कार का आनन्द उठाता रहूँ। यही मेरी कामना है और इस के सिवा मेरे सुख का कोई दूसरा साधन नहीं है।

२ ख० पु०, च० पु० इन्द्रियप्रथमादिति पाठः।

३ ग० पु० आत्मनः—इति पाठः।

४ ग० पु० महता केन—इति पाठः।

तथोत्थायोत्थाय स्थलजलतृणादेरखिलतः
पदार्थाद्यान्सृष्टिस्रवदमृतपूरैर्विकिरसि ॥ ३ ॥

(**नाथ** = हे नाथ !)
स्थल- = स्थल,
जल- = जल और
तृण-आदेः = तृण आदि
अखिलतः = समस्त
पदार्थात् = वेद्य वर्गों से (अर्थात् परिमित वेद्य दशा से)
यान् = जिन्हें
(**त्वं** = आप)
तथा = अलौकिक अनुग्रह-शक्ति से
उत्थाय-उत्थाय=उठा-उठा कर (अर्थात् उनका उद्धार कर के)
सृष्टि- = (उन पर परमानन्द रूपी) सृष्टि से
स्रवत्- = बहती हुई
अमृत-पूरैः = अमृत की धारायें
विकिरसि = बरसाते हैं,
ते (भक्ताः) = वे (भक्त-जन)
केन-अपि = एक अलौकिक
प्रकृति- = (पारमार्थिक) स्वभाव के
महता- = बड़े (अर्थात् असाधारण)
अङ्केन = चिह्न से
खचिताः = प्रकाशित
(**सन्तः** = हो कर)
कथं = कैसे
जायेरन् = (इस संसार में फिर) जन्म ले सकते हैं
च = और
कथम् अपि = कैसे
ते = वे
(**लोकस्य** = लोगों की)
दर्शन-पथं = दृष्टि के मार्ग पर (अर्थात् वेद्य-रूपता में)
* **व्रजेयुः** = आ सकते हैं ? (अर्थात् वे ज्ञातृ-रूप हैं, अतः किसी प्रकार से ज्ञेय नहीं बन सकते ।) ॥ ३ ॥

अखिलतः पदार्थात्[1] तथेति—अलौकिकेन प्रकारेण उत्थायोत्थायेति—तत्तद्वेद्यदशायां[2] भेदं निमज्ज्य चिद्रूपतया स्फुरित्वा, यान् ज्ञानात्मक-

---

* भाव यह है—हे नाथ ! जिन भक्तों पर आप की दया-दृष्टि, आनन्द-अमृत-धारा छिटकाती है, वे सदा के लिए जन्म-मरण के चक्कर से छूट जाते हैं और लोगों से देखे नहीं जा सकते, अर्थात् जीवन्मुक्त हो जाते हैं ।

१ ग० पु०, च० पु० 'पदार्थात्' इत्यनन्तरं 'उत्थायोत्थायेति वीप्सा'—इत्यधिकः पाठः ।

२ ङ० पु० तत्तद्वेद्यप्रथायामिति पाठः ।

प्रसरदमृतोत्करैरा[1]च्छुरयसि, ते केनापि प्रकृतिमहता इति—नित्य[2]विकसितरोमाञ्चितत्वादिना चिह्नेन[3] प्रकाशिताः, न जन्मभाजो नापि लोकैः लक्ष्यन्ते । कथमिति—असंभावनायाम् ॥ ३ ॥

साक्षात्कृतभवद्रूपप्रसृतामृततर्पिताः ।
उन्मूलित[4]तृषो मत्ता विचरन्ति यथारुचि ॥ ४ ॥

(**भगवन्** = हे भगवान् !)
साक्षात्-कृत- = साक्षात्कार किये हुये
भवत्- = आप के
रूप- = स्वरूप से
प्रसृत- = बहते हुए
अमृत- = आनन्द-रस से
तर्पिताः = जो तृप्त हो गये हैं,
उन्मूलित-तृषः = जिन्हों ने तृष्णा को जड़ से उखाड़ डाला है (अर्थात् ऐश्वर्य की इच्छा को बिल्कुल शान्त कर लिया है),
मत्ताः = और जो (पारमार्थिक) मस्ती से युक्त हैं, ऐसे
(**भवद्भक्ताः** = आप के भक्त-जन)
(**संसारे** = इस संसार में)
यथा-रुचि = अपनी इच्छा से (अर्थात् स्वतन्त्र और निश्चिन्त होकर)
विचरन्ति = विहार करते हैं ॥ ४ ॥

अमृतम्—आनन्दः । उन्मूलिता—अपुनरुत्थानेन शमिता, तृट्—विभूत्यादिस्पृहा यैः । मत्ताः—हृष्टाः, स्वातन्त्र्येन विहरन्ति । अन्ये तु आकाङ्क्षा[5]मयाः परतन्त्रा एव ॥ ४ ॥

न[6] तदा न सदा न चैकदे-
त्यपि सा यत्र न कालधीर्भवेत् ।

१ ख० पु० आस्फुरयसीति पाठः ।

२ ख० पु० विकसिततर—इति पाठः, ग० पु० नित्यविकसितत्वेति पाठश्च ।

३ ख० पु० चिह्नेन—प्रकाशेनेति पाठः । च० पु० प्रकाशेन चिह्नेन—इति पाठः ।

४ ख०, ग०, च० पु० उन्मूलिततृषः—इति पाठः ।

५ ख०, च० पु० आकांक्षायाः—इति पाठः ।

६ ख०, च० पु० न सदा न तदा—इति पाठः ।

तदिदं भवदीयदर्शनं
न च नित्यं न च कथ्यतेऽन्यथा ॥ ५ ॥

(प्रभो = हे प्रभु !)
न सदा = 'सदा नहीं',
न तदा = 'उस समय नहीं'
च = और
न एकदा = 'एक बार नहीं',
इति = ऐसी
सा = यह
काल-धीः = काल-कलनात्मिका बुद्धि
अपि = भी
यत्र = जहाँ (अर्थात् जिस के विषय में)
न भवेत् = (लागू) नहीं हो सकती है,
तत् = ऐसा ही
इदं = यह (काल-कलना से परे)
भवदीय- = आप (के यथार्थ स्वरूप) का
दर्शनम् = दर्शन (अर्थात् साक्षात्कार)
(अस्ति = है)
(**इदं** = यह)
न च = न तो
नित्यं = नित्य ही
न च = और न
अन्यथा=अन्यथा (अर्थात् अनित्य) ही
कथ्यते = कहा जा सकता है ॥ ५ ॥

न तदेति, सदेति, एकदेति—परस्परप्रतियोगितया। एकदेति—अस्य प्रकारस्तदेति[1]। इत्यपि—एवं प्रकारा अपि;—यदेति, इदानीमित्यादिका च यत्र न सा काचित् कालधीरकालकलित्वात्। तदिति—असामान्यम्। इदमिति—स्फुरद्रूपं ज्ञानं, त्वदीयं। न नित्यं कथ्यते नाप्यनित्यम्;—नित्यत्वानित्यत्वयोः परस्परप्रतियोगित्वात् सर्वात्मकसाक्षात्कारिणि रूपे व्यवहारानुपपत्तेः ॥ ५ ॥

त्वद्विलोकनसमुत्कचेतसो
योगसिद्धिरियती सदास्तु मे।
यद्विशेयमभिसन्धिमात्रत-
स्त्वत्सुधासदनमर्चनाय ते ॥ ६ ॥

---

[1] च० पु० 'तदा इत्यपि'—इति पाठः।

(**परमेश्वर** = हे भगवान् !)
त्वद्- = आप के
विलोकन- = दर्शन के लिए
समुत्क- = उत्कण्ठित
चेतसः = हृदय वाले
मे = मुझे
इयती = इतनी सी
योग-सिद्धिः = योग-सिद्धि
सदा = सदा
अस्तु = प्राप्त होती रहे
यद् = कि
(**अहम्** = मैं)
अभिसंधि-मात्रतः = केवल इच्छा होते ही (अर्थात् जब जी चाहे तब)
ते = आप की
अर्चनाय = पूजा करने के लिए
त्वत्- = आप के
सुधा-सदनं = चिदानन्द-सदन (अर्थात् परमानन्द-धाम) में
विशेयम् = प्रवेश करूँ ॥ ६ ॥

इयती इति,—न तु परिमितफलोन्मुखी। अभिसंधिमात्रतः—इच्छामात्रात्[1], त्वदीयं सुधासदनं—परमानन्दधाम। सदा विशेयं—त्वत्समाविष्टः[2] स्यामित्यर्थः। अर्चनं प्राग्वत् ॥ ६ ॥

निर्विकल्पभवदीयदर्शन-
प्राप्तिफुल्लमनसां महात्मनाम्।
उल्लसन्ति विमलानि हेलया
चेष्टितानि च वचांसि च स्फुटम् ॥ ७ ॥

(**प्रभो** = हे स्वामी !)
निर्विकल्प-भवदीय- = आप के निर्विकल्प
दर्शन- = दर्शन (अर्थात् साक्षात्कार) की
प्राप्ति- = प्राप्ति से
फुल्ल- = खिल उठते हैं
मनसां = हृदय जिन के, ऐसे
महात्मनां = महात्माओं का
विमलानि = निर्मल (अर्थात् जगत का उद्धार करने में समर्थ)
चेष्टितानि = चेष्टायें (अर्थात् व्यवहार)
च = तथा
वचांसि = वचन
हेलया = सहज में ही (अर्थात् बिना किसी कठिनाई के)
स्फुटं च = और स्पष्ट रूप में
***उल्लसन्ति**=देदीप्यमान होते हैं ॥७॥

---

१ ख० पु० इच्छामात्रत्वादिति पाठः।

२ ग० पु०, च० पु० तत्समाविष्टः स्याम्—इति पाठः।

* भाव यह है—हे प्रभु ! जो भक्त-जन आप के साक्षात्कार का आनन्द

कवलितविकल्पत्वदीयसाक्षात्कारप्राप्त्या विकसितमनसां भक्तिभाजां, विमलानीति—जगदुद्धरणक्षमाणि, हेलामात्रेण चरितानि वाक्यानि च, स्फुटं कृत्वा समुल्लसन्ति । यदागमः

'दर्शनात्स्पर्शनाद्वापि विततात्भवसागरात् ।
तारयिष्यन्ति वीरेन्द्राः कुलाचारप्रतिष्ठिताः ॥'

इति ॥ ७ ॥

भगवन्भवदीयपादयो-
र्निवसन्नन्तर एव निर्भयः ।
भवभूमिषु तासु तास्वहं
प्रभुमर्चेयमनर्गलक्रियः ॥ ८ ॥

भगवन् = हे भगवान् !
भवदीय- = आप के
पादयोः = (ज्ञान-क्रिया रूपी) चरणों के
अन्तरे = बीच में
एव = ही
निवसन् = बसता हुआ
अहं = मैं
तासु तासु = उन अनन्त
भव- = लौकिक
भूमिषु = अवस्थाओं में
निर्भयः = निर्भय
(**तथा** = तथा)
अनर्गल- = अनियन्त्रित
क्रियः = चेष्टाओं वाला (अर्थात् पूर्ण रूप में स्वतन्त्र)
(**सन्** = होकर)
प्रभुम् = (आप) प्रभु की
अर्चेयम् = पूजा करूं ॥ ८ ॥

पादयोः—ज्ञानक्रियाशक्त्योः, मध्य एव निवसन्, अत एवाहं तासु तास्विति[1]—अतिविततासु[2]; भवभूमिषु निर्भयः सन्, अनियन्त्रितचेष्टितः सर्वदशासु प्राग्वत्पूजापरः स्याम् ॥ ८ ॥

लूटते हैं, उन के सभी व्यवहार और वचन लोकोपकार की भावना से प्रेरित होते हैं, स्वार्थ-सिद्धि की भावना से नहीं । इसीलिए वे देदीप्यमान होते हैं ।

१ ख० पु०, च० पु० तासु तासु—इति पाठः ।

२ ख० पु० विततासु—इति पाठः ।

भवदङ्घ्रिसरोरुहोदरे
परिलीनो गलितापरैषणः ।
अतिमात्रमधूपयोगतः
परितृप्तो विचरेयमिच्छया ॥ ९ ॥

(नाथ = हे स्वामी !)
भवत्- = आप के
अङ्घ्रि-सरोरुह- = चरण-कमलों के
उदरे = बीच में
परिलीनः = अत्यन्त लीन बना हुआ
(च = और)
गलित- = शान्त हुई
अपर- = अन्य
एषणः = इच्छाओं वाला
(अहम् = मैं)
अतिमात्र-मधु-उपयोगतः = आनन्द-रस (अर्थात् आत्म-सुख) के अत्यन्त उपयोग से
परितृप्तः = पूर्ण रूप में तृप्त
(सन् = हो कर)
इच्छया = (अपनी) इच्छा से (अर्थात् अत्यन्त स्वतन्त्र होकर)
विचरेयम् = विहार करूँ (अर्थात् स्वात्म-लाभ सम्बन्धी अवस्थाओं का अनुभव करूँ) ॥ ९ ॥

अङ्घ्रिसरोरुहोदरं[1] प्राग्वत् । तत्र परितः—समन्ताल्लीनः—श्लिष्टः[2] सन् इच्छया विचरेयं—पदात्पदं तदाक्रान्तिभाग्भवेयम् । कीदृशः[3]—गलिताः—शान्ता अपराः—स्वत्मरीच्याश्लेषाभिलाषव्यतिरिक्ताः एषणा—आकांक्षा यस्य, तादृक् । यतोऽतिमात्रं—भृशं, मधुनः—आनन्दरसस्य उपयोगेन—आस्वादेन परितस्तृप्तः[4] ॥ ९ ॥

यस्य दम्भादिव भवत्पूजासङ्कल्प उत्थितः ।
तस्याप्यवश्यमुदितं सन्निधानं तवोचितम् ॥ १० ॥

---

१ ख० पु० सरोरुहोदरमिति पाठः ।
२ घ० पु०, च० पु० क्लिष्टः—इति पाठः ।
३ ख०, ग० पु० कीदृक्—इति पाठः ।
४ ख० पु० परितृप्तः—इति पाठः ।

(**भगवन्** = हे भगवान् !)
यस्य = जिस (मनुष्य के मन) में
दम्भात् इव = पाखण्ड से (अर्थात् झूठमूठ ही)
भवत्- = आप (के स्वरूप) की
पूजा- = पूजा करने का
सङ्कल्पः = संकल्प (अर्थात् विचार)
उत्थितः = उठा हो,
तस्य = उस को
अपि = भी
तव = आप का
उचितं = उचित
सन्निधानम् = सान्निध्य (अर्थात् साक्षात्कार)
अवश्यम् = अवश्य ही
उदितम् = प्राप्त होता है ॥ १० ॥

यस्येति—आर्तादेः । दम्भादिव—न तु नित्यैक[1]भक्तियोगेन । सङ्कल्प इति—विकल्पमात्रम् । अत्रैकवारावलेपमात्रसम्पन्नलिंगा[2]र्चापरिरक्षित-सकलनरकपातत्रि[3]लोकीजनो दृष्टान्तः । उचितामिति—तावन्मात्रार्थिता परिपूर्तिक्षमम् ॥ १० ॥

भगवन्नि[4]तरानपेक्षिणा
नितरामेकरसेन चेतसा ।
सुलभं सकलोपशायिनं
प्रभुमातृप्ति पिबेयमस्मि किम् ॥ ११ ॥

(**भगवन्** = हे भगवान् !)
किम् = क्या
(**अहम्** = मैं)
इतर- = (किसी) दूसरी (बात) को
अनपेक्षिणा = न चाहने वाले
नितराम् = (किन्तु) केवल (आप की समावेश-भक्ति के लिए)
एक-रसेन = अत्यन्त लालायित बने हुए
चेतसा = (अपने) हृदय से
सकल- = सारे जगत में
उपशायिनम् = व्याप्त होने वाले
(**अतएव** = और इसी लिए)
सुलभं = सुलभ (अर्थात् सहज में ही प्राप्त होने वाले)
(**त्वां** = आप)
प्रभुम् = स्वामी (के स्वरूप) का

१ ख० पु०, च० पु० निर्दैन्यैकभक्तियोगेनेति पाठः ।
२ ग० पु०, च० पु० संपन्नलिंगार्चेति पाठः ।
३ ख० पु० त्रिकोटिहा—इति पाठः, घ० पु० त्रिकोटिवहा—इति च पाठः ।
४ ख०, ग० पु० भगवन्नपरानपेक्षिणा—इति पाठः ।

आतृप्ति = पूर्ण रूप में
पिबेयम् अस्मि = पान कर सकूँगा ? (अर्थात् क्या मैं आपके साथ एकात्मता का अनुभव कर सकूँगा?)

किमस्मि त्वां प्रभुं, सकलोपशायिनं—सर्वगतम्¹, अत एव सुलभम्, आतृप्तिचेतसा पिबेयं—गाढत्वदैकात्म्यमनुभवेयम्²। कीदृशेन चेतसा;—नितराम्—अतिशयेन एकत्रैव—त्वत्समावेशभक्तौ न तु कचिदपि फले, रसः अभिलाषो यस्य तेन। अनेन विशेषणेन प्रागुक्तश्लोकार्थवैपरीत्येन निर्व्याजभक्तिरुक्ता ॥ ११ ॥

त्वया निराकृतं सर्वं हेयमेतत्तदेव तु।
त्वन्मयं समुपादेयमित्ययं सारसंग्रहः ॥ १२ ॥

(**प्रभो** = हे प्रभु !)
एतत् = यह
सर्वं = सब कुछ (अर्थात् वेद्य-वर्ग)
त्वया = आप (चिदात्मा) से
निराकृतं = अलग होने पर
हेयम् = त्याज्य
(अस्ति) = (है) (अर्थात् सत्ता-हीन है)
तत् एव तु = किन्तु यही (वेद्य-वर्ग)
त्वन्मयं = आप (के स्वरूप) से अभिन्न
(**सत्** = होने पर
समुपादेयं (भवति) = सर्वथा ग्राह्य (अर्थात् स्वरूप-सत्ता-सम्पन्न बनता है)
इति अयं = यही तो
सार-संग्रहः (अस्ति) = (हमारे सम्प्रदाय के मुख्य सिद्धान्त का) संक्षिप्त सार है ॥ १२ ॥

यत्किंचित्त्वदैक्यप्रत्यभिज्ञां विना हेयं, तदेव त्वन्मयं प्रत्यभिज्ञातं, सम्यगुपादेयम्³। सारसंग्रह इति—सर्वसम्प्रदायसतत्त्वम् ॥ १२ ॥

भवतोऽन्तरचारि-भावजातं
प्रभुवन्मुख्यतयैव पूजितं तत्।
भवतो बहिरप्यभावमात्रा
कथमीशान भवेत्समर्च्यते वा ॥ १३ ॥

---

१ ख० पु० सर्वगतमेव—इति पाठः।

२ घ० पु० गाढं त्वदैकात्म्यमिति पाठः, ग० पु०, च० पु० त्वदैकात्म्यमिति च पाठः।

३ ख० पु०, च० पु० उपादेयम्—इति पाठः।

ईशान = हे ईश्वर !
भवतः = आप (चित्-प्रकाश) से
अनन्तर-चारी = अभिन्न होने वाला
(**यत्** = जो)
(**इदं** = यह)
भाव-जातम् = भाव-वर्ग
(**अस्ति** = है),
तत् = वह
(**तत्त्वज्ञेन** = तत्त्व-ज्ञानी से)
मुख्यतया = प्रधान रूप में
प्रभु-वत् = (आप) प्रभु की भांति
एव = ही
पूजितं (**भवति**) = पूजा जाता है,
(**किन्तु** = किन्तु)
भवतः = आप (के स्वरूप) से
बहिः = भिन्न
अभाव-मात्रा = असद्रूप (अर्थात् आकाश-पुष्प)
अपि = भी
कथं भवेत् = कैसे हो सकता है
वा (**कथं**) = और (कैसे)
समर्च्यते = पूजा जा सकता है ? (अर्थात् यह सारा जगत आप से अभिन्न ही है) ॥ १३ ॥

भवतोऽन्तरचारित्वात्[1] त्वदैक्येन स्थितं यद्भावजातं, तत् मुख्यतया—प्राधान्येनैव प्रभुरिति पूजितं[2] भवति तत्त्वज्ञेन। भवतस्तु प्रकाशात्मनो बहिर्[3]प्यप्रकाशात्मनो बहिरास्तां भावः। अभावमात्रापि न भवति, कुतः पुनः समर्च्यते[4]; सर्वस्य चित्प्रकाशात्मनैव सत्त्वादन्यथात्वे[5]चिन्त्यत्वात्। मात्राशब्दो[6]ऽतिशयोक्तिपरः।

'अभावोऽपि बुद्ध्यमानो बोधात्मैव'।

इत्यादि हि प्रत्यभिज्ञायां निर्णीतमेव। अनेन भेदवादिनामर्चनानुपपत्तिः सूचिता ॥ १३ ॥

निःशब्दं निर्विकल्पं च निर्व्याक्षेपमथानिशम्।
क्षोभेऽप्यध्यक्षमीक्षेयं[7] त्र्यक्ष त्वामेव सर्वतः ॥ १४ ॥

---

१ ख० पु०, च० पु० चारि–इति पाठः। २ ख० पु० पूज्यते–इति पाठः।

३ ग० पु० बहिः–अप्रकाशात्मनः—इति पाठः।

४ ख० पु०, च० पु० अभ्यर्च्यते—इति पाठः।

५ ख० पु० त्वकिंचित्वात्—इति पाठः, ग० पु०, च० पु० अचित्तत्वादिति च पाठः।

६ ग० पु०, च० पु० मात्रशब्दो—इति पाठः।

७ ख०, ग० पु० ईक्षेय—इति पाठः।

त्र्यक्ष = हे त्रिनेत्र-धारी प्रभु !
(**अहं** = मैं)
क्षोभे = व्याकुलता (अर्थात् ग्राह्य-ग्राहक-अवस्था) में
अपि = भी
निःशब्दं = शब्द-ब्रह्म-पद से परे होने वाले
निर्विकल्पं = निर्विकल्प-स्वरूप
च = तथा
अध्यक्षं = प्रत्यक्ष-स्वरूप
त्वाम् = आप (चित्-प्रकाश) को
एव = ही
सर्वतः = पूर्ण रूप में
अथ = और
अनिशं = सदा
निर्व्याक्षेपम् = बिना किसी विघ्न-बाधा के
ईक्षेयम् = देखता रहूँ ! (अर्थात् व्युत्थान और समाधि, दोनों अवस्थाओं में मैं आपका साक्षात्कार करता रहूँ ।) ॥ १४ ॥

हे त्र्यक्ष ! क्षोभेऽपि—ग्राह्यग्राहकप्रसरेऽपि । अध्यक्षमविकल्पं कृत्वा त्वामेव—चित्प्रकाशैकरूपम्[1], अनिशं–सदा, निर्व्याक्षेपं[2]—वीतविघ्नं कृत्वा सर्वत्र[3] ईक्षेयम्[4]—साक्षात्कुर्याम्[5] । कीदृशं ? निःशब्दं—वैयाकरणाद्युक्त-शब्दब्रह्मविलक्षणम्

'मम योनिर्महद् ब्रह्म······' । भ० गी०, अ० १४, श्लो० ३ ॥

इति नीत्या[6] भगवतः परब्रह्मणोऽप्युत्तमत्वात्[7] । अत एव विकल्पेभ्यो—भावनादिरूपेभ्यो निष्क्रान्तम्—अनन्तचिन्मात्ररूपम् ॥ १४ ॥

प्रकटय निजधाम देव यस्मि-
स्त्वमसि सदा परमेश्वरीसमेतः ।

---

१ ग० पु०, च० पु० चिद्रूपमिति पाठः ।
२ ख० पु०, च० पु० निर्विक्षेपमिति पाठः, ग० पु० निर्व्यापेक्षमिति च पाठः ।
३ ख० पु० सर्वतः—इति पाठः ।
४ ख० पु० ईक्षेय—इति पाठः ।
५ ग० पु०, च० पु० आत्मसाक्षात्कुर्यामिति पाठः ।
६ ख० पु० इत्युक्तनीत्या—इति पाठः, ग० पु० इत्यादि नीत्या—इति पाठः ।
७ ख० पु०, च० पु० परब्रह्मणोऽत्युत्तमत्वादिति पाठः ।
८ ख० पु० 'वसति भवान्'—इति पाठः ।

प्रभुचरणरजःसमानकक्ष्याः
किम[1]विश्वासपदं भवन्ति भृत्याः ॥ १५ ॥

देव = हे ज्योतिः-स्वरूप प्रभु !
निज- = अपना
धाम = (वह चिद्रूप) घर
प्रकटय = प्रकट कीजिये,
यस्मिन् = जिस में
त्वं = आप
परमेश्वरी- = परा-शक्ति के
समेतः = साथ
सदा = सदा
असि = रहते हैं ।
प्रभु- = (आप) स्वामी के
चरण- = चरणों की
रजः- = धूलि के
समान- = समान
कक्ष्याः = पदवी वाले
(मादृशाः = मुझ जैसे)
(तव = आप के)
भृत्याः = सेवक
किम् = क्या
अविश्वास-पदं भवन्ति = विश्वास के पात्र नहीं हो सकते हैं ? ॥ १५ ॥

निजधाम—चिद्रूपम् । परमेश्वरी—परा भगवती । भृत्या इति—धार्याः[2] पोष्याश्च । प्रभुचरणेत्यादि दासस्योचितैवोक्तिः । रजःसमानकक्ष्यत्वेन नित्यसंलग्नतामाह ॥ १५ ॥

दर्शनपथमुपयातोऽप्यपसरसि
कुतो ममेश भृत्यस्य ।
क्षणमात्रकमिह न भवसि
कस्य न जन्तोर्दृशोर्विषयः ॥ १६ ॥

ईश = हे स्वामी !
(त्वं = आप)
मम = मुझ
भृत्यस्य = सेवक के
दर्शन-पथम् = दृष्टि-मार्ग पर
उपयातः अपि = आकर भी (अर्थात् दर्शन देकर भी)
कुतः = क्यों
अपसरसि = भाग जाते हैं (अर्थात् फिर अदृश्य हो जाते हैं) ?

१ ग० पु०, च० पु० किमु विश्वासपदमिति पाठः ।
२ ख० पु० अवधार्याः प्रेष्याश्चेति पाठः ।

(**एवं** = इस प्रकार)
क्षणमात्रकं = क्षण भर के लिये
(**त्वम्** = आप)
इह = इस संसार में
कस्य = किस
जन्तोः = प्राणी के
दृशोः विषयः = दृष्टि-गोचर
न न = नहीं
भवसि = होते ? (अर्थात् प्रत्येक प्राणी को कभी न कभी क्षण भर के लिये आप दर्शन देते ही हैं।)

दर्शनपथं—साक्षात्कारगोचरमपि प्राप्तो, मम भृत्यस्य—आश्वस्तस्य दासस्य, कुतोऽपसरसि–नैवापसरसि; त्वामवष्टभ्यैवाहं[1] स्थित इति यावत्। ननु मां साक्षात्कृत्यैव[2] किं न तुष्यसि ?–इत्यत[3] आह;–कस्य जन्तोर्दृशोः[4]–ज्ञानस्य, अज्ञातोऽपि क्षणमात्रम्

'अतिक्रुद्धः प्रहृष्टो वा ······ ।' स्पन्द०, नि० १, श्लोक २२ ॥

इत्यादिभूमिषु विषयो न न भवसि—सर्वस्य[5] ह्यवश्यं कदाचित्स्फुरसि। अहं तु अनुपचरितो भृत्यः क्षणमपि न त्वां त्यजामि। यदि वा, साक्षात्कृतोऽपि त्वं व्युत्थानावरोहणे किमिति मे भृत्यस्य–आश्वस्तस्यापि अपसरसि—इति योज्यम् ॥ १६ ॥

ऐक्यसंविदमृताच्छधारया
सन्ततप्रसृतया कदा विभो।
प्लावनात् परमभेदमानयं-
स्त्वां निजं च वपुराप्नुयां मुदम्[6] ॥ १७ ॥

---

१ ख० पु० त्वामवष्टभ्यैवमहं—इति पाठः।
२ घ० पु०, च० पु० साक्षात्कृत्वैव—इति पाठः।
३ ग० पु० इत्याह—इति पाठः।
४ ग० पु० कोऽप्याह—इति पाठः।
५ ख० पु०, च० पु० सदेति पाठः।
६ ग० पु० मदम्—इति पाठः।

विभो = हे व्यापक ईश्वर !
सन्तत- = लगातार
प्रसृतया = बहती हुई
ऐक्य-संवित्- = अभेद-ज्ञान रूपी
अमृत- = (आनन्द-रसात्मक) अमृत की
अच्छ- = निर्मल
धारया = धारा से (सदा)
प्लावनात् = आप्लावित होकर
त्वां = आप के
च = तथा
निजं = अपने
वपुः = स्वरूप को
परम-अभेदम् = परम-अभेद अर्थात् एकात्मता (की दशा) को
आनयन् = पहुँचाते हुए
(अहं = मैं)
कदा = कब
मुदम् = परमानन्द को
आप्नुयाम् = प्राप्त करूँ ? ॥ १७ ॥

ऐक्यसंविद्—अद्वयदृष्टिः[1], सैवामृतस्य—परमानन्दस्य[2] संबन्धिनी अच्छा—विश्वप्रतिबिम्बधारणक्षमा[3] धारा, तया सन्ततम्—अविच्छेदेन[4] प्रसृतया कृतं यत् प्लावनं—सर्वत आपूरणं, तस्मात्, त्वां स्वं च वपुः—संकुचिताभिमतं स्वरूपं, परम्—अतिशयेन अभेदम्—एकात्मतामानयन् कदा मुदं[5]—परसन्तोषमाप्नुयाम्[6] ॥ १७ ॥

अहमित्यमुतोऽवरुद्धलोका-
द्भवदीयात्प्रतिपत्तिसारतो मे ।
अणुमात्रकमेव विश्वनिष्ठं
घटतां येन भवेयमर्चिता ते ॥ १८ ॥

(प्रभो = हे भगवन् !)
अमुतः = इस
अहम्-इति = पूर्णाहं विमर्श रूपी
अवरुद्ध-लोकात् = लोकवर्ती भेद-प्रथा से शून्य
भवदीयात् = आप के

१ ख० पु० अद्वयदृक् इति पाठः, ग० पु० अद्वया दृक्—इति च पाठः ।
२ ग० पु० परानन्दस्येति पाठः ।
३ ख० पु०, च० पु० विश्वप्रतिबिम्बनक्षमा—इति पाठः ।
४ ख० पु० सदा—इति पाठः ।
५ ग० पु० मदम्—इति पाठः ।
६ ख० पु० परमसन्तोषम्—इति पाठः, च० पु० 'मुदं सन्तोष'मित्येव पाठः ।

प्रतिपत्ति- = स्वरूप-ज्ञान संबन्धी
सारतः = (परमार्थ-) सार में से
विश्व- = व्युत्थान में
निष्ठम् = प्रकाशमान
अणुमात्रकम् = जरा सा
एव = ही
मे = मुझे
घटतां = प्राप्त हो,
येन = जिससे
(अहं = मैं)
ते = आप (के स्वरूप) का
अर्चिता = पूजक
भवेयम् = बना रहूँ ॥ १८ ॥

विश्वनिष्ठमिति;—यद्यन्मम कुत्रचिद्भाति[1] तत्र सर्वत्र अवरुद्धलोकं—स्वीकृताशेषनिर्भरम्, अहमिति यदेतत्त्वदीयं सर्व[2]प्रतिपत्तीनां संबन्धि सारम्—उत्कृष्टं स्वरूपं, ततोऽणुमात्रकं—मृगमदकण[3]वदल्पमपि किंचिन्मह्यं घटताम्—उपतिष्ठतां, येन घटितेन तत्तद्वेद्यग्रासीकारक्रमेण तवार्चिता भवामि। अणुमा[4]त्रकमिति अ[5]तिस्पृहयालुतयोक्तिः, न तु पूर्णाहन्ताया भागाः संभव[6]न्ति ॥ १८ ॥

अ[7]परिमितरूपमहं
तं तं भावं प्रतिक्षणं पश्यन्।
त्वामेव विश्वरूपं
निजनाथं साधु पश्येयम् ॥ १९ ॥

(प्रभो = हे ईश्वर !)
तं तं = उन (अर्थात् संसार में होने वाले सभी)
भावं = पदार्थों को
पश्यन् = देखते हुए
(अपि = भी)

१ ख० पु० किंचिद्भाति—इति पाठः।
२ ख० पु०, च० पु० सर्वत्र—इति पाठः।
३ घ० पु०, च० पु० कणकल्पमपि—इति पाठः।
४ ग० पु० अणुमात्रम्—इति पाठः।
५ ख० पु० अतिशय—इति पाठः।
६ ग० पु०, च० पु० सन्ति—इति पाठः।
७ ख० पु० अतिपरिमितरूपमहम्—इति पाठः।

अहं = मैं
प्रतिक्षणम् = हर वक्त
अपरिमित- = असीमित (अर्थात् अनन्त)
रूपं = स्वरूप वाले,
विश्व-रूपं = जगदात्मा,
निज- = अपने
नाथं = स्वामी
त्वाम् = आप का
एव = ही
साधु = अच्छी तरह (अर्थात् पूर्ण रूप में)
पश्येयम् = (समाधि और व्युत्थान, दोनों अवस्थाओं में) साक्षात्कार करता रहूँ ॥ १९ ॥

तं तमिति—यं कंचित्। त्वामेवेति—तस्य प्रकाशमानत्वेन त्वद्रूप[1]त्वात् विश्वरूपमिति—

"प्रदेशोऽपि ब्रह्मणः सार्वरूप्यम्...।"

इति स्थित्या पूर्णम्। साध्विति—निष्प्रयासं सत्य[2]स्वरूपतया च ॥ १९ ॥

भवदङ्गगतं तमेव कस्मा-
न्न मनः पर्यटतीष्टमर्थमर्थम्।
प्रकृतिक्षतिरस्ति नो तथास्य
मम चेच्छा परिपूर्यते परैव ॥ २० ॥

(**प्रभो** = हे प्रभु !)
भवद्- = आप (चिद्रूप) से
अङ्गगतं = अभिन्न बने हुए
तम्-एव = उन्हीं (अर्थात् सभी लौकिक)
इष्टम् = अभीष्ट
अर्थम्-अर्थम् = विषयों में
(**मे** = मेरा)
मनः = मन
कस्मात् = क्यों
न = नहीं
पर्यटति = घूमता ?
तथा = इस प्रकार (अर्थात् ऐसी भावना से विषय-सेवन करने से)
अस्य = इस (मन) के
प्रकृति- = स्वभाव को
क्षतिः = हानि
नो = नहीं
अस्ति = होगी
च = और
मम = मेरी

१ ख० पु०, च० पु० त्वद्रूपात्—इति पाठः।
२ ख० पु० सत्यरूपतया—इति पाठः।

परा = सबसे बड़ी
इच्छा = (स्वरूप-लाभ सम्बन्धी) लालसा भी
* परिपूर्यते एव = पूरी होकर ही रहेगी ॥ २० ॥

तमेवेति—यं यमभिलषितमर्थं मनः पर्यटति तं तं भवदङ्गगतं—चिन्मयत्वेन ज्ञातम्[1]। अत एवेष्टम्—अभिलषितमर्थं किमिति न पर्यटति ? तथा कुरु यथैवं[4] पर्यटतीत्यर्थः। एवं सति अस्य न प्रकृतिक्षतिः[2] काचित्, इच्छाव्याघाताभावात्[3]। मम च परैव—चिद्घनस्वरूपलिप्सासारा इच्छा परिपूर्यते। अनेनैतदाह मनसि यथारुचि पर्यटत्यपि अहं पूर्णप्रथासार एव सदा स्यामिति ॥ २० ॥

शतशः किल ते तवानुभावा-
द्भगवन्केऽप्यसुनैव चक्षुषा ये।
अपि हालिकचेष्टया चरन्तः
परिपश्यन्ति भवद्वपुः सदाग्रे ॥ २१ ॥

---

* भाव यह है—मन स्वभाव से ही चञ्चल है। वह अपनी चञ्चलता को छोड़ने वाला नहीं। किन्तु यह मन जिन-जिन अभीष्ट विषयों में घूमता-फिरता है, वे सभी आप चिद्रूप से अभिन्न अर्थात् आप के ही भिन्न-भिन्न स्वरूप हैं—यह बात तो मैं समझ चुका हूँ। अतः हे भगवन्! ऐसा कीजिए कि इसी भावना से अर्थात् इन विषयों को आप (चिद्रूप) से अभिन्न समझ कर मेरा मन उन में लगता रहे। इस प्रकार जहाँ मेरे मन को अपनी चञ्चलता छोड़नी नहीं पड़ेगी, वहाँ मेरी लालसा भी पूरी होगी। अर्थात् मन के इच्छानुसार घूमते रहने पर भी मैं सदा व्यावहारिक रूप में स्वात्म-ज्ञान-संपन्न ही बना रहूँ और भेद-प्रथा को सर्व-प्रकार से छोड़ दूँ।

१ ख० पु० भान्तमिति पाठः।

२ घ० पु० प्रकृतक्षतिरिति पाठः।

३ ख० पु० विघाताभावादिति पाठः।

४ ग० पु०, च० पु० यथेति पाठः।

भगवन् = हे सर्वैश्वर्य-सम्पन्न प्रभु !
किल = निस्सन्देह
ते = ऐसे
केऽपि = विरले अर्थात् अलौकिक पुरुष भी
शतशः = सैकड़ों
(**विद्यन्ते** = होते हैं),
ये = जो
हालिक-चेष्टया = किसानों अर्थात् अज्ञ-जनों की भाँति
चरन्तः = व्यवहार करते हुये
अपि = भी
तव = आप के
अनुभावात् = प्रभाव से
भवत्- = आप के
वपुः = चिदानन्द-स्वरूप का
सदा = सदा (अर्थात् व्युत्थान में भी)
अग्रे = प्रत्यक्ष रूप में
अमुना एव = इन्हीं
चक्षुषा = नेत्रों से
परिपश्यन्ति = साक्षात्कार करते हैं ॥

ये हालिकचेष्टयापि चरन्तः, तवानुभावात्—त्वत्प्रयुक्तादनुभवनव्यापारात्, भवद्वपुः—त्वदीयं चित्स्वरूपम्, अमुनैव चक्षुषा—करणोन्मीलनदशायामपि सदा, अग्रे परितः पश्यन्ति—समाविशन्ति, ते शतशः—सहस्रमध्यात् केऽपि—विरला अलौकिका इत्यर्थः ॥ २१ ॥

न सा मतिरुदेति या न भवति त्वदिच्छामयी
सदा शुभमथेतरद्भगवतैवमाचर्यते ।
अतोऽस्मि भवदात्मको भुवि यथा तथा सञ्चरन्
स्थितोऽनिशमबाधितत्वदमलाङ्घ्रिपूजोत्सवः ॥

(**प्रभो** = हे स्वामी) !
सा = वह
मतिः = बुद्धि
न उदेति = चमक नहीं उठती
या = जो
त्वद्- = आप की
इच्छा- = इच्छा के
मयी = अनुसार चलने वाली
न = नहीं
भवति = होती ।
एवं = इस प्रकार
शुभम् = अच्छा (अर्थात् कल्याण-कारक)
अथ = और
इतरत् = बुरा (सारा मेरा व्यवहार)
सदा = सदा
(**भगवता** = (आप) प्रभु से ही)
आचर्यते = किया जाता है ।
अतः = इस लिए
(**अहं** = मैं)

भुवि = इस संसार में
यथा-तथा = ज्यों-त्यों
सञ्चरन् = व्यवहार करते हुए
(**अपि** = भी)
भवत्- = आप का ही
आत्मकः = स्वरूप
अस्मि = हूँ
(**फलतः** = फलतः)
(**अहम्** = मैं)
अनिशम् = निरन्तर
अबाधित- = बे रोक-टोक होनेवाले
त्वद्- = आप के
अमल- = निर्मल
अंघ्रि- = चरणों की
पूजा-उत्सवः = पूजा का उत्सव (अर्थात् आनन्द वाला) होकर ही
*__स्थितः (अस्मि)__ = रहता हूँ ॥२२॥

सर्वेषां ज्ञानानां प्रथमेन पादेन शिवभक्तिमयत्वं, द्वितीयेन व्यापाराणां भगवत्कृतत्वमुक्तम्। यथातथेति—गतसंकोचम्। अबाधितः—न केना[1]प्यपसारितस्त्व[2]न्मरीचिपूजाप्रमोदो यस्य ॥ २२ ॥

भवदीयगभीरभाषितेषु
प्रतिभा सम्यगुदेतु मे पुरोऽतः।
तदनुष्ठितशक्तिरप्यतस्त—
द्भवदर्चाव्यसनं च निर्विरामम् ॥ २३ ॥

नाथ = हे नाथ !
पुरः = पहले
मे = मेरी
प्रतिभा = बुद्धि
भवदीय- = (शास्त्रों में दिए गए) आप के
गभीर- = गंभीर अर्थात् रहस्यपूर्ण
भाषितेषु = वाक्यों (के समझने) में
सम्यक् = भली भाँति (अर्थात् पूर्ण रूप में)
उदेतु = चमक उठे (अर्थात् सफल हो जाय)।

---

* भावार्थ—हे प्रभु ! मेरी बुद्धि तब ही चलती है और सार्थक होती है जब वह आप की इच्छा के अनुकूल हो। इसलिए मैं जो कुछ व्यवहार करता हूँ, उसके करने वाले आप ही हैं, मैं नहीं। आपके श्रीचरणों की पूजा का काम आपकी इच्छा के अनुकूल है, फलतः उस काम के करने का आनन्द मुझे सदा अनायास ही मिलता रहता है ॥ २२ ॥

१ ख० पु०, च० पु० न केनचिदपीति पाठः।

२ ख० पु०, च० पु० त्वन्मरीच्यर्चनप्रमोदो यस्येति पाठः।

ततः अपि = उसके बाद
तत्- = उन (वाक्यों) के अनुसार
अनुष्ठित- = कार्य करने की
शक्तिः = शक्ति
(**उदेतु** = मुझे प्राप्त हो जाय)।
अतः च = और फिर
तत् भवत्-अर्चा- = आप की (समावेश रूपी) पूजा करने की वह (अर्थात् अलौकिक)
व्यसनं = चाव-पूर्ण भावना
निर्विरामम् = (मुझे) लगातार
(**उदेतु** = होती रहे) ॥ २३ ॥

गभीरभाषितेष्विति—आमुख्ये भेदार्थत्वेन भासमानेष्वपि गर्भीकृत-रहस्यार्थेषु वाक्येषु तावकेषु, मम पुरः—पूर्वं, प्रतिभा—नवनवोल्लेखिनी प्रज्ञा, सम्यंग्[1]—अविपर्यस्तत्वेनोदेतुं[2] अतोऽप्यनन्तरं तत्सेवनसामर्थ्य-मप्युदेतु, अतोऽपि—अनन्तरं तदिति—अलौकिकं निर्विरामं कृत्वा भवदर्चायां व्यसनमुदेतु ॥ २३ ॥

व्यवहारपदेऽपि सर्वदा
प्रतिभात्वर्थकलाप एष माम् ।
भवतोऽवयवो यथा न तु
स्वत एवादरणीयतां गतः ॥ २४ ॥

(**भगवन्** = हे ईश्वर) !
एषः- = (संसार के) यह
अर्थ-कलापः = सभी पदार्थ
यथा = (वस्तुतः अर्थात् अभेद-प्रथा से) जैसे
भवतः = आप के
अवयवः = अंग (अर्थात् आप के स्वरूप के अंश)
(**अस्ति** = हैं),
व्यवहार-पदे=(सामान्य) व्यवहार में
अपि = भी
(**स तथा एव** = वे वैसे ही)
मां = मुझे
सर्वदा = सदा
प्रतिभातु = दिखाई दें,
तु = किन्तु
स्वतः एव = (वे) आप से आप ही (अर्थात् भेद-प्रथा से युक्त होते हुए ही)

१ घ० पु० सम्यगुदेतु—इति पाठः ।
२ ग० पु० उदेतु—इत्यर्थः—इति पाठः ।

आदरणीयतां गतः = (केवल विषय-सुखरूपता से) आदरणीय बने हुए

(**मां कदापि** = मुझे कभी)

* **न (प्रतिभातु)**=दिखाई न दें ॥२४॥

एषोऽर्थकलापः व्यवहारेऽपि, भवतः[1]—चिन्मयस्य यथाऽवयवः—अङ्गकल्पोऽभेदेन स्थितस्तथा मां प्रतिभातु—मम प्रतिभासताम्, न पुनस्त्वन्मयमविदित्वा स्वत एव—सुखादिहेतुत्वेनादरणीयतां[2] गतः ॥२४॥

मनसि स्वरसेन यत्र तत्र
प्रचरत्यप्यहमस्य गोचरेषु ।
प्रसृतोऽप्यविलोल एव युष्म-
त्परिचर्याचतुरः सदा भवेयम् ॥ २५ ॥

(**ईश** = हे प्रभो) !
मनसि = मन के
स्वरसेन = अपने मज़े से (अर्थात् अपने स्वाभाविक रूप में)
यत्र-तत्र = जहाँ-तहाँ
प्रचरति अपि = घूमते रहने पर
अस्य = इस के
गोचरेषु=विषयों (का सेवन करने) में
प्रसृतः = लगा हुआ
अपि = भी
अहम् = मैं
अविलोलः एव (सन्) = चञ्चलता से रहित होकर ही
सदा = सदा
युष्मद्- = आप की
परिचर्या- = उपासना करने में
चतुरः = प्रवीण
भवेयम् = बना रहूँ ॥ २५ ॥

यत्र तत्रेति—हेयादिविषयेषु । प्रसृतोऽपि—ग्रहणे प्रवृत्तोऽपि,

* हे भगवन् ! संसार के सभी पदार्थ वस्तुतः आपके स्वरूप के अंश अर्थात् आपसे अभिन्न हैं । मैं चाहता हूँ कि सामान्य व्यवहार में भी मैं उनको वैसे ही अर्थात् आपसे अभिन्न समझूँ और इसी भावना से उनका आदर करूँ । केवल यह समझ कर कि वे सुख आदि के कारण हैं, मैं उनका आदर न करूँ ॥

१ ख० पु०, च० पु० भगवतः—इति पाठः ।

२ ख० पु० आदरणीयत्वम्—इति पाठः ।

अविलोलः—अलम्पटः[1]। युष्मत्परिचर्या—त्वदर्चा, तत्र चतुर[2] एव—कुशल एव सदा स्याम्। एवशब्दो भिन्नक्रमः॥ २५॥

भगवन्भवदिच्छयैव दास-
स्तव जातोऽस्मि परस्य नात्र शक्तिः।
कथमेष तथापि वक्त्रबिम्बं
तव पश्यामि न जातु चित्रमेतत्॥ २६॥

भगवन् = हे स्वामी!
भवत्- = आप की
इच्छया = (अनुग्रह रूपिणी अप्रतिहता) इच्छा से
एव = ही
(**अहं** = मैं)
तव = आप का
दासः = अनन्य-भक्त
जातः = बन गया
अस्मि = हूँ।
अत्र = इस विषय में
परस्य = (मल-परिपाक आदि) अन्य साधनों का
शक्तिः = सामर्थ्य
न (अस्ति) = नहीं है।
तथापि = तो भी,
कथम् = क्या बात है कि (मैं इस व्युत्थान में)
एषः = इस
तव = आप के
वक्त्र-बिंबं = (पराशक्ति रूपी) मुख-मण्डल को
न जातु = कभी नहीं
पश्यामि = देख पाता!
एतत् (तु) = यह (तो)
चित्रम् = आश्चर्य की बात है॥२६॥

भगवन्[3]! भवदिच्छयैवेति[4]। एवकारेण शक्तिपातस्य स्वतन्त्रतामाह। तथापीति—एवमपि दास्ये लब्धेऽपि[5]। वक्त्रबिम्बं—सुन्दरं

१ ख० पु० लम्पटः—इति पाठः।

२ ग० पु० चतुर एव सदा स्याम्—इति पाठः, च० पु० चतुर एव कुशल एव स्याम्—इति पाठः।

३ ग० पु०, च० पु० भगवन्निति—इति पाठः।

४ घ० पु०, च० पु० भगवदिच्छयैवेति पाठः।

५ ग० पु० लब्धे—इति पाठः।

परशक्तिमार्गम् । एष इति—व्युत्थानावस्थोचितदेहादिप्रमातृरूपः । जातु, इति—कदाचित्, व्युत्थाने न पश्यामि—नासादयामि ॥ २६ ॥

समुत्सुकास्त्वां प्रति ये भवन्तं
प्रत्यर्थरूपादवलोकयन्ति ।
तेषामहो किं तदुपस्थितं स्यात्
किं साधनं वा फलितं भवेत्तत् ॥ २७ ॥

(नाथ = हे नाथ !)
त्वां प्रति = आप (की प्राप्ति) के लिए
समुत्सुकाः = अत्यन्त उत्कंठित बने हुए
ये = जो (भक्त-जन)
भवन्तं = आप (चित्-स्वरूप) को
प्रत्यर्थ-रूपात् = प्रत्येक वस्तु (या बात) में
अवलोकयन्ति = देखते हैं,
तेषाम् = उन को
अहो = भला
तत् किं = वह कौन सा
साधनम् = साधन (अर्थात् युक्ति-क्रम)
उपस्थितं = उपलब्ध
स्यात् = होता होगा
वा = और (उस साधना से उन को)
तत् = वह
किं = कौन सा
फलितं भवेत् = फल प्राप्त होता होगा (अर्थात् वे किस अवस्था को प्राप्त करते होंगे) ! ॥ २७ ॥

सम्यगुत्सुकाः—भक्तिभरेणोत्कण्ठिताः । प्रत्यर्थरूपादिति—विषयं विषयमासाद्य । किं तदिति—तेनैवानुभाव्यं न वक्तुं शक्यं । किं तत्साधनमिति—अस्माभिरसंभाव्यम् ॥ २७ ॥

भावा भावतया सन्तु
भवद्भावेन मे भव ।
तथा न किञ्चिदप्यस्तु
न किञ्चिद्भवतोऽन्यथा ॥ २८ ॥

भव = हे महादेव !
भवत्- = आप के
भावेन = प्रभाव (या सत्ता) से
भावाः = (ये सभी सांसारिक) पदार्थ

मे = मुझे
भावतया = (आप के) स्वरूप की सत्ता के रूप में (ही)
सन्तु = प्रतीत हो जायें
तथा = और
(**यत्** = जो कोई वस्तु)
भवतः = आप (चिद्रूप) से
अन्यथा = भिन्न हो कर
किंचित् = कुछ भी
न (अस्ति) = नहीं है (अर्थात् कुछ सत्ता ही नहीं रखती)
(**तन्मे** = वह वस्तु मेरे लिए)
किंचित् अपि न अस्तु = कुछ भी न हो (अर्थात् मैं उस वस्तु को वस्तु ही न समझूँ) ॥ २८ ॥

ये भावा इत्यभिधीयन्ते, ते मम त्वन्मयत्वेन भावा—विद्यमाना भवन्तु[1] । यच्च[2] न[3] किञ्चिदित्युच्यते तत् त्वन्मयतां विना न किञ्चिदप्यस्तु[4] ॥

यन्न किञ्चिदपि तन्न किञ्चिद-
प्यस्तु किञ्चिदपि किञ्चिदेव मे ।
सर्वथा भवतु तावता भवान्
सर्वतो भवति लब्धपूजितः ॥ २९ ॥

(**प्रभो** = हे ईश्वर !)
यत् = (चित्-प्रकाश से भिन्न) जो (कोई वस्तु)
न किंचित् अपि (अस्ति) = (अप्रकाशमान होने से) कुछ भी नहीं है (अर्थात् कुछ सत्ता नहीं रखती),
तत् = वह
मे = मेरे लिए
किंचित् अपि = कुछ भी
न अस्तु = न हो (अर्थात् मैं उसे कुछ भी न समझूँ)
(**यत् च** = और जो वस्तु)
किञ्चित् अपि (अस्ति) = (चिद्रूपता से अभिन्न होने के कारण) कुछ है (अर्थात् कुछ सत्ता रखती है),
(**तत् मे** = वह मेरे लिए)

१ ख० पु० भान्तु—इति पाठः ।
२ ग० पु०, च० पु० यत्र—इति पाठः ।
३ घ० पु० किञ्चिदुच्यते—इति पाठः ।
४ ख० पु०, च० पु० न किञ्चिदस्तु—इति पाठः ।

सर्वथा = सर्वथा (या हर प्रकार से)
किंचित् एव = कुछ (अर्थात् स्वरूप-सत्ता से युक्त) ही
भवतु = हो (अर्थात् मैं उस को ऐसा ही समझूँ)
तावता = इतने से (अर्थात् ऐसा होने पर)
भवान् = आप (चिद्रूप)
सर्वतः (मया) = सभी अवस्थाओं में (अर्थात् समाधि तथा व्युत्थान दोनों में) मुझसे
लब्ध-पूजितः भवति = प्राप्त किये जा सकते हैं और पूजित हो सकते हैं ॥ २९ ॥

लोकेन न किञ्चिदपीति—यत्किञ्चिदनुपादेयतया[1] कथ्यते, तन्मम न किञ्चित्[2]—सर्वं[3] भेदमयं न किञ्चिद्भवतु। यत्तूपादेयतयाभिमतं किञ्चिदित्यभिधीयते[4], तन्मम किञ्चिदिति[5]—असामान्यं स्वानुभवैकसाक्षिकं वस्तु सर्वथा अस्तु। यद्वा, यल्लोके किञ्चित्—चिद्घनं रूपं तदप्रत्यभिज्ञानात् न किञ्चित्त्वेन भाति। यत्तु भेदमयमवस्तु न किञ्चित्, तन्मायाव्यामोहात्किञ्चित्त्वेन स्फुरति। मम तु न किञ्चित् किञ्चिच्च न किञ्चिदस्तु—लौकिकवद्विपर्यासो[6] मा भूदित्यर्थः। एतावता भवान्—चिद्रूपः सर्वत्र लब्धश्च पूजितश्च भवतीति शिवम् ॥ २९ ॥

इति श्रीमदुत्पलदेवाचार्यविरचितस्तोत्रावल्यां रहस्यनिर्देशनाम्नि द्वादशे स्तोत्रे श्रीक्षेमराजाचार्यविरचिता विवृतिः ॥ १२ ॥



१ ख० पु०, च० पु० यन्न किञ्चिदेवानुपादेयतयेति पाठः।
२ ग० पु०, च० पु० न किञ्चिदित्यनन्तरं—अपि तु—इति पाठः।
३ ग० पु०, च० पु० सर्वभेदमयमिति पाठः।
४ ख० पु०, च० पु० भण्यते—इति पाठः।
५ ग० पु०, च० पु० किञ्चिदेव किञ्चिदिति—इति पाठः।
६ ख० पु०, च० पु० विपर्ययो—इति पाठः।

ॐ

अथ

संग्रहस्तोत्रनाम त्रयोदशं स्तोत्रम्

अथ स्तोत्रकाररचितचारुरचनाविशिष्टं संग्रहस्तोत्रं व्याकुर्मः। तत्र[1] तु या प्रयोगरूढिरिति संज्ञा पुस्तकेषु दृश्यते, सावान्तरैव। साक्षात्कारेण चिद्रूपैरेवं समाविश्य व्युत्थानेऽपि बलवत्तत्संस्कारात्तमभिमुखीभाव्य प्रतिभातं वस्तु विज्ञातुमाह[2]—

संग्रहेण सुखदुःखलक्षणं
मां प्रति स्थितमिदं शृणु प्रभो।
सौख्यमेष भवता समागमः
स्वामिना विरह एव दुःखिता ॥ १ ॥

प्रभो = हे स्वामी !
शृणु = सुनिये,
संग्रहेण = संक्षेप में
मां प्रति = मेरे विषय में
स्थितं = होने वाला
सुख- = सुख
दुःख- = और दुःख का
लक्षणम् = लक्षण (अर्थात् रूप या सच्चा वर्णन)
इदम् = यह
(**अस्ति** = है)—
भवता = आप (चिद्रूप) के साथ
एषः = यह (अर्थात् समावेश में साक्षात्कार द्वारा)
समागमः = (एकात्मभाव रूपी) सहवास
(**एव** = ही)
(**मम** = मेरा
सौख्यम् = सुख (है),
(**च भवता** = और आप)
स्वामिना = स्वामी का
विरहः = वियोग

---

१ ख० पु०, च० पु० अत्र तु—इति पाठः।

२ ग० पु० विज्ञप्तुमाह—इति पाठः।

एव = ही (अर्थात् आप के स्वरूप का अज्ञान ही) **(मम) दुःखिता** = (मेरा) दुःख *(**अस्ति** = है) ॥ १ ॥

हे प्रभो! मां प्रति स्थितं—न त्वन्यस्य कस्यापि स्फुरितं, संग्रहेण—संक्षेपेण सुखदुःखलक्षणं शृणु। प्रभो इत्यामन्त्रणम् स्वात्मसमावेशक्रमेणैव परमेशितुः स्वसंमुखीकरणाय[1] लौकिकपादशब्दान्तर[2]हस्य[3]मन्त्रपदवत्। तल्लक्षणमाह—भवता स्वामिना चिन्नाथेन, एष इति—साक्षात्कारेण स्फुरन् समागमः[4]—समावेशैकध्र्यं[5] यत्तत् सौख्यं—सुखं, स्वार्थे ष्यञ्, स एव सौख्यं, स च सौख्यमेव। उत्तरत्र स्थित एव शब्दः इहाप्युभयथा योज्यः[6]। प्रभुणा तु[7] यो विरहः—प्रभुस्वरूपाप्रत्यभिज्ञानं, सैव दुःखिता ॥ १ ॥

यत एवं, ततः

अन्तरप्यतितरामणीयसी
या त्वदप्रथनकालिकास्ति मे।
तामपीश परिमृज्य सर्वतः
स्वं[8] स्वरूपममलं प्रकाशय ॥ २ ॥

* नाथ तेरा संग ही तो सुख है,
तुझसे रहना ही जुदा तो दुःख है।

१ ख० पु०, च० पु० सुसंमुखीकरणायेति पाठः।

२ अलौकिकेति ग० पु०, च० पु० पाठः, ख० पु० कौलिकपाद्यशब्देति पाठः, घ० पु० लौकिकपाद्य—इति पाठः।

३ ख० पु०, च० पु० रहस्यमन्त्रवदिति पाठः।

४ ख० पु० संगमः—इति पाठः।

५ घ० पु० समावेशैक्यमिति पाठः, च० पु० समावेश्यैक्यम्—इति पाठः।

६ ख० पु० प्रयोज्यः—इति पाठः।

७ ग० पु०, च० पु० प्रभुणा हि—इति पाठः।

८ ख० पु०, ग० पु० स्वरूपमिति पाठः।

ईश = हे प्रभु !
त्वद्- = आप (चित्-स्वरूप) को
अप्रथन- = अप्रकट (अर्थात् छुपा) रखने वाली
कालिका = मलिनता (अर्थात् अज्ञान),
अतितराम् = चाहे वह अत्यन्त
अणीयसी अपि = सूक्ष्म भी (अर्थात् ज़रा सी भी क्यों न हो),
या = जो
मे = मेरे
अन्तर् अस्ति = चित्त में (आप के स्वरूप-साक्षात्कार के समय) होती है,
ताम् = उस को
अपि = भी
सर्वतः = पूर्ण रूप में
परिमृज्य = दूर करके
स्वम् = अपने (चिदानन्द-मय)
अमलं = निर्मल
स्वरूपं = स्वरूप को
प्रकाशय = प्रकट कीजिए ॥ २ ॥

अपिर्भिन्नक्रमः, अतितरामणीयस्यपि या मम त्वदप्रथनकालिका—भवदख्यातिमलिनता, अन्तरिति—समावेशे प्राणादिसंस्काररूपाऽस्ति, तामपीति—बह्वी तावदसौ शक्तिपातात्प्रभृत्येव मे त्वया अपहस्तिता, अतिसूक्ष्मामपि तां परिमृज्य—उत्प्रोञ्छ्य[1], सर्वत इति—अन्तर्बहिश्च स्वं—चिन्मयं सर्वस्यात्मीयं स्वरूपं निर्मलं प्रकाशय—स्फारय ॥ २ ॥

एतदेव च मे परमभिलषितमित्याह—

तावके वपुषि विश्वनिर्भरे
चित्सुधारसमये निरत्यये ।
तिष्ठतः सततमर्चतः प्रभुं
जीवितं मृतमथान्यदस्तु मे ॥ ३ ॥

(**नाथ** = हे स्वामी !)
तावके = (मेरी यही अभिलाषा है कि मैं) आप के
निरत्यये = अविनाशी,
विश्व- = जगद्रूपता से
निर्भरे = पूर्ण
चित्-सुधा- = चिदानन्द रूपी
रस- = अमृत-रस से
मये = भरे हुए
वपुषि = स्वरूप में
तिष्ठतः = लीन होकर
(**एव** = ही)

---

१ ख० पु० उत्पुंस्य—इति पाठः ।

सततं = निरन्तर
प्रभुम् = (आप) स्वामी की
अर्चतः = पूजा करने में लगा रहूँ,
मे =(चाहे फिर) मैं
जीवितं = जीवित रहूँ,
मृतम् =(या) मर जाऊँ,
अथ = अथवा (मुझे)
अन्यत् अस्तु =(कुल) और हो जाय (अर्थात् मैं मोक्ष को प्राप्त करूँ)॥ ३ ॥

यत्प्रकाशते, तत्प्रकाशरूपमेव सत् प्रकाशितुमर्हति,[1]—प्रकाशस्य च देशकालादिकं प्रकाशमानत्वात् तत्स्वरूपमेव संभेदकं[2] नोपपद्यते, इत्यं-[3] यत्नसिद्धं विश्वरूपत्वम्। चिदाह्लादात्मनः स्वरूपे निरत्यये अविनाशिनि तिष्ठन्नेवार्चासमर्थः, अर्चन्नेव च स्थातुं क्षमः, इति हेतौ शतारौ तौ च नित्यप्रवृत्ततां व्यङ्क्तः। स्थितिस्तत्तद्भूमिलाभः। अर्चा—तदेकपरामर्श-व्यग्रत्वम्। एवमुत्तरत्र। अन्यदित्यनेन चिद्रूपतास्थितिबहुमानेन अवस्थाविषयमनादरं ध्वनति ॥ ३ ॥

ननु जीवदादिभूमयः अभिमानमय्यः। ताः किमितीष्यन्ते ? इत्याशङ्क्य, त्वत्स्वरूपेऽवस्थितस्याभिमानोऽपि[4] अलौकिकचमत्कारयुक्तत्वा-द्युक्त[5] एव, इतरथा तु निरभिमानतापि न काँचित्,[6] इति वक्तुमाह—

ईश्वरोऽहमहमेव रूपवान्
पण्डितोऽस्मि सुभगोऽस्मि कोऽपरः।
मत्समोऽस्ति जगतीति शोभते
मानिता त्वदनुरागिणः परम् ॥ ४ ॥

(**अहं-विमर्श-कारिन्** = हे पूर्णाहन्ता-स्वरूप स्वामी !)
अहम् = "मैं
ईश्वरः = ईश्वर (अर्थात् पूर्ण रूप में स्वतंत्र)
(**अस्मि** = हूँ),

१ घ० पु०, च० पु० प्रकाशयितुमर्हति—इति पाठः।
२ ग० पु०, च० पु० सम्भेदकम्—इति पाठः।
३ ख० पु० इत्यत्र सिद्धम्—इति पाठः।
४ ख० पु०, च० पु० अभिमाना अपि—इति पाठः।
५ ख० पु०, च० पु० युक्ता एव—इति पाठः।
६ ख० पु० कदाचित्—इति पाठः।

अहम् = मैं
एव = ही
रूपवान् = सुन्दर (अर्थात् चिदात्मा के प्रकाश से उज्ज्वल)
(**अस्मि** = हूँ),
(**अहं** = मैं)
पण्डितः अस्मि = ज्ञानवान् (अर्थात् तत्त्वदर्शी) हूँ,
(**अहम् एव** = मैं ही)
सुभगः = सौभाग्यवान् (अर्थात् परमानन्द-रस-पूर्ण होने के कारण सब के लिए स्पृहणीय)
अस्मि = हूँ,
(**किं बहुना** = ज्यादा क्या कहूँ ?)
जगति = (इस) जगत् में
मत्-समः = मेरे समान
अपरः = दूसरा
कः = कौन
अस्ति, = है",—
इति = ऐसे
मानिता = स्वात्माभिमान की भावना
त्वद्- = आप के
*__अनुरागिणः परं शोभते__ = उस भक्त को अत्यन्त शोभा देती है, (जो समावेश में आप के साथ एकात्मता का अनुभव करता है) ॥४॥

त्वदनुरागिणः—त्वत्समावेशेन प्राप्तत्वदैक्यस्य। **परमिति—तस्यैव न तु ब्रह्मादेरपि। ईश्वरः—सर्वत्र[1] स्वतन्त्रोऽहम्। अहमेव च रूपवान्—चिदात्मना प्रशस्तेन स्वरूपेण युक्तः। पण्डा—सम्यक्तत्त्वदर्शिनी प्रज्ञा सञ्जाता यस्य सोऽस्मि। सुभगः—परमानन्दरसोल्वणत्वेन सर्वस्य स्पृहणीयोऽस्मि। किं बहुना, मत्समः कोऽपरोऽस्ति न कश्चित्;—मयैव चिदानन्दात्मना विश्व[2]स्यात्मसात्कारात्। इति—ईदृशी, मानिता—साभि[3]मानित्वं शोभते—दीप्यते। अन्यथा पुनर्बोधाद्यभिमता सङ्कोचवती अविक[4]ल्पितापि मलिनैव,—**

---

* भावार्थ—हे भगवान् ! जो भक्त आप के स्वरूप में लीन होता है अर्थात् समावेश में आप के साक्षात्कार का आनन्द उठाता है, उसका अभिमान भी अलौकिक चमत्कार से युक्त होने के कारण उसका भूषण ही होता है, किन्तु सांसारिक लोगों का अभिमान उस चमत्कार से रहित होने के कारण दूषण ही होता है।

१ ख० पु०, च० पु० सर्वस्वतंत्रोहमिति पाठः।

२ ख० पु०, च० पु० विश्वस्यात्मसाक्षात्कारादिति पाठः।

३ घ० पु० साभिमानत्वमिति पाठः। ४ ख० पु० अविकल्पतापीति पाठः।

'ख[1]सोपानपदारूढ्या भर्तुः स्यादन्तिके स्थितिः ।
इतरस्तु विकल्पानां वैमुख्याद्बाह्यभूमिगः ॥'

इति ॥ ४ ॥

त्वदनुरागिणो यत एवं मा[2]नितापि शोभते ततः—

देवदेव भवदद्वयामृता-
ख्यातिसंहरणलब्धजन्मना ।
तद्यथास्थितपदार्थसंविदा
मां कुरुष्व चरणार्चनोचितम् ॥ ५ ॥

तद् = इसलिए,
देवदेव = हे देवताओं के प्रभु !
भवत्- = आप के
अद्वय-अमृत- = (चित्-आनन्द रूपी) अभेद-अमृत की
अख्याति- = अप्रथा (अर्थात् अज्ञान) के
संहरण- = नष्ट होने पर
लब्ध-जन्मना = जो (स्वरूप-साक्षात्कार रूपी ज्ञान) जन्म लेता है, अर्थात् उत्पन्न होता है, ऐसे
यथास्थित- = अपने स्वाभाविक रूप में होने वाले (अर्थात् आप चिद्रूप से अभिन्न होने वाले)
पदार्थ- = (सभी) पदार्थों के
संविदा = ज्ञान से
मां = मुझे
चरण- = (अपने) चरणों की
अर्चन- = पूजा करने के
उचितं = योग्य
कुरुष्व = बना दीजिए ॥ ५ ॥

हे देवदेव—अशेषाधिपते ! भवदद्वयामृताख्यातेः—त्व[3]दैक्यानन्दाप्रथायाः संहरणेन लब्धं जन्म यया तया यथास्थितानां—चिदेकात्मनां पदार्थानां संविदा मां स्व[4]मरीच्यर्चोचितं कुरु । तच्छब्दः पूर्वश्लोकापेक्षया हेतौ ॥ ५ ॥

कीदृशी असावर्चा यदुचितं त्वां करोमि ? इति भगवदुक्तिं सम्भावयन्नाह—

१ ग० पु०, च० पु० स्वसोपानेति पाठः ।
२ ग० पु० मानिता शोभते—इति पाठः ।
३ ख० पु० त्वदानन्दैक्या प्रथायाः—इति पाठः ।
४ ग० पु०, च० पु० स्वमरीच्यर्चितं कुरु—इति पाठः ।

ध्यायते तदनु दृश्यते ततः
स्पृश्यते च परमेश्वरः स्वयम् ।
यत्र पूजनमहोत्सवः स मे
सर्वदास्तु भवतोऽनुभावतः ॥ ६ ॥

(**प्रभो** = हे स्वामी !)
यत्र = जिस
(**महोत्सवे** = बड़े उत्सव में)
परमेश्वरः = परमेश्वर का
स्वयं = आप से आप (अर्थात् अनायास ही)
ध्यायते = ध्यान किया जाता है,
तदनु = उसके बाद
(**सः** = वह)
दृश्यते = (समावेश में) दिखाई देता है,
ततः च = और फिर
स्पृश्यते = (आप से आप ही) स्पर्श किया जाता है,
सः = वही
पूजन- = (आप की) पूजा का
महा- बड़ा
उत्सवः = उत्सव
भवतः = आप के
अनुभावतः = प्रभाव से
मे = मुझे
सर्वदा = सदैव
अस्तु = प्राप्त होता रहे ॥ ६ ॥

'उच्चाररहितं वस्तु चेतसैव विचिन्तयन् ।' मा० वि०, अ० २, श्लो० २२ ॥

इति स्थित्या ध्यायते । तदनु दृश्यते—समावेशात्प्रकाशते । ततोऽपि स्पृश्यते—गाढगाढसमाश्लेषेणैकीक्रियते[1] । स्वयमिति[2]—न तु उच्चारकरणादिपारतन्त्र्येण स्वयं चानुपचितेन चिन्मयेन वपुषा अनन्याकारविशेषेण । यत्रेति—पूजनमहोत्सवे । महोत्सवशब्देनात्यन्तमुपादेयतामस्य वदन्नात्मनस्तदासक्त्या प्रमोदनिर्भरतां ध्वनति । अनुभावत इति—ममानुभवतस्त्वदीयानुभावकव्यापारात्[3][4] ॥ ६ ॥

१ ख० पु० गाढगाढमाश्लेषेणैकीक्रियते—इति पाठः ।

२ ख० पु०, च० पु० स्वयमेव—इति पाठः ।

३ ख० पु०, च० पु० ममानुभावतः—इति पाठः ।

४ ख० पु०, च० पु० त्वदीयानुभवकव्यापारात्—इति पाठः ।

एतदेव श्लाघमान आह—

यद्यथास्थितपदार्थदर्शनं
युष्मदर्चनमहोत्सवश्च यः ।
युग्ममेतदितरेतराश्रयं
भक्तिशालिषु सदा विजृम्भते ॥ ७ ॥

(**उमेश** = हे पार्वती-नाथ !)
यत् यथा-स्थित-पदार्थ-दर्शनम् = अपने स्वाभाविक स्वरूप में ठहरी हुई (अर्थात् आप चिद्रूप से अभिन्न होने वाली) सभी सांसारिक वस्तुओं का जो दर्शन (अर्थात् ज्ञान)
(**अस्ति** = है),
यः च युष्मद्-अर्चन-महा-उत्सवः = और (अद्वय-आनन्द-रूपिणी) आप की पूजा का जो बड़ा उत्सव
(**अस्ति** = है,)
एतत् = ये
युग्मम् = दोनों बातें
इतर-इतर- = एक दूसरी पर
आश्रयम् (**अस्ति**) = आश्रित रहती हैं । (अर्थात् वस्तुओं की वास्तविक स्थिति आप से अभिन्नता के ज्ञान के विना अद्वयानन्द-रूपिणी आप की पूजा का बड़ा उत्सव संभव नहीं होता । ऐसे ही उस उत्सव के बिना वस्तुओं की स्थिति का यथार्थ ज्ञान नहीं होता । इसलिए ये दोनों बातें एक साथ होती हैं ।)
(**इदं च** = और इन दोनों बातों का)
भक्ति-शालिषु = (आप के) अनन्य-भक्तों में
सदा = सदा
***विजृम्भते** = विकास होता है ॥ ७ ॥

यथास्थितानां चिदात्मनां[1] पदार्थानां दर्शनं-विज्ञानं[2] विना न त्वदद्वयपूजामहोत्सवः, तं च विना न यथास्थितवस्तुज्ञानम्,-इतीदं द्वयमितरेतराश्रयं भक्तिशालिषु सदा विजृम्भते, त्वयैवास्योभयस्य युगपत्प्रकाशनात्[3] ॥ ७ ॥

* अर्थात् आपके अनुग्रह से भक्त-जन समावेश में इन दोनों बातों का एक साथ ही अनुभव करते हैं ।

१ च० पु० चिदात्मनामिति पाठो न दृश्यते । २ ख० पु० ज्ञानमिति पाठः ।
३ घ० पु०, च० पु० युगपत्प्रकाशादिति पाठः ।

स्फुरदुपायपुरःसरमेतदाशंसापर आह—

तत्तदिन्द्रियमुखेन सन्ततं
युष्मदर्चनरसायनासवम् ।
सर्वभावचषकेषु पूरिते-
ष्वापिबन्नपि भवेयमुन्मदः ॥ ८ ॥

(प्रभो = हे ईश्वर !)
पूरितेषु = (मेरी यही लालसा है कि) लबालब भरे हुए
सर्व- = समस्त
भाव- = पदार्थों रूपी
चषकेषु = प्यालों में
तत्-तत्- = सभी
इन्द्रिय- = इन्द्रियों रूपी
मुखेन = मुखों से
युष्मद्- = आप की
अर्चन- = (स्वरूप-परामर्श रूपिणी) पूजा के
रसायन- = रसायन रूपी
आसवं = मदिरा को
सन्ततम् = लगातार (और) पूर्ण रूप में
आपिबन् = पीते हुए
अपि = ही
(**अहम्** = मैं)
उन्मदः = मतवाला (अर्थात मस्त या आनन्द-मग्न)
भवेयम् = बना रहूँ ॥ ८ ॥

सर्वभावा एव[1] चषकाणि—पानपात्राणि, तेषु चक्षुरादिमुखेन महार्थ-दृष्ट्या चिदैक्यामृतेन पूरितेषु—भृतेषु, तदा[2]हरणक्रमेण तुर्यारोहरूपं युष्मत्पूजारसायनपानम् आ—समन्तात्पिबन् उद्गतमदोऽपि नाम भवेयम्—एतत्प्रार्थये ॥ ८ ॥

प्रभुमेवार्थयते—

अन्यवेद्यमणुमात्रमस्ति न
स्वप्रकाशमखिलं विजृम्भते ।
यत्र नाथ भवतः पुरे स्थितिं
तत्र मे कुरु सदा तवार्चितुः ॥ ९ ॥

१ घ० पु० इवेति पाठः ।

२ ख० पु० तदारोहणक्रमेणेति पाठः; ग० पु० उदाहरणक्रमेणेति च पाठः ।

नाथ = हे स्वामी !
यत्र = जिस (चिदानन्दरूपी नगर) में
अन्य- (आप से भिन्न कोई) दूसरी
वेद्यम् = जानने योग्य वस्तु
अणु-मात्रम् = जरा सी
(**अपि** = भी)
न अस्ति = नहीं रहती,
(**यत्र च** = और जहां)
अखिलं = (यह) सारा जगत्
स्वप्रकाशम् = स्वप्रकाश-रूप हो कर
(**एव** = ही)
विजृम्भते = विकसित होता है,
तत्र = उसी
भवतः = आपके (चिन्दानन्द रूपी)
पुरे = नगर में
तव = आप की
अर्चितुः = पूजा करने में लगे हुए
मे = मुझ को
सदा = सदा के लिए
स्थितिं = स्थान
कुरु = दीजिए ॥ ९ ॥

यत्र नाथ भवतः पुरे—पूरके चिदात्मनि रूपे व्यतिरिक्तस्य कस्यं-[1] चिद्भावादेवान्यद्भिन्नं वेद्यम् अणुमात्रमपि[2] नास्ति, अपि तु अखिलं— ग्राह्यग्राहकरूपं स्वप्रकाशमेव विजृम्भते, तत्र मे—त्वदर्चापरस्य सदाव-स्थितिं—गाढगाढसमावेशरूपां कुरु ॥ ९ ॥

एवमर्थितेऽपि जगतीप्सितमनाप्नुवन् खिन्न इवाह—

दासधाम्नि विनियोजितोऽप्यहं
स्वेच्छयैव परमेश्वर त्वया ।
दर्शनेन न किमस्मि पात्रितः
पादसंवहनकर्मणापि वा ॥ १० ॥

परमेश्वर = हे सर्वैश्वर्यवान प्रभु !
त्वया = आप
स्वेच्छया = अपनी इच्छा (अर्थात अनुग्रहशक्ति) से
एव = ही
अहं = मुझे
दास-धाम्नि = (अपने) दास की पदवी पर
विनियोजितः = लगा चुके हैं,
अपि = तो भी,

१ ग० पु०, च० पु० कस्यचिदेवाभावादिति पाठः ।
२ ख० पु० अणुमात्रकमपीति पाठः ।

किं = क्या बात है कि (आप)
दर्शनेन = (अपने) दर्शन
वा = और
पाद्- = (अपने ज्ञान-क्रिया रूपी) चरण
संवहन- = दबाने के (विमर्श करने के)
कर्मणा = काम के लिए
अपि = भी
पात्रितः = (मुझे) पात्र
न अस्मि = नहीं बनाते । (अर्थात् दर्शन दे कर और अपने चरणों की सेवा का काम सौंप कर मुझे कृतार्थ क्यों नहीं करते ?) ॥१०॥

स्वेच्छयैव—न त्वन्यप्रेरणादिना; निरपेक्षो हि शक्तिपात इत्युक्तमेव । दर्शनेन—शाम्भवसमावेशात्मना परसाक्षात्कारानुप्रवेशनेन,[1] पात्रितः—भाजनीकृतः । पादसंवहनकर्मणा—रुद्रशक्तिसमावेशाह्लादोदयेन ।[2] अनुरणनोक्त्या लौकिकेश्वरार्थः प्राग्वत् ॥ १० ॥[3]

सोपालम्भमिव प्रभुमभिमुखयितुमाह—

***शक्तिपातसमये विचारणं**
प्राप्तमीश न करोषि कर्हिचित् ।
अद्य मां प्रति किमागतं यतः
स्वप्रकाशनविधौ विलम्बसे ॥ ११ ॥

१ ख० पु०, च० पु० अनुप्रवेशेनेति पाठः ।
२ ख० पु०, च० पु० आह्लादनेनेति पाठः । ३ घ० पु० प्राग्वदेवेति पाठः ।
* अयं श्लोक आचार्याभिनवगुप्तपादैरेव श्रीतंत्रालोके विवृतः—

श्रीमानुत्पलदेवश्चाप्यस्माकं परमो गुरुः ।
'शक्तिपातसमये विचारणं प्राप्तमीश न करोषि कर्हिचित् ।
अद्य मां प्रति किमागतं यतः स्वप्रकाशनविधौ विलम्बसे ॥'
कर्हिचित्प्राप्तशब्दाभ्यामनपेक्षित्वमूचिवान् ।
दुर्लभत्वमरागित्वं शक्तिपातविधौ विभोः ॥
(तं० लो०, १३ आ०, श्लो० २९१)
अपरार्धेन तस्यैव शक्तिपातस्य चित्रताम् ॥
व्यवधानचिरक्षिप्रभेदाद्यैरुपवर्णितैः ॥ (तं० लो० १९२)
इति । अस्य श्लोकसंदर्भस्यार्थो श्रीतन्त्रालोकविवेके द्रष्टव्यः ।

ईश = हे स्वेच्छाचारी प्रभु !
(**त्वया** = आप की तो)
शक्तिपात- = (मुझ पर) शक्तिपात अर्थात् अनुग्रह करने के
समये = समय
विचारणं = विचार करना
प्राप्तं = चाहिए था (कि मैं आप के अनुग्रह का पात्र हूँ या नहीं),
(**किन्तु त्वं तथा** = किन्तु आप ऐसा)
कर्हिचित् = कभी
न करोषि = करते ही नहीं ।
अद्य = आज
मां प्रति = मुझ पर
किम् = क्या
आगतं = आ पड़ी है,
यतः = जो
(**त्वं** = आप)
स्वप्रकाशन- = अपने चित्-प्रकाश की
विधौ = झलक दिखाने में
विलम्बसे = देर लगाते हैं ॥ ११ ॥

प्राप्तमिति—उचितम् । ईशेत्यामन्त्रणं स्वतन्त्रशक्तिपातक्रमानुरूपम् । कर्हिचित्—कदाचित् । अद्येति—संपन्नेऽप्यनुग्रहात्मनि शक्तिपाते । किमागतमिति—क एष प्रकारः यच्चिदात्मकस्वात्मप्रकाशात्मनि विधौ—अवश्यकार्येऽपि विलम्बसे—अद्यापि कालक्षेपं करोषि; मा कृथाः[1] ॥ ११ ॥

पुनरपि भगवत्[2]समावेशाशंसापर आह—

तत्र तत्र विषये बहिर्विभा-
त्यन्तरे[3] च परमेश्वरीयुतम् ।
त्वां जगत्त्रितयनिर्भरं सदा
लोकयेय निजपाणिपूजितम् ॥ १२ ॥

(**प्रभो** = हे स्वामी !)
बहिः = बाहर (अर्थात् इस जगत् में)
अन्तरे च = तथा भीतर (अर्थात् चित्त में)
विभाति = भासमान
तत्र तत्र = सभी
विषये = विषयों में
परमेश्वरी- = परा-शक्ति देवी से
युतं = युक्त
(**च** = और)
जगत्-त्रितय- = तीनों लोकों से
निर्भरं = परिपूर्ण
त्वाम् = आप को
(**अहं** = मैं)

१ ख० पु०, च० पु० कृषाः—इति पाठः ।
२ घ० पु० श्रीभगवत्समावेश—इति पाठः ।
३ ख० पु० विभात्यन्तरेऽथ—इति पाठः ।

निज- = अपने
पाणि- = हाथ से
पूजितं = (आप की) पूजा करते हुए ही
सदा = सदा (अर्थात् समाधि और व्युत्थान दोनों दशाओं में)
लोकयेय = देखता रहूँ ॥ १२ ॥

बहिरिति—बाह्ये नीलादौ, अन्तरे[1] च—सुखादौ च, विभाति सति[2] त्वां परमेश्वर्या[3] परशक्त्या[4] युतं—नित्यसम्बद्धं, प्राग्वज्जगत्त्रयेण विश्वेन निर्भरं लोकयेय—साक्षात्कुर्याम्। निजेन पाणिना—पञ्चावर्तमध्यमध्यमप्राणशक्त्युद्बोधनक्रमाहृत[5]विश्वार्पणसमेधनेना[6]र्चितम्। अत्र पाणिः शक्तिः। यथोक्तमाम्नाये—

'हस्तः शक्तिः प्रकीर्तिता'[7]।

इति ॥ १२ ॥

एतत्पूजोचितं नित्योदितसमावेशरूपमेव फलमाकाङ्क्षयन्नाह[8]—

स्वामिसौधमभिसन्धिमात्रतो
निर्विबन्धमधिरुह्य सर्वदा।
स्यां प्रसादपरमामृतासवा-
पानकेलि[9]परिलब्धनिर्वृतिः ॥ १३ ॥

(परमेश्वर = हे परमेश्वर !)
(अहम् = मैं)
अभिसन्धि-मात्रतः = (अपनी) इच्छा से ही
स्वामि- = (आप) प्रभु के
सौधं = (अत्यन्त ऊँचे शाक्त पद रूपी) महल पर
निर्विबन्धम् = बिना रोक टोक के
अधिरुह्य = चढ़ कर
(भवत्- = आप के)

१ ख० पु०, च० पु० आन्तरे—इति पाठः।
२ ग० पु०, च० पु० विभासति त्वाम्—इति पाठः।
३ ख० पु०, च० पु० पारमेश्वर्या—इति पाठः।
४ ख० पु० परं शक्त्या—इति पाठः। ५ ग० पु०, च० पु० क्रमाद्धृतेति पाठः।
६ ख० पु०, च० पु० समेधेन इति पाठः।
७ ख० पु०, च० पु० प्रकीर्तितः—इति पाठः।
८ ग० पु०, च० पु० फलमाकाङ्क्षन्नाह—इति पाठः।
९ च० पु० पानकेन इति पाठः।

प्रसाद्- = अनुग्रह से
परम- = (समावेश में साक्षात्कार रूपी) अत्युत्कृष्ट
अमृत-आसव- = अमृत-मधु का
आपान-केलि- = पान करने की क्रीड़ा से
सर्वदा = सदैव
परिलब्ध-निर्वृतिः = आनन्द-परिपूर्ण
स्याम् = बना रहूँ ॥ १३ ॥

स्वामिनः सम्बन्धिनं[1] सौधम्—अतिस्पृहणीयं सुधासमूहमयमत्युच्चैः[2] शाक्तं पदम्, अभिसंधिमात्रत इति—उच्चारकरणाद्यनपेक्षम् इच्छामात्रेणैव, निर्विबन्धं[3] कृत्वा अधिरुह्य—देहादिभूमिन्यग्भावेन स्वीकृत्य, प्राग्व्याख्यातप्रसादपरमामृतासवापानक्रीडया परिलब्धनिर्वृतिः—आनन्दपरिपूर्णः सदा स्याम्। अनुरणनशक्त्या दृष्टान्तालङ्कारध्वनिना लौकिकेऽश्वर्थः प्राग्वत् ॥ १३ ॥

प्रतिपादितपूजोपायमाह[4]—

यत्समस्तसुभगार्थवस्तुषु
स्पर्शमात्रविधिना चमत्कृतिम् ।
तां समर्पयति तेन ते वपुः
पूजयन्त्यचलभक्तिशालिनः ॥ १४ ॥

(**सदाशिव** = हे सदाशिव !)
यत् = जो बात (अर्थात् पारमार्थिक युक्ति)
समस्त-सुभग-अर्थ-वस्तुषु = (आप चिद्रूप से अभिन्न होने के कारण) सुन्दर प्रयोजन वाली सभी वस्तुओं के विषय में
स्पर्श-मात्र-विधिना = (उनके रूप आदि विषयों के) केवल स्पर्श से ही (अर्थात् प्राथमिक आलोचन से ही)
तां = एक अलौकिक
चमत्कृतिं = स्वात्म-चमत्कार
समर्पयति = प्रदान करती है,

---

१ ख० पु० संबन्धि—इति पाठः ।

२ ख० पु०, च० पु० स्वधामसमूहमत्युच्चैः—इति पाठः ।

३ ग० पु०, च० पु० विनिर्बन्धं कृत्वा—इति पाठः ।

४ ख० पु० पूजनोपायमाह—इति पाठः ।

तेन = उसी युक्ति से
अचल-भक्ति- = (नित नये समावेश रूपिणी) आप की अटल भक्ति से
शालिनः = सुशोभित
(त्वद्-भक्ताः = आप के भक्त-जन)
ते = आप के
वपुः = (चिन्मय) स्वरूप की
पूजयन्ति = पूजा करते हैं (अर्थात् आप सच्चिदानन्द-स्वरूप में समाविष्ट होकर आनन्दमग्न रह जाते हैं) ॥ १४ ॥

मायाशक्त्या यद्यपि हेयोपादेयताभाञ्जि तथापि वस्तुतश्चिन्मयत्वात् सुभगार्थानि—सुभगप्रयोजनान्येव समस्तानि वस्तूनि, तेषु विषयभूतेषु, यत्किंचिदिन्द्रियपथगतं[1] तदीयरूपस्पर्शादि। स्पर्शमात्रविधिना—संवित्संस्पर्कविकल्पेन[2] संविद्व्यापारेण। तामिति—असामान्यां चमत्कृतिं सम्यग् अर्पयति—वितरति, तेन—यच्छब्दपरामृष्टेन वस्तुस्वरूपेण, ते वपुः—चिन्मयं[3] स्वरूपम्, अचलभक्त्या—नवनवसमावेशेन शालमानाः, पूजयन्ति—तर्पणक्रमेण त्वय्येव विश्राम्यन्ति ॥ १४ ॥

ननु मलिनैरर्थैः कथं शुद्धस्वरूपभगवदर्चा ? इत्याशङ्क्य सर्वदशासु अर्थानां भगवत्स्वरूपतया शुद्धतां वक्तुमाह—

स्फारयस्यखिलमात्मना[4] स्फुरन्
विश्वमामृशसि रूपमामृशन्।
यत्स्वयं निजरसेन घूर्णसे
तत्समुल्लसति भावमण्डलम् ॥ १५ ॥

(जगत्प्रभो = हे जगत्-प्रभु !)
(त्वम् = आप)
आत्मना = अपने (चिद्रूप) में
स्फुरन् = भासमान होते (ही)
अखिलं विश्वं = सारे जगत् को
स्फारयसि = विकसित करते हैं (अर्थात् खिलाते हैं),
रूपम् = (अपने) चिन्मय स्वरूप का

---

१ ग० पु० पथपतितम्—इति पाठः।

२ ख० पु०, च० पु० संवित्सङ्कल्पविकल्पेन—इति पाठः।

३ घ० पु०, च० पु० चिन्मयरूपम्—इति पाठः।

४ ख० पु० आत्मनः—इति पाठः।

आमृशन् = चमत्कार करते (ही)
(**अखिलं विश्वम्** = सारे संसार को)
आमृशसि = आमृष्ट करते हैं (अर्थात् आस्वादन करके आनन्द-घन बनाते हैं),
(**च** = और)
यद् = जब (आप)
स्वयं = स्वयं (अर्थात् अपनी इच्छा से)
निज-रसेन = अपने चिदानन्द-रस में लीन होकर
घूर्णसे = घूमने लगते हैं,
तद् = तभी तो
भाव-मण्डलं = सभी पदार्थों का समूह (अर्थात् यह सारा जगत्)
समुल्लसति = आनन्द से नाच उठता है ॥ १५ ॥

आत्मना—चिन्मयेन, स्फुरन्—भासमानः, अखिलं—विश्वं स्फारयसि—विकस्वरस्वात्मप्रथा[1]च्छुरणेन फुल्लयसि । तथा स्वरूपमामृशन्—निजं स्वरूपं चमत्कुर्वन् निखिलं[2] विश्वमामृशसि आस्वादनेन आनन्दघनं घटयसि । यश्च स्वयं निजेन—चिद्रसेन घूर्णसे—पूर्णत्वात्समुच्छलत्तया स्पन्दसे, तद्भावमण्डलम्—अखिलं पदार्थजातं समुल्लसति—चिद्भूमौ[3]-वुन्मीलति । एवमनेन विश्वस्याभेदसाराः परदशोचिताः स्थितिसंहारसर्गाः ज्ञानेच्छाक्रियाशक्तिपरिस्पन्दरूपाः क्रमेणोक्ताः । अक्रमेऽपि हि संवित्तत्त्वे[4] व्यावृत्तिभेदेन सृष्टिस्थितिसंहारशक्त्यवियोगः[5] सनातनत्वेन वर्ण्यतापि, यदपेक्षयायं क्रमव्यवहारः । तथा च श्रीपूर्वशास्त्रेषूक्तम्—

'सव्यापाराधिपत्वेन तद्धीनप्रेरकत्वतः[6] ।
इच्छानिवृत्तेः स्वस्थत्वादभिन्नमपि पञ्चधा ॥'

(मा० वि०, अ० २, श्लो० ३४)

इति । सृष्टिस्थितिसंहाराणां विपर्यस्तत्वेन[7] प्रतिपादनं चिन्मयत्वेन अक्रमतापरमार्थप्रकाशनाय ॥ १५ ॥

१ घ० पु०, च० पु० प्रथास्फुरणेनेति पाठः ।
२ ग० पु० अखिलमिति पाठः ।
३ ख० पु० चिद्भूमावेवोन्मीलति—इति पाठः ।
४ ख० पु० संवित्तत्त्वेन—इति पाठः ।
५ ग० पु० शक्त्या वियोगः—इति पाठः ।
६ ख० पु० तद्धीनपूरकत्वतः—इति पाठः ।
७ ख० पु० विपर्यस्तत्वेन—इति पाठः । घ० पु० विपर्यस्तेनेति च पाठः ।

ननु श्रीपरमेश्वरभूमावभिन्नानामर्थानामस्तु सदा शुद्धत्वं, मायापदे तु भेदविघ्नव्याकुलिते कथमेतत् ? इत्याशङ्क्य भेदविघ्नप्रसरक्षयमाह—

योऽविकल्पमिदमर्थमण्डलं
पश्यतीश निखिलं भवद्वपुः ।
स्वात्मपक्षपरिपूरिते जग-
त्यस्य नित्यसुखिनः कुतो भयम् ॥ १६ ॥

ईश = हे स्वतंत्र प्रभु !
यः = जो (आप का भक्त)
इदं = इस
निखिलम् = समस्त
अर्थ-मण्डलम् = वस्तु-समूह (अर्थात् सारे जगत्) को
अविकल्पं = निर्विकल्पता से (अर्थात् शाक्त-समावेश-क्रम से)
भवत्- = आप का
वपुः = स्वरूप ही
पश्यति = देखता है (अर्थात् जिसे प्रत्येक वस्तु में आप चिद्रूप की ही झलक दिखाई देती है),
(**इति** = इस प्रकार)
स्वात्म-पक्ष- = स्वात्म-स्वरूप से (अर्थात् चिदैकता से)
परिपूरिते = परिपूर्ण बने हुए
जगति = संसार में
अस्य = उस
नित्य-सुखिनः = सदा सुखी (अर्थात् परमानन्द-घन भक्त) को
भयं कुतः = भयं (किस से अथवा) कहाँ हो सकता है ? ॥ १६ ॥

हे ईश ! [इदमर्थमण्डलं—प्रमेयजातमविकल्पं कृत्वाहानादानादि-बुद्धिपरिहारेण श्रीभैरवीयमुद्रावीर्यस्थित्या |यो योगिवरो भवद्वपुश्चिद्रू-पमेव कृत्वा पश्यति—दर्पणोदरोन्मीलनप्रतिबिम्बवत् साक्षात्करोति, अस्य स्वात्मपक्षेण—चिदैक्येन परितः—समन्तात् पूरिते—स्वाभेदमा-पादिते जगति, भेदविघ्नस्योन्मीलनात् नित्यसुखिनः—परमानन्दघनस्य कुतो भयं—न कुतश्चिदेव, इति युक्तमुक्तं प्राक्—

'तेन ते वपुः पूजयन्त्यचलभक्तिशालिनः ॥' (स्तो० १३, श्लो० १४) इति ॥ १६ ॥

इमामेवाद्वयदृष्टिं प्रशंसन्नाह—

कण्ठकोणविनिविष्टमीश ते
कालकूटमपि मे महामृतम् ।
अप्युपात्तममृतं भवद्वपु-
र्भेदवृत्ति यदि रोचते न मे ॥ १७ ॥

ईश = हे स्वामी !
ते = आपके
कण्ठ- = गले के
कोण- = कोने में
विनिविष्टं = पड़ा हुआ
कालकूटम् = कालकूट विष
अपि = भी
मे = (आप से अभिन्न होने के कारण) मेरे लिए
महामृतम् = बहुत बड़ा अमृत
(**अस्ति** = है ।)
उपात्तम् = अनायास प्राप्त हुआ
अमृतम् = अमृत
अपि = भी
यदि = यदि
भवत्-वपुः = आप के स्वरूप से
भेद-वृत्तिः = भिन्न हो
(**तर्हि तत्** = तो वह)
मे = मुझे
न रोचते = अच्छा नहीं लगता ॥ १७ ॥

कालकूटं—महाविषमपि ते कण्ठकोणविनिविष्टं—त्वदङ्गसङ्गतया स्थितं त्वदभेदेन प्रथमानं, मे महामृतं—परमव्याप्तिप्रदत्वात् । उक्तं हि—

…………'विषमप्यमृतायते ।' (शिवस्तो०, स्तो० २०, श्लो० १२)

इति । अमृतं तूपात्तमपि—लब्धमपि यदि भवद्वपुषो भेदवृत्ति—चिदद्वयदृशामस्पृशद्भाति, तदवास्तवत्वान्मह्यं न रोचते—नाभिलाषपदं ममेति यावत् ॥ १७ ॥

एवमद्वयसमावेशमात्मनि सदोदितत्वेनेप्सन्नाह—[1]

त्वत्प्रलापमयरक्तगीतिका-
नित्ययुक्तवदनोपशोभितः ।
स्यामथापि भवदर्चनक्रिया-
प्रेयसीपरिगताशयः सदा ॥ १८ ॥

[1] ख० पु०, च० पु० सदोचितत्वेनेति पाठः ।

(**प्रभो** = हे स्वामी !)
(**अहं** = मैं)
त्वत्- = आप (चित्-स्वरूप) की
प्रलाप- = कथाओं (के अमृत) से
मय- = पूर्ण,
रक्त- = (और भक्ति के कारण) मधुर तथा सुन्दर
गीतिका- = गीतों (के गाने) में
नित्य- = सदा
युक्त- = लगे हुए
वदन- = मुख से
उपशोभितः = सुशोभित
अथापि = और
भवत्- = आप की
अर्चन-क्रिया- = पूजा-क्रिया रूपिणी
प्रेयसी- = परम-प्रिया से
परिगत- = स्वीकृत किये गए
आशयः=(अपने) हृदय वाला अथवा आप की पूजा-क्रिया रूपिणी परम-प्रिया के स्वरूप (अर्थात् मर्म) को पूर्ण रूप में जानने वाला
सदा = सदैव
स्याम् = बना रहूँ ॥ १८ ॥

समावेशवैवश्यादनभिसन्धानमुच्चरन्तीभिस्त्वत्प्रलापमयीभिर्भक्त्यनुरागव्यञ्जनाद्रक्ताभिर्मधुरसुन्दराभिर्गीतिकाभिर्नित्ययुक्तेन वदनेन उपशोभितः—अतिसुन्दररुचिः स्याम् । अथापीति—अपि च, व्याख्यातसतत्त्वया[1] भवदर्चनक्रिययैव प्रेयस्या—परमवल्लभया[2], परिगतः—स्वीकृतः आशयः—चित्तं यस्य, तस्याश्च परिगतः—सम्यग् ज्ञातः, आशयः—स्वरूपं येन, तथाभूतः सदा स्याम् ॥ १८ ॥

ननु च लब्धसमावेशचमत्कारोऽपि किमर्थं भूयो भूयः समावेशाकाङ्क्षापरोऽसि ? इति शङ्कित्वैवाह—

ईहितं न बत पारमेश्वरं
शक्यते गणयितुं तथा च मे ।
दत्तमप्यमृतनिर्भरं वपुः
स्वं न पातुमनुमन्यते तथा ॥ १९ ॥

बत = ओह, कितना आश्चर्य !
पारमेश्वरम् = परमेश्वर की
ईहितं = करनी
गणयितुम् = समझी

1 ख० पु०, च० पु० व्याख्यातसतत्वतयेति पाठः ।
2 ग० पु० परमवल्लभतयेति पाठः ।

न शक्यते = नहीं जा सकती,
तथा च = क्योंकि
मे = मुझे
अमृत- = (चिदानन्दरूपी) अमृत-रस से
निर्भरं = भरा हुआ
स्वं = अपना
वपुः = (आनन्द-मय) स्वरूप
पातुं = पीने (अर्थात् आस्वाद लेने) के लिए
दत्तम् = प्रदान करके
अपि = भी
तथा = वैसे ही (अर्थात् इच्छा-पूर्वक)
(पातुं) = (उस अमृत-रस को) लगातार पीना अर्थात् आस्वाद लेना
न अनुमन्यते=नहीं मानते, (अर्थात् समावेश का आनन्द प्रदान करके भी मुझे फिर व्युत्थान-भूमि में ही भेजते हैं) ॥ १९ ॥

[1]श्रीपरमेश्वरसम्बन्धीहितं—विलसितं, बत—आश्चर्यं, गणयितुं—कलयितुं न शक्यते । तथा च, मे—मह्यम्, अमृतनिर्भरम्—आनन्दघनं वपुः—स्वरूपं, पातुं—रसयितुं दत्तमपि—प्रसादीकृतमपि, तथेति—यथारुचि निर्विरामं पातुं नानुमन्यते—नाङ्गीकरोति, पुनर्व्युत्थानभूमिमेव प्रेरयति । इत्यत इयमाकाङ्क्षेत्यर्थः ॥ १९ ॥

यत एवं ततः—

त्वामगाधमविकल्पमद्वयं
स्वं स्वरूपमखिलार्थघस्मरम् ।
आविशन्नहमुमेश सर्वदा
पूजयेयमभिसंस्तुवीय च ॥ २० ॥

उमेश = हे उमापति !
अगाधम्, = अथाह (अपार),
अविकल्पम् = निर्विकल्प,
अद्वयं, = अभेद-रूप,
स्वं स्वरूपम् = स्वात्म-स्वरूप
अखिल- = (और) सभी
अर्थ- = (भेदात्मक) पदार्थों को
घस्मरं = निगल डालने वाले,
त्वाम् = आप (चिद्रूप) में
आविशन् = समावेश करते हुए
अहं = मैं
सर्वदा = सदैव

1 ख० पु० परमेश्वरसम्बन्धीहितमिति पाठः,
ग० पु० परमेश्वरस्य सम्बन्धीहितमिति च पाठः ।

ॐ तत् सत्

अथ

जयस्तोत्रनाम चतुर्दशं स्तोत्रम्

ॐ जयलक्ष्मीनिधानस्य निजस्य स्वामिनः पुरः ।
जयोद्घोषणपीयूषरसमास्वादये क्षणम् ॥ १ ॥

(अहं = मैं)
जय- = सर्वोत्कृष्ट
लक्ष्मी- = मोक्ष-लक्ष्मी के
निधानस्य = आश्रय,
निजस्य = अपने
स्वामिनः = स्वामी के
पुरः = सामने (अर्थात् समावेश में साक्षात्कार होते ही)
जय- = जय-जय-कार की
उद्घोषण- = ध्वनिरूपी
पीयूषरसं = (परमानन्द-मय) अमृत-रस का
क्षणम् = प्रतिक्षण
आस्वादये = आस्वादन करता रहूँ ॥

इदमपि जयस्तोत्रं ग्रन्थकाराशयमेव[1] । जयलक्ष्म्याः—सर्वोत्कर्षश्रियो[2] निधानं—समुचितमास्पदं[3] । पुर इति—साक्षात्कारसमनन्तरमेव[4], जयोद्घोषणमेवानन्दप्रदत्वात् पीयूषरसम्, आस्वादये—चमत्करोमि, क्षणं—मुहुर्मुहुः । क्षणशब्दश्चास्य आस्वादस्य सुलभतां ध्वनति ॥ १ ॥

जयैकरुद्रैकशिव महादेव महेश्वर ।
पार्वतीप्रणयिञ्शर्व सर्वगीर्वाणपूर्वज ॥ २ ॥

एक-रुद्र = हे अद्वितीय रुद्र !
एक-शिव = हे अद्वितीय शङ्कर !
महादेव = हे महादेव !
महेश्वर = हे सर्व-ऐश्वर्यवान् प्रभु !

---

१ ख० ग० पु० ग्रन्थकाराशयैवेति पाठः ।
२ घ० पु० सारोत्कर्षश्रियः—इति पाठः ।
३ ख० पु० सूचितमास्पदम्—इति पाठः ।
४ ख० पु० समुत्कर्षसाक्षात्कारसमनन्तरमेव—इति पाठः ।

पार्वती- = हे पार्वती (अर्थात् परा-शक्ति) के
प्रणायन् = प्रिय स्वामी !
शर्व = हे (पापियों को) नष्ट करने वाले !
सर्व- = हे सभी
गीर्वाण- = देवताओं के
पूर्वज = पूर्वज अर्थात् आद्य प्रभु !
(त्वं) = आप की
जय = जय हो ॥ २ ॥

प्रथममामन्त्रणद्वयमद्वयसारताप्रथनाय[1]

'एको रुद्रः·······।'

इति श्रुतिरस्ति । एकः शिवः—नतु भेदवादस्थित्या बह्वः । पार्वती—परा शक्तिः । सर्वेषां गीर्वाणानां—देवानां पूर्वज—आद्य ॥ २ ॥

जय त्रैलोक्यनाथैकलाञ्छनालिकलोचन ।
जय पीतार्तलोकार्तिकालकूटाङ्ककन्धर ॥ ३ ॥

त्रैलोक्य- = तीनों लोकों के
नाथ- = स्वामित्व के
एक- = एक (अद्वयसूचक और अलौकिक)
लाञ्छन- = चिह्न के रूप में
अलिक- = माथे पर
लोचन = (तीसरा) नेत्र धारण करने वाले (त्रिलोचन) !
जय = आप की जय हो ।
पीत- = हे पिये गए
आर्तलोक- = (सभी) दुःखी लोगों (अर्थात् देवताओं, मनुष्यों और असुरों) के
आर्ति- = दुःख (के कारण)
कालकूट- = कालकूट विष की
अंक- = छाप से युक्त
कंधर = गले वाले, (नीलकण्ठ) !
जय = आप की जय हो ॥ ३ ॥

त्रैलोक्यनाथत्वे एकम्—अद्वयसूचकमलौकिकं[2] लाञ्छनमलिक-लोचनं—ललाटनेत्रं यस्य; भगवद्व्यतिरेकेणान्यस्योर्ध्वमुखोर्ध्वलोचना-[3]नुन्मीलनात् । पीतमार्तलोकानां—सर्वेषां सुरासुराणामार्तिहेतुत्वात्तद्रूपं यत् कालकूटं—महाविषं, तदङ्का कन्धरा यस्य । कालकूटमार्तिरूपतयो-

१ ख० पु० प्रथममामन्त्रणमिति पाठः ।

२ घ० पु० अद्वयसूचकाद्वितीयमलौकिकमिति पाठः ।

३ ग० पु० अधोमुखाधोलोचनेति पाठः ।

पूजयेयं = (आप की) पूजा करता रहूँ | अभिसंस्तुवीय = पूर्ण रूप में स्तुति (अर्थात् परामर्श) करता रहूँ ॥
च = और

अगाधम्—अपरिच्छेद्यम्, अविकल्पं—चिद्रूपम्, अद्वयम्—अभेद-सारं, स्वं—सर्वस्यात्मीयं स्वरूपम्, अखिलानां—षडध्वमयानामर्थानां घस्मरम्—अदनशीलं, त्वामात्मिशन्, हे उमेश—पराभट्टारिकास्वामिन्, अहं सदा पूजयेयं—

......'सा पूजा ह्यादराल्लयः ॥' वि० भै०, श्लो० १४७ ॥

इति स्थित्या अर्चयेयम् । अभितः—समन्तात् सम्यगभेदपरामर्शसार-तया स्तुवीय चेति शिवम् ॥ २० ॥

इति श्रीमदुत्पलदेवाचार्यविरचितस्तोत्रावलौ संग्रहस्तोत्रनामनि त्रयोदशस्तोत्रे श्रीक्षेमराजाचार्यविरचिता विवृतिः ॥ १३ ॥



ॐ तत् सत्

अथ

जयस्तोत्रनाम चतुर्दशं स्तोत्रम्

ॐ जयलक्ष्मीनिधानस्य निजस्य स्वामिनः पुरः ।
जयोद्घोषणपीयूषरसमास्वादये क्षणम् ॥ १ ॥

(अहं = मैं)
जय- = सर्वोत्कृष्ट
लक्ष्मी- = मोक्ष-लक्ष्मी के
निधानस्य = आश्रय,
निजस्य = अपने
स्वामिनः = स्वामी के
पुरः = सामने (अर्थात् समावेश में साक्षात्कार होते ही)
जय- = जय-जय-कार की
उद्घोषण- = ध्वनिरूपी
पीयूषरसं = (परमानन्द-मय अमृत-रस का
क्षणम् = प्रतिक्षण
आस्वादये = आस्वादन करता रहूँ ॥

इदमपि जयस्तोत्रं ग्रन्थकाराशयमेव[1] । जयलक्ष्याः—सर्वोत्कर्षश्रियो[2] निधानं—समुचितमास्पदं[3] । पुर इति—साक्षात्कारसमनन्तरमेव[4], जयोद्घोषणमेवानन्दप्रदत्वात् पीयूषरसम्, आस्वादये—चमत्करोमि, क्षणं—मुहुर्मुहुः । क्षणशब्दश्चास्य आस्वादस्य सुलभतां ध्वनति ॥ १ ॥

जयैकरुद्रैकशिव महादेव महेश्वर ।
पार्वतीप्रणयिञ्शर्व सर्वगीर्वाणपूर्वज ॥ २ ॥

एक-रुद्र = हे अद्वितीय रुद्र !
एक-शिव = हे अद्वितीय शङ्कर !
महादेव = हे महादेव !
महेश्वर = हे सर्व-ऐश्वर्यवान् प्रभु !

---

१ ख० ग० पु० ग्रन्थकाराशयैवेति पाठः ।

२ घ० पु० सारोत्कर्षश्रियः—इति पाठः ।

३ ख० पु० सूचितमास्पदम्—इति पाठः ।

४ ख० पु० समुत्कर्षसाक्षात्कारसमनन्तरमेव—इति पाठः ।

पार्वती- = हे पार्वती (अर्थात् परा-शक्ति) के
प्रणायन् = प्रिय स्वामी!
शर्व = हे (पापियों को) नष्ट करने वाले!
सर्व- = हे सभी
गीर्वाण- = देवताओं के
पूर्वज = पूर्वज अर्थात् आद्य प्रभु!
(त्वं) = आप की
जय = जय हो ॥ २ ॥

प्रथममामन्त्रणद्वयमद्वयसारताप्रथनाय[1]

'एको रुद्रः·······।'

इति श्रुतिरस्ति। एकः शिवः—नतु भेदवादस्थित्या बहवः। पार्वती—परा शक्तिः। सर्वेषां गीर्वाणानां—देवानां पूर्वज—आद्य ॥ २ ॥

जय त्रैलोक्यनाथैकलाञ्छनालिकलोचन।
जय पीतार्तलोकार्तिकालकूटाङ्ककन्धर ॥ ३ ॥

त्रैलोक्य- = तीनों लोकों के
नाथ- = स्वामित्व के
एक- = एक (अद्वयसूचक और अलौकिक)
लाञ्छन- = चिह्न के रूप में
अलिक- = माथे पर
लोचन = (तीसरा) नेत्र धारण करने वाले (त्रिलोचन)!
जय = आप की जय हो।
पीत- = हे पिये गए
आर्तलोक- = (सभी) दुःखी लोगों (अर्थात देवताओं, मनुष्यों और असुरों) के
आर्ति- = दुःख (के कारण)
कालकूट- = कालकूट विष की
अंक- = छाप से युक्त
कंधर = गले वाले, (नीलकण्ठ)!
जय = आप की जय हो ॥ ३ ॥

त्रैलोक्यनाथत्वे एकम्—अद्वयसूचकमलौकिकं[2] लाञ्छनमलिकलोचनं—ललाटनेत्रं यस्य; भगवद्व्यतिरेकेणान्यस्योर्ध्वमुखोर्ध्वलोचनानुन्मीलनात्[3]। पीतमार्तलोकानां—सर्वेषां सुरासुराणामार्तिहेतुत्वात्तद्रूपं यत् कालकूटं—महाविषं, तदङ्का कन्धरा यस्य। कालकूटमार्तिरूपतयो-

१ ख० पु० प्रथममामन्त्रणमिति पाठः।
२ घ० पु० अद्वयसूचकाद्वितीयमलौकिकमिति पाठः।
३ ग० पु० अधोमुखाधोलोचनेति पाठः।

च्छेद्यते[1]। अथ च कालकूटगलत्वेन भगवतः सर्वसंसारार्तिहरत्वं[2] सूच्यते[3]॥

जय मूर्तत्रिशक्त्यात्मशितशूलोल्लसत्कर।
जयेच्छामात्रसिद्धार्थपूजार्हचरणाम्बुज ॥ ४ ॥

मूर्त- शरीर-धारी
त्रि- =(इच्छा, ज्ञान और क्रिया—इन) तीन
शक्त्यात्म- =शक्तियों के रूप वाले
शित- तीक्ष्ण
शूल- =त्रिशूल से
उल्लसत्- =सुशोभित
कर =हाथ वाले (शूली)!
जय =आप की जय हो।
इच्छा-मात्र- इच्छा होते ही
सिद्धार्थ- =कामना को पूर्ण करने वाले
पूजा- =(और इसीलिए) पूजा के
अर्ह- =योग्य
चरण-अम्बुज =चरण-कमलों वाले (आशु-तोष)!
जय =आप की जय हो! ॥ ४ ॥

मूर्ताः तिस्रः—इच्छाज्ञानक्रियारूपाः शक्तयः, आत्मा यस्य, तथाभूतेन शितेन—संसारच्छेदकेन शूलेनोल्लसन् करः—पाणिर्यस्य। अनेन शक्तित्रयस्य भगवदेकाधीनत्वमुक्तम्। इच्छामात्रेण सिद्धोऽर्थः—प्रयोजनं याभ्यां सकाशात् तथाभूते, अत एव पूजार्हे प्राग्वच्चरणाम्बुजे यस्य॥ ४॥

जय शोभाशतस्यन्दिलोकोत्तरवपुर्धर।
जयैकजटिकाक्षीणगङ्गाकृत्यात्तभस्मक ॥ ५ ॥

शोभा-शत-स्यन्दि- =(प्रकाश, आह्लाद आदि की) सैकड़ों (किरनों की) छटा को छिटकाने वाले
लोकोत्तर- (तथा) अलौकिक
वपुः- =स्वरूप को
धर =धारण करने वाले (चित्स्वरूप)!
जय =आप की जय हो।
एक- =एक
जटिका- =छोटी सी जटा के बीच में,
क्षीण- =जो छोटा सा
गङ्गा- =गंगा का
आकृति- =आकार है, उसके रूप में
आत्त-भस्मक =भस्म से युक्त सिर वाले (जटाधर, गङ्गाधर, भस्मप्रिय)!
जय =आप की जय हो॥ ५ ॥

---

१ ग० पु० उत्प्रेक्षितमिति पाठः।
२ ख० पु० सर्वसंहारार्तिहरत्वमिति पाठः।
३ घ० पु० सूचितमिति पाठः।

शोभाः—प्रकाशाह्लादरुचयः वपुः—स्वरूपम् । अल्पैकजटा—एक-जटिका, तत्र क्षीणा येयं गङ्गाकृतिस्तदेव आत्तं भस्म येन, तथाभूतं कं शिरो यस्य । भगवतः शिरसि भस्मास्तीत्याम्नामविगीतमेव* ॥ ५ ॥

जय क्षीरोदपर्यस्तज्योत्स्नाच्छायानुलेपन ।
जयेश्वराङ्गसङ्गोत्थरत्नकान्ताहिमण्डन ॥ ६ ॥

क्षीरोद- = क्षीर-सागर पर
पर्यस्त- = बिखरी हुई
ज्योत्स्ना- = चन्द्रिका का
छाया- = प्रतिबिंब ही
अनुलेपन = (शुभ्र) अनुलेपन है जिस का, ऐसे (शुभ्रांशुधर) !
जय = आप की जय हो ।
ईश्वर- = (आप) ईश्वर के
अंग- = अंगों के
संग- = सम्पर्क से
उत्थ- = निकले (अर्थात् प्राप्त हुए)
***रत्न-** = रत्नों से
कान्त- = मनोहर बने हुए
अहि- = (शेष, वासुकि आदि) साँप ही
मण्डन = आभूषण हैं जिस के, ऐसे (नागधर) !
जय = आप की जय हो ॥ ६ ॥

क्षीरोदे पर्यस्ता—प्रसृता यासौ ज्योत्स्ना—चन्द्रकांतिः, तच्छायं शुभ्रमनुलेपनं यस्य । अङ्गसङ्गोत्थैः रत्नैः कान्ताः—हृद्याः, अहयः—शेषवासुकिप्रभृतयो यस्य । ईश्वराङ्गसङ्गाद्भुजङ्गमानां रत्नप्राप्तिरिति ह्यागमः ॥ ६ ॥

जयाक्षयैकशीतांशुकलासदृशसंश्रय ।
जय गङ्गासदारब्धविश्वैश्वर्याभिषेचन ॥ ७ ॥

---

१ ग० पु० अल्पजटा—इति पाठः ।

२ ख० पु० एव जटिका—इति पाठः ।

३ ख० पु० भस्मायमविगीतमेवेति पाठः ।

* बहुकृत्वः श्रुतं दृष्टमविगीतमुदाहृतमित्यधिकः पाठः ग० पु० ।

* शास्त्रों में कहा गया है कि भगवान् शंकर के शरीर के अङ्गों के साथ सम्पर्क होने पर वासुकि शेष आदि साँपों को रत्न प्राप्त हुये थे ।

४ ख० पु० येयमिति पाठः ।

५ ग० पु० ईश्वरसङ्गाद्भुजङ्गमानामिति पाठः ।

अक्षय- = सदा बनी रहने वाली (अमा नामक)
एक- = एक
शीतांशु-कला- = चन्द्र-कला के
सदृश- = योग्य (अर्थात् अविनाशी)
संश्रय = आश्रय, (शशिशेखर) !
जय = आप की जय हो ।
गंगा- = गंगा से
सदा- = सदा
आरब्ध- = किया जाता है,
विश्व- = जगत् के
ऐश्वर्य- = ऐश्वर्य (अर्थात् सर्वतोमुखी कल्याण) के लिए,
अभिषेचन = ऊपर से जल डाल कर स्नान जिस का, ऐसे (गंगेश) !
जय = आप की जय हो ॥ ७ ॥*

अक्षयायाः—अमा[1]नाम्न्याः एकस्याः शीतांशुकलायाः सदृशः—अनुरूपो भगवानेव संश्रयः, तस्याप्यक्षयैकरूपत्वात् । चन्द्रकलया हि भग[2]वतः एतत्परमार्थतैव सूच्यते । गङ्गया सदा आरब्धं विश्वैश्वर्ये[3]ऽभिषेचनं यस्य; तत्सूचिकैव ह्यसौ ॥ ७ ॥

जयाधराङ्गसंस्पर्शपावनीकृतगोकुल ।
जय भक्तिमदाबद्ध[4]गोष्ठीनियतसन्निधे ॥ ८ ॥

अधर-अङ्ग- = (अपने) निचले अंगों (अर्थात् चरणों) के
संस्पर्श- = स्पर्श से
पावनी- = पवित्र
कृत- = किया है
गो-कुल = बैलों की जाति (अर्थात् जगत् के सारे बैलों तथा गायों) को जिस ने, ऐसे (वृषभवाहन) !

* चन्द्रमा की सोलह कलायें होती हैं । कृष्ण-पक्ष के पन्द्रह दिनों में इसकी पन्द्रह कलाओं का क्षय होता है । इसकी सोलहवीं कला को अमा कला अर्थात् अमावस्या की कला कहते हैं । इसका क्षय कदापि नहीं होता । भगवान् चन्द्रचूड़ इसी अमा कला को अपने माथे पर धारण करते हैं । चन्द्रशेखर महादेव का स्वरूप भी अविनाशी है, अतः ये अमा कला के योग्य आश्रय कहे गये हैं ।

१ ख० ग० पु० अर्यमनाम्न्याः—इति पाठः ।
२ घ० पु० भगवत एव—इति पाठः ।
३ ग० पु० विश्वैश्वर्याभिषेचनं यस्य—इति पाठः ।
४ ख० पु० भक्तिमदारब्धेति पाठः ।

जय = आप की जय हो।
भक्तिमत्- = भक्त-जनों से
आबद्ध- = बंधी हुई
गोष्ठी- = मण्डली में
नियत- = नियत रूप से (अर्थात् सदा)
सन्निधे = उपस्थित होने वाले (भक्तवत्सल, आशुतोष)!
जय = आप की जय हो ॥ ८ ॥

अधराङ्गं—पादस्तत्स्पर्शेन पवित्रीकृतं गोकुलं येन भवता[1] वृषभवाह[2]-नेन। यतो वृषभः पद्भ्यां स्पृष्टस्ततः सर्वत्र गोजातेः पवित्रत्वमविगी-तम्। भक्तिमद्भिः आबद्धायां गोष्ठ्यां नियतः—अवश्यंभावी सन्निधिर्यस्य[3]॥

जय स्वेच्छातपोवेशविप्रलम्भितबालिश।
जय गौरीपरिष्वङ्गयोग्यसौभाग्यभाजन ॥ ९ ॥

स्व- = अपनी
इच्छा- = इच्छा से (अर्थात् अपने विनोद के लिए)
तपः- = की गयी तपस्या और
वेश- = (उसके अनुकूल जटा-आदि-मय) वेश से
विप्रलम्भित-बालिश = मूर्ख अर्थात् अज्ञानी लोगों को धोखा देने वाले (जटिल)!
जय = आप की जय हो।
गौरी- = (पराशक्ति रूपिणी) गौरी के
परिष्वङ्ग- = आलिंगन के
योग्य- = योग्य
सौभाग्य- = सौभाग्य के
भाजन = पात्र, (उमाकान्त, गौरीशङ्कर)!
जय* = आप की जय हो ॥ ९ ॥

---

१ ख० पु० भगवता—इति पाठः।

२ ख० ग० पु० वृषवाहनेन—इति पाठः।

३ घ० पु० यत्र—इति पाठः।

* [क] भगवान् के जटाधारी तपस्वी बनने की बात से अज्ञानी लोगों को यों धोखा मिलता है। कुछ लोग समझते हैं कि ब्रह्मा के पाँचवें सिर को काटने से होने वाले पाप का प्रायश्चित्त करने के लिये ही भगवान् शंकर तपस्वी बने। औरों का विचार है कि सिद्धि प्राप्त करने के लिये उन्होंने ऐसा वेश धारण किया। अन्य लोग कहते हैं कि यही तो महादेव का सच्चा अर्थात् असली रूप है। किन्तु ये सब बातें गलत हैं। चिदानन्दघन शिव के विषय में ऐसा नहीं कहा जा सकता। बात यह है कि भगवान्

स्वेच्छया—क्रीडारूपया[1] कृतेन[2] तपसा वेशेन च, विप्रलम्भिताः—भ्रामिताः[3] बालिशा येन। क्रीडामात्रेण भगवता जटादि विधृतं[4] यत् तन्मूर्खाः ब्रह्मे[5]रिरश्छेदेत्थकिल्बिषशुद्ध्यर्थमिति प्रतिपन्नाः[6], सिद्ध्यर्थ[7]मेतदित्यपरे, इदमेतद्भगवतः सत्यं रूपमिति परे। तच्चासत्[8]। भगवतः स्वतन्त्रचित्परमार्थस्यैवंरूपत्वानुपपत्तेः। गौरी—परा शक्तिः, तत्परिष्वङ्गयोग्यस्य[9] सौभाग्यस्य—सर्वस्पृहणीयत्वस्य भाजन ॥ ६ ॥

जय भक्तिरसार्द्रार्द्रभावोपायनलम्पट।
जय भक्तिमदोद्दामभक्तवाङ्नृत्ततोषित॥ १० ॥

भक्ति- = भक्ति के
रस- = रस से
आर्द्र-आर्द्र- = (सने हुए और इसीलिए) अत्यन्त सरस

अपने विनोद के लिये जब जैसा चाहते हैं, तब वैसा रूप धारण करते हैं। तभी तो उनका नाम 'बहुरूप' पड़ा है।

[ख] जब गौरी जी हिमालय पर अपने प्राणेश्वर, भगवान् शङ्कर के लिये तपस्या कर रही थीं, तो भगवान् जटाधारी ब्रह्मचारी के रूप में ही उनके पास गये और इस प्रकार क्षण भर के लिये अपनी अर्द्धांगिनी को भी धोखा दिया। किन्तु तुरन्त ही अपने वास्तविक स्वरूप में प्रकट होकर उनको रिझाया और उनकी तपस्या को सफल बनाया। तभी से उनका नाम 'जटिल' पड़ा है ॥ ९ ॥

१ ग० पु० क्रीडया—इति पाठः।
२ ग० पु० कृतेन उपमावेशेन च—इति पाठः।
३ ख० पु० त्रासिताः—इति पाठः।
४ ग० पु० विवृत्तम्—इति पाठः।
५ घ० पु० ब्रह्मादि—इति पाठः।
६ घ० पु० प्रपन्नाः इति पाठः।
७ ख० पु० सिद्ध्यर्थमित्यपरे—इति पाठः।
८ ख० पु० तन्न सत्—इति पाठः।
९ ख० पु० तत्परिष्वङ्गयोग्यसौभाग्यस्य—इति पाठः।

भाव- =(भक्त के) भावरूपी
उपायन- = उपहार को ग्रहण करने के लिए
लम्पट = लालायित बने रहने वाले (भक्तवत्सल)!
जय = आप की जय हो।
भक्ति- = भक्ति की
मद- = मस्ती से
उद्दाम- = मतवाले (अर्थात् मस्त) बने हुए
भक्त- = भक्तों के
वाक्- = वचनों
नृत्त- = और नृत्य से (अर्थात् गाते, बजाते और नाचते हुए उन से की गई अपनी स्तुतियों से)
तोषित = प्रसन्न होने वाले (नृत्य-प्रिय)!
जय = आप की जय हो ॥ १० ॥

भक्तिरसेन आर्द्रार्द्रः—सरसो गलितो यो भावः—आशयः, स एवोपायनं—ढौकनिका, तत्र लम्पट—[1]झटित्यात्मसात्कारिन्। भक्तिमदेनोद्दामाः—[2]ऊर्जिता ये भक्ताः, तदीयेन वाङ्नृत्तेन—स्फूर्जत्स्तुतिमालाभिस्तोषित ॥ १० ॥

जय ब्रह्मादिदेवेशप्रभावप्रभवव्यय।
जयलोकेश्वरश्रेणीशिरोविधृतशासन ॥ ११ ॥

ब्रह्मा- = ब्रह्मा,
आदि- = विष्णु आदि
देवेश- = देवदेवों (अर्थात् बड़े देवताओं) के
प्रभाव- = प्रभाव (अर्थात् जगत् की सृष्टि आदि करने की शक्ति) को
प्रभव- = उत्पन्न
व्यय = और नष्ट करने वाले, (देवाधिदेव)!
जय = आप की जय हो ॥ ११ ॥
लोकेश्वर- =(इन्द्र आदि दस) लोकपालों की
श्रेणी- = पंक्ति से (अर्थात् सब लोकपालों से)
शिरः- =(अपने) सिरों पर
विधृत- = धारण की जाती है
शासन = आज्ञा जिस की, ऐसे (परमेश्वर)!
जय = आप की जय हो ॥ ११ ॥

---

१ ख० पु० झटित्यात्मसाक्षात्कारिन्—इति पाठः।
२ घ० पु० गर्जिताः—इति पाठः।

ब्रह्मादिदेवेशानां[1] यः प्रभावः—सृष्टयादिसामर्थ्यं, तस्य प्रभवव्ययौ—उत्पादनाशौ यतः। लोकेश्वरश्रेण्या—इन्द्रादिदशलोकपालमालया, शिरोभिः[2]—मुकुटैर्विधृतं[3] शासनम्—आज्ञा यस्य; परमेश्वराज्ञानुवर्तिभिरिन्द्रादिभिर्दीक्षादौ स्थीयते—इति शतशः आगमोक्तयः सन्ति ॥ ११ ॥

जय सर्वजगन्न्यस्तस्वमुद्राव्यक्तवैभव।
जयात्मदानपर्यन्तविश्वेश्वर महेश्वर ॥ १२ ॥

सर्व- = सारे
जगत्- = जगत् में (अर्थात् जगत् की सारी वस्तुओं पर)
न्यस्त- = डाली हुई
स्वमुद्रा- = अपनी (स्वरूप-प्रकाशनात्मक) छाप से
व्यक्त- = प्रकट है
वैभव = वैभव (अर्थात् विश्वव्यापी प्रभुत्व) जिसका, ऐसे (सर्वव्यापक ईश्वर)!
जय = आप की जय हो।
आत्म- = (अपने भक्तों को) अपनी आत्मा का
दानपर्यन्त- = दान तक करने से
विश्व- = जगत् के
ईश्वर = ईश्वर!
महेश्वर = तथा महान् ऐश्वर्य से युक्त, (जगत्प्रभु महेश्वर)!
जय = आप की जय हो ॥ १२ ॥

सर्वत्र जगति न्यस्तया स्वमुद्रया—आनन्दसारज्ञानक्रियाशक्तिव्याप्तिमय्या पञ्चवक्त्ररूपया[5] व्यक्तं वैभवं—व्यापकत्वं प्रभुत्वं[6] च यस्य। यदागमः—

'न चक्राङ्का न वज्राङ्का दृश्यन्ते जन्तवः क्वचित्।
भगलिङ्गाङ्कितं विश्वं तेन माहेश्वरं जगत् ॥'

इति। आस्तां तावद्ब्रह्मादीनां विभूत्यादिदानं त्वत्तः। सर्वस्य त्वमा-

१ ख० ग० पु० ब्रह्मादिदेवानाम्—इति पाठः।
२ ग० पु० शिरसा—इति पाठः।
३ ग० पु० विधृतम्—इत्येव पाठः।
४ ख० पु० परमेश—इति पाठः।
५ ख० पु० अवष्टम्भरूपया—इति पाठः।
६ ख० ग० पु० विभुत्वम्—इति पाठः।

त्मानं—सत्तामपि ददासि; प्रकाशमयत्वत्स्वरूपं[1] विना नीरूपत्वापत्तेः—इत्यात्मदानपर्यन्तं[2] कृत्वा विश्वेश्वर। अत एवान्यस्यैवंरूपत्वाभावात् त्वं महेश्वरः[3] ॥ १२ ॥

जय त्रैलोक्यसर्गेच्छावसरासद्द्वितीयक।
जयैश्वर्यभरोद्वाहदेवीमात्रसहायक ॥ १३ ॥

त्रैलोक्य- = तीनों लोकों को
सर्ग- = (एक साथ) उत्पन्न करने की
इच्छा- = इच्छा के
अवसर- = समय
असत्- = नहीं होता है
द्वितीयक = दूसरा (अर्थात् साथी या सहायक) जिसका, ऐसे (सर्वशक्तिमान्)!
जय = आप की जय हो।
ऐश्वर्य- = ऐश्वर्य का
भर- = भार (अर्थात् सारे जगत् का स्वामी होने का भार)
उद्वाह- = धारण करने में
देवीमात्र- = केवल दुर्गा (अर्थात् परा-शक्ति) ही
सहायक = सहायक है जिसकी, ऐसे (गौरीशङ्कर)!
जय = आप की जय हो ॥ १३ ॥

त्रैलोक्यसर्गेच्छावसरे[4] असन् द्वितीयः—उपादानसहकार्यात्मा अपेक्षणीयो यस्य। द्वितीयश्चेन्नास्ति कथं शक्तिः शक्तिमांश्चेत्युद्घोष्यते? इत्याह ऐश्वर्यभरोद्वाहे—

'स्वेच्छावभासिताशेषलोकयात्रात्मने नमः।'

इति नयेन देवीमात्रं निजसामर्थ्यात्मा पराशक्तिरेव सहायो यस्य। ऐश्वर्यं—पञ्चविधकृत्यकारित्वम् ॥ १३ ॥

जयाक्रमसमाक्रान्तसमस्तभुवनत्रय।
जयाविगीतमाबालगीयमानेश्वरध्वने ॥ १४ ॥

---

१ ग० पु० स्वप्रकाशमय—इति पाठः।

२ घ० पु० इत्यात्मानं पर्यन्तं कृत्वा—इति पाठः।

३ ख० पु० महानीश्वरः—इति पाठः।

४ ख० पु० त्रैलोक्यसर्गावसरे—इति पाठः।

अक्रम- = क्रम से नहीं (अर्थात् एक-एक करके नहीं, बल्कि एक साथ ही अर्थात् एक ही क्षण में)
समाक्रान्त- = पूर्णरूप में व्याप्त किया है
समस्त- = सम्पूर्ण
भुवनत्रय = त्रिभुवन (अर्थात् तीनों लोकों) को जिसने, ऐसे (सर्वात्मा)!
जय = आप की जय हो।
अविगीतम्- = निर्विवाद रूप से
आबाल- = मूर्खों अर्थात् अज्ञानियों तक से भी (अर्थात् केवल ज्ञानियों से ही नहीं, बल्कि अज्ञानियों से भी)
गीयमान- = सदा गाया जाता है
ईश्वर- = 'ईश्वर' नामक
ध्वने = शब्द (अर्थात् नादामर्श) जिस का, ऐसे (सर्वाशय प्रभु)!
जय* = आप की जय हो ॥ १४ ॥

सकृद्विभा[1]त्वाद्युगपत्सहसा सम्यगाक्रान्तं—व्याप्तं समस्तं निरवशेषं प्राग्वद्भुवनत्रयं येन। विष्णुना क्रमा[2]भ्यां भूर्भुवःस्वराक्रान्तमधिष्ठितं, भगवता त्वक्रममेव भ[3]वाभवातिभवरूपं भुवनत्रयं व्याप्तम्—इति व्यतिरेकध्वनिः। अविगीतम्—अविप्रतिपत्ति कृत्वा आबालं गीयमान ईश्वर इति ध्वनिः—नादामर्शो यस्य ॥ १४ ॥

जयानुकम्पादिगुणानपेक्षसहजोन्नते।
जय भीष्ममहामृत्युघटनापूर्वभैरव ॥ १५ ॥

---

* भावार्थ—हे भगवान्! वामन-अवतार-धारी विष्णु ने क्रम से अर्थात् एक-एक करके तीनों लोकों को व्याप्त किया, अर्थात् पहले कदम से पृथ्वी को, दूसरे से देवलोक को और उसके बाद तीसरे से पाताल को माप डाला अर्थात् व्याप्त किया। आपने तो एक साथ ही अर्थात् एक ही क्षण में भव (जाग्रत-सम्बन्धी), अभव (स्वप्न-सम्बन्धी) और अतिभव (सुषुप्ति-सम्बन्धी) तीन लोकों को अर्थात् समस्त संसार-मण्डल को अपने चिदानन्दमय स्वरूप से व्याप्त किया है। तभी तो आपका नाम 'सर्वात्मा' सार्थक है ॥ १४ ॥

१ ख० पु० साक्षाद्विभातत्वात्—इति पाठः।
२ घ० पु० क्रमेण—इति पाठः।
३ घ० पु० भवाभवातिभवत्रयम्—इति पाठः।

अनुकम्पा- = दया
आदि- = आदि
गुण- = गुणों की
अनपेक्ष- = अपेक्षा न करने वाली (अर्थात् गुणों पर आश्रित न होने वाली)
सहज- = (और इसीलिए) स्वाभाविक
उन्नते = महिमा है जिस की, ऐसे (महाप्रभु)!
जय = आप की जय हो।
भीष्म- = भयंकर (अर्थात् समूचे जगत् को भयभीत कराने वाले)
महामृत्यु- = महाकाल का भी
घटन- = संहार करने के लिए
अपूर्व-भैरव=अलौकिक भैरव, (अर्थात डरावने यमराज के लिए भी डरावने मृत्युञ्जय)!
जय* = आप की जय हो॥ १५॥

अनुकम्पादिगुणानपेक्षा सहजा—स्वाभाविकी अविच्छिन्ना उन्नतिः—माहात्म्यं यस्य। अन्येषां तु—

'यो हि यस्माद्गुणोत्कृष्टः स तस्मादूर्ध्वमुच्यते।' मा० वि० तं०, अ० २, श्लो० ६०॥

इत्याम्नायस्थित्या अपूर्वैवोन्नतिः। भीष्मस्य—सकलजगत्कम्पकारिणो महामृत्योः घटने—स्वरूपचलनात्मनि ग्रसने अपूर्वोऽपि भैरवः—भीषणीयस्यापि भीषणीयः, भीरूणामयम्—इति तद्धितेन मृत्युभीतानां हृदि स्फुरन्नभयप्रदश्च॥ १५॥

जय विश्वक्षयोच्चण्डक्रियानिष्परिपन्थिक।
जय श्रेयःशतगुणानुगनामानुकीर्तन॥ १६॥

विश्व- = जगत् के
क्षय- = नाश का
उच्चण्ड- = भयंकर
क्रिया- = कार्य करने में
निष्परिपन्थिक=निष्कंटक (विश्वहर्ता)!
जय = आप की जय हो।
श्रेयः-शत-गुण- = सैकड़ों कल्याण-कारक उतम गुण
अनुग- = जिसके पीछे-पीछे चलते हैं,
नाम- = ऐसा जिस के नाम का

---

* भावार्थ—हे कालभक्ष! महाकाल भी आप से डरता है, क्योंकि आप उसका भी नाश करते हैं। आपके भक्तों को आप से अभयदान मिलता है, अतः उन्हें मृत्यु का डर नहीं हो सकता॥ १५॥

अनुकीर्तन = कीर्तन है (अर्थात् जिस के नाम का कीर्तन करने वाला भक्त सर्वगुण-सम्पन्न हो जाता है) ऐसे (विश्वबन्धु) !
जय = आप की जय हो ॥ १६ ॥

विश्वक्षये—संहारे उच्चण्डायां क्रियायां निर्गतः परिपन्थिकः—निरोद्धा[1] यस्य । श्रेयांसः शतंगुणा[2] अनुगाः—पश्चाद्धावन्तो[3] यस्य, तथाभूतं[4] नामानुकीर्तनं यस्य ॥ १६ ॥

जय हेलावितीर्णैतदमृताकरसागर ।
जय विश्वक्षयाक्षेपिक्षणकोपाशुशुक्षणे ॥ १७ ॥

हेला- = सहज में ही
वितीर्ण- = (उपमन्यु भक्त को) प्रदान किया है
एतत्- = यह
अमृत-आकर- = अमृत की खान, (अर्थात् अमृत से भरा हुआ)
सागर = क्षीर-सागर जिसने, ऐसे (भूतभावन) !
जय = आप की जय हो ।
विश्व- = समस्त संसार का
क्षय- = नाश करने की
आक्षेपि- = शक्ति वाला है
क्षण- = क्षण भर का
आशुशुक्षणे = क्रोधाग्नि जिसका, ऐसे (भीम विरूपाक्ष-नाथ) !
जय = आप की जय हो ॥ १७ ॥

हेलया वितीर्णो भक्तेभ्यो दत्तः एतदिति—एष श्रेयःशतगुणानुगः अमृताकरसागरो येन, उपमन्यवे च क्षीरोदो वितीर्णः येन । विश्वक्षयाक्षेपी[5] क्षणकोपाशुशुक्षणिः—क्षणिकोऽपि कोपाग्निर्यस्य ॥ १७ ॥

जय मोहान्धकारान्धजीवलोकैकदीपक ।
जय प्रसुप्तजगतीजागरूकाधिपूरुष ॥ १८ ॥

---

१ ख० पु० विरोधा—इति पाठः ।
२ ख० पु० शतं गुणाः—इति पाठः ।
३ ख० पु० पश्चाद्भाविनः—इति पाठः,
ग० पु० पश्चाद्धाविनः—इति पाठः ।
४ घ० पु० तथाविधम्—इति पाठः ।
५ ख० पु० विश्वक्षयाक्षेपि—इति पाठः ।

मोह- = अज्ञानरूपी
अन्धकार- = अन्धकार से
अन्ध- = अन्धे (अर्थात् अभेददृष्टि-हीन) बने हुये
जीवलोक- = प्राणि-जगत् (अर्थात् इस संसार के लोगों) को
एक- = (ज्ञान-प्रकाश देने के लिये) अद्वितीय
दीपक = (परमार्थ-प्रकाशक) दीपक, (जगद्गुरु) !
जय = आपकी जय हो ।
प्रसुप्त- = (माया के प्रभाव से अज्ञान की) गहरी नींद में पड़े
जगती- = इस संसार में
जागरूक- = (सदा) जागरूक, जागने वाले (अर्थात् सदा प्रबुद्ध),
अधिपूरुष = अधिष्ठातृ-स्वरूप महापुरुष !
जय = आप की जय हो ॥ १८ ॥

मोहान्धकारेण—अख्यातितिमिरेण अन्धः—उपसंहृताभेददृष्टिर्यो जीवलोकस्तस्यैकः—अद्वितीयो दीपः—परमार्थप्रकाशकः । प्रकर्षेण सुप्तायां—मायाप्रस्वापजडीकृतायां जगत्यां विश्वत्र जागरूकः—नित्यप्रबुद्धोऽत एव अधिपूरुषः—अधिष्ठातृस्वरूपः ॥ १८ ॥

जय देहाद्रिकुञ्जान्तर्निकूजज्जीवजीवक ।
जय सन्मानसव्योमविलासिवरसारस ॥ १९ ॥

देह- = शरीर रूपी
अद्रि- = पर्वत के
कुञ्ज- = कुञ्ज अर्थात् गुफा के
अन्तर्- = बीच में से
निकूजत्- = बोलने वाले
*__जीव-__ = जीवों के
जीवक = जीवनदाता अर्थात् जीवात्मा रूपी मधुर कूजन करने वाले चकोर !
जय = आपकी जय हो ।
सत्- = सत्पुरुषों अर्थात् भक्तों के
मानसव्योम- = चित्तरूपी आकाश में
विलासि- = आनन्द-पूर्वक विहार करने वाले
+**वर-** = सर्वश्रेष्ठ
सारस = (परमात्मा रूपी) राजहंस !
जय = आपकी जय हो ॥ १९ ॥

---

* जीव-जीवक = १ जीवों को जीवन देने वाला जीवात्मा ।
२ चकोर नाम का पक्षी ।

+ वरसारस = उत्तम हंस अर्थात् राजहंस ।

देह एव जडत्वादद्रिकुञ्जं[1]—पर्वतदरीगृहं तत्र निकूजतः—उत्क्रन्दतो[2] जीवान्—प्राणिनो जीवयति; जीवतां लम्भयति यः। पर्वतगुहायां च निकूजन्तो जीवजीवाख्याः पक्षिणो भवन्ति—इत्यनुरणनशक्त्याक्षिप्तोऽर्थोऽपि। अपि च सतां—भक्तानां मानसं—चित्तमेव निर्मलत्वादिधर्मत्वाद्व्योम, तत्र विलसति[3] तच्छीलः, वरसारसः—परमात्मा राजहंसश्च[4], मानसे सरसि शोभमानो व्योमचारी च भवति ॥ १९ ॥

जय जाम्बूनदोदग्रधातूद्भवगिरीश्वर ।
जय पापिषु निन्दोल्कापातनोत्पातचन्द्रमः[5] ॥२०॥

जाम्बूनद- = सोने से
उदग्र- = भरपूर
धातु- = (तथा अन्य) धातुओं के
उद्भव- = उत्पत्ति-स्थान
गिरीश्वर = गिरि-राज, सुमेरु पर्वत के स्वामी, (सुमेरु, मेरु-धामा, गिरीन्द्र)!
जय = आपकी जय हो।
पापिषु = पापी लोगों पर
निन्दा- = (आपकी) निन्दा रूपिणी
उल्का- = उल्का के
पातन- = गिरने पर
उत्पात-चन्द्रमः = (उनके लिये) उत्पात-चन्द्रमा अर्थात् अशुभ-सूचक चन्द्रमा (इन्दु-शेखर)!
***जय** = आपकी जय हो ॥ २० ॥

---

१ ख० पु० जडत्वादेरद्रिकुञ्जम्—इति पाठः।

२ ग० पु० क्रन्दतो—इति पाठः।

३ ग० पु० विलसन्—इति पाठः।

४ ख० पु० परमात्मराजहंसश्च—इति पाठः।

५ ख० पु० चन्द्रमाः—इति पाठः।

* (क) [उत्तरार्ध-भावार्थ]—हे चन्द्रमौलि! आप चन्द्रमा की तरह स्वभाव से ही आनन्द-स्वरूप अर्थात् सबको आह्लादित करने वाले हैं। किन्तु जब कोई अज्ञान से प्रेरित होकर आपकी निन्दा करने लगता है, तो उसके लिये आप अशुभ-सूचक अर्थात आपत्ति का कारण बनते हैं। (ख) 'सुमेरु' शिव जी का नाम है। इसके अतिरिक्त एक बहुत बड़े पर्वत का नाम है। इसे गिरि-राज अर्थात् पर्वतों का राजा कहते हैं। यह सोने का कहा गया है। श्रीमद्भागवत में इसका सविस्तर वर्णन दिया गया है।

जाम्बूनदं—कनकं, तेन उदग्रः—ऊर्जितो धातूद्भवश्च रसधातुसम्भूतो गिरीश्वरो मेरुर्यस्य। तथा चावधूतः—

'येनामलस्फुरिता······।'

इत्यादि। पापिषु—अतिविलयशक्तिगोचरेषु निन्दैव विषमदशाहेतुत्वादुल्का—विद्युत्, तत्पातने उत्पातचन्द्रमा इव—अशुभसूचक इन्दुरिव। भगवद्विलयशक्तिपातेन हि पापिष्ठा भगवन्तं निन्दन्ति। इन्दुरूपेण नित्यमाह्लादहेतुत्वं सूच्यते ॥ २० ॥

जय कष्टतपःक्लिष्टमुनिदेवदुरासद ।
जय सर्वदशारूढभक्तिमल्लोकलोकित ॥ २१ ॥

कष्ट- = कठिन (अर्थात् कष्ट-पूर्ण)
तपः- = तपस्या से
क्लिष्ट- = दुःखी बने
मुनि- = मुनियों
देव- = तथा देवताओं के लिये
दुरासद = दुष्प्राप्य (अमायीय प्रभु)!
जय = आपकी जय हो।
सर्व- = (जीवन की) सभी
दशा- = दशाओं में
आरूढ- = स्थिरता से
भक्तिमत्- = (आपकी) भक्ति करने वाले
लोक- = लोगों से
लोकित = देखे गये (अर्थात् अपने भक्तों को दर्शन देने वाले भक्त-वत्सल)!
जय = आपकी जय हो ॥ २१ ॥

कष्टतपःक्लिष्टत्वादेवागस्त्यब्रह्मादिभिर्दुःखेन आसाद्यते। उक्तं हि प्राक्—

'न योगो न तपो नार्चा······।' शि० स्तो०, स्तो० १, श्लो० १८ ॥

इत्यादि[3]। भक्तिरेकैव[4] तत्रोपायः,—इत्याह सर्वासु—जाग्रदादिदशासु आरूढेन प्राग्व्याख्यातेन भक्तिमल्लोकेन लोकितं[5]—साक्षात्कृत[6] ॥ २१ ॥

१ ख० पु० अतिशय—इति पाठः।

२ ख० पु० पापिनः—इति पाठः।

३ घ० पु० इति—इति पाठः।

४ ख० पु० भक्तिरेव—इति पाठः,
ग० पु० भक्तिरेव केवला—इति च पाठः।

५ ग० पु० लोकितः—इति पाठः।

६ ग० पु० साक्षात्कृतः—इति पाठः।

जय स्वसम्पत्प्रसरपात्रीकृतनिजाश्रित ।
जय प्रपन्नजनतालालनैकप्रयोजन ॥ २२ ॥

जय = आपकी जय हो।
स्व- = (परमानन्दरूपी) अपनी
संपत्- = संपत्ति के
प्रसर- = प्रसर अर्थात् फैलाव (विकास) का
पात्रीकृत- = पात्र बनाया है
निज- = अपने
आश्रित = भक्तों को जिसने, (अर्थात् जो अपने भक्तों को परमानन्द का आस्वादन कराता है), ऐसे (भक्त-भावन) !

जय = आपकी जय हो।
प्रपन्न- = (अपनी) शरण में आये हुए
जनता- = लोगों के प्रति
लालन- = अत्यन्त स्नेह का भाव रखना (ही)
एक- = एकमात्र
प्रयोजन = प्रयोजन (अर्थात् उद्देश) है जिसका, ऐसे (शरण्य) !
जय = आपकी जय हो ॥ २२ ॥

परमानन्दसारे स्वसंपत्प्रसरे[1] पात्रीकृतः—तदास्वादनभाजनतां[2] प्रापितः निजाश्रितः—भक्तजनो येन । लालनं—
'तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं[3] वहाम्यहम्[4]' । भ० गी०, अ० ९, श्लो० २२ ॥
इति स्थित्या योगक्षेमोद्वहः ॥ २२ ॥

जय सर्गस्थितिध्वंसकारणैकावदानक[5] ।
जय भक्तिमदालोललीलोत्पलमहोत्सव ॥ २३ ॥

सर्ग- = (संसार की) उत्पत्ति,
स्थिति- = स्थिति
ध्वंस- = और संहार
कारण- = करना ही

एक- = एक
अवदानक = उज्ज्वल तथा उत्कृष्ट कार्य है जिसका, ऐसे (विश्वनाथ, विश्वात्मा) !

१ घ० पु० स्वसंवित्प्रसरे—इति पाठः ।
२ घ० पु० तदास्वादभाजनताम्—इति पाठः ।
३ क० पु० योगक्षेमौ—इति पाठः ।
४ क० पु० ददाम्यहम्—इति पाठः ।
५ ग० पु० अपदानक—इति पाठः ।

जय = आपकी जय हो।
भक्ति- =(समावेश रूपिणी) भक्ति की
मद्- = मस्ती से
आलोल- = स्पृहणीय
लीला- = व्यवहार है जिसका,
उत्पल- = ऐसे उत्पल देव के
महोत्सव = महान् उत्सव (चिदानन्दघन प्रभु)!
जय = आपकी जय हो ॥ २३ ॥

सृष्ट्यादिकारणं[1]

'सदा सृष्टिविनोदाय......।' शि० स्तो०, स्तो० २०, श्लो० ९ ॥

इति न्यायेन एकमेव अवदानम्[2]—उत्तमं चरितं यस्य। भक्तिमदेन—समावेशोद्रेकेण आलोला—स्पृहणीया व्याप्ता च लीला—परिस्पन्दो यस्य, तथाभूतस्य उत्पलस्य[3]—एतन्नाम्नः अस्मत्परमेष्ठिनो महोत्सवः[4]॥२३॥

जय जयभाजन जय जितजन्म-
जरामरण जय जगज्ज्येष्ठ।
जय जय जय जय जय जय जय
जय जय जय जय जय जय त्र्यक्ष ॥ २४ ॥

जय-भाजन = (चिद्रूपता के कारण) जय-जयकार के (सर्व-श्रेष्ठ) पात्र, (सर्वेश्वर)!
जय = आपकी जय हो।
जित-जन्म-जरा-मरण = जन्म, बुढ़ापा तथा मृत्यु को जीतनेवाले, (मृत्युञ्जय)!
जय = आपकी जय हो।
जगत् = (अनादि होने के कारण जगत) में
ज्येष्ठ = सबसे बड़े (अर्थात् सर्वश्रेष्ठ प्रभु)!
जय = आप की जय हो!
जय = आप की जय हो।
जय = आप की जय हो।
जय = आप की जय हो।
जय = आप की जय हो।
जय = आप की जय हो।
जय = आप की जय हो!
जय = आप की जय हो।

---

१ ख० पु० करणम्—इति पाठः।
२ ग० पु० अपदानम्—इति पाठः।
३ ख० पु० उत्पलस्येति—इति पाठः।
४ घ० पु० महोत्सवरूपः—इति पाठः।

जय = आप की जय हो।
जय = आप की जय हो!
जय = आप की जय हो।
जय = आप की जय हो।
जय = आप की जय हो।
त्र्यक्ष=हे त्रिनेत्रधारी (विरूपाक्षनाथ)!
जय = आपकी जय हो ॥ २४ ॥

जयभाजनत्वं चिद्रूपत्वेन सर्वोत्तमत्वात्। स्वात्मनः चिद्रूपस्येश्वरस्य वस्तुतः सर्वोत्कर्षवृत्तेरपि स्वातन्त्र्येण विषयव्यग्रतावस्थायां गूहितात्मत्वात् पराङ्मुखस्येव सम्मुखीकरणात्मकप्रार्थनारूपो जयेति लोडर्थ इहाद्वयनय एवोचितः, इत्याशयेनाप्युक्तं जयभाजनेति। द्वयनये तु भेदमयत्वादेवेश्वरो न सर्वोत्कर्षेण वर्तते, ततो जय—इत्याशीर्व्यर्थैव, अथापि वर्तेत किं परकृतया प्रार्थनया। विध्यादिश्च लोडर्थ ईश्वरविषयेऽनुचित एव, इति भेदनये जयेत्युदीरणमनुपपन्नमेव। जितानि जन्मजरामरणानि यमाश्रित्येत्यर्थः। जगज्ज्येष्ठत्वमनादित्वात्। भूयो भूयो जय जयेत्युद्घोषणमुद्घोषयितुर्भक्तिरसावेशवैवश्यं सूचयति। त्र्यक्षेत्यामन्त्रणं निःसामान्योत्कर्षशालिताप्रकाशनायेति शिवम् ॥ २४ ॥

इति श्रीमदुत्पलदेवाचार्यविरचितस्तोत्रावल्यां जयस्तोत्रनाम्नि चतुर्दशे स्तोत्रे श्रीक्षेमराजाचार्यकृता विवृतिः ॥ १४ ॥



जयकाराख्येऽस्मिन्महायज्ञे शिवभक्तानुचरदासस्य ममाप्येका क्षुद्राहुतिरस्तु। सा चेयम्—

जय गौरीपते शम्भो भूतनाथ जगद्गुरो।
जय सर्वेश्वर शर्व जय त्र्यक्ष सदाशिव ॥

ॐ तत् सत्

अथ

भक्तिस्तोत्रनाम पञ्चदशं स्तोत्रम्

त्रिमलक्षालिनो ग्रन्थाः सन्ति तत्पारगास्तथा ।
योगिनः पण्डिताः स्वस्थास्त्वद्भक्ता एव तत्त्वतः ॥ १ ॥

(**शम्भो** = हे महादेव !)
***त्रि-मल-** = (आणव, मायीय और कार्म–इन) तीन मलों को
क्षालिनः = धो डालने वाले (अर्थात् दूर करने वाले)
ग्रन्थाः = (अद्वैत-शास्त्र सम्बन्धी) ग्रन्थ
तथा = और
तत् = उन (शास्त्रों) के
पारगाः = पारंगत,
योगिनः = योगी
पण्डिताः (च) = तथा ज्ञानी
(**बहवः** = इस संसार में तो बहुत)
सन्ति = मिलते हैं,
(**किन्तु** = किन्तु)
त्वद् = (समावेश का आनन्द उठाने वाले) आपके
भक्ताः = भक्त
एव = ही
तत्त्वतः = वास्तव में
स्वस्थाः = सुखी
(**सन्ति** = होते हैं) ॥ १ ॥

त्रीन्—आणवमायीयकार्ममलान् क्षालयन्ति ये ते ज्ञानक्रियायोगचर्योपादनरूपाः[1], ग्रन्थाः—पारमेश्वराः । तथा तत्पारगाः—तेषामाद्यन्तदर्शिनो व्याख्यात्रादयोऽपि सन्ति । सत्यतः पुनस्त्वद्भक्ता एव तत्पारगाः, यतस्त[2] एव तत्त्वतो योगिनः, पण्डिताः स्वस्थाश्च । तत्पारगाः तत्त्वतः इति चावृत्त्या योज्यम्[3] । तत्र

१ ग० पु० पदरूपाः—इति पाठः ।

२ ख० पु० ये ते—इति पाठः ।

३ ख० पु० योजनम्—इति पाठः ।

* आणव-मल वह मल है जिससे जीव को अपने स्वरूप में अपूर्णता का आभास होता है, मायीय-मल से उसे भिन्न-वेद्य-प्रथा होती है और कार्म-मल से उसको शुभ-वासना तथा अशुभ वासनाओं का प्रादुर्भाव होता है ।

'योगमेकत्वमिच्छन्ति...... ।' मा० वि० तं०, अ० ४, श्लो० ४ ॥
इति

'मय्यावेश्य मनो ये माम्...... ।' भ० गी०, अ० १२, श्लो० २ ॥
इति च स्थित्या योगिनो—नित्यसमावेशस्थाः[1]। प्रशंसायां नित्ययोगे चेनिः। अनेन योगपादरहस्यनिष्ठत्वमेषामुक्तम्। पण्डितत्वं विद्यापाद-क्रियापादसतत्त्वरूढिः। तत्र विद्यापादेन 'ज्ञायतेऽनेन'—इति व्युत्पत्त्या उपायात्मकं नरशक्तिशिवस्वरूपं[2] ज्ञानमेकं, 'ज्ञप्तिर्ज्ञानम्'—इति व्युत्पत्त्या उपेयात्मकं चिदानन्दघनस्वरूपविश्रान्तिसतत्त्वम्[3]—इति च द्वितीयमभिधीयते। क्रियापादेनापि वीर्यसारमन्त्रतन्त्रमुद्रातदितिकर्तव्यताद्युपायरूपा तदुपायक्रमावाप्तस्वात्मविमर्शसारा एव[4] क्रियाभिधीयते। तन्त्रमन्त्राणां[5] समस्तवाच्यवाचकाभेदामर्शसारपरमानन्दघनशब्दराशिसतत्त्वमहंविमर्श[6]-सारं परं वीर्यम्। एतदविभिन्नस्फुरतामयी[7] च महासामान्यस्पन्दरूपा प्रतिभात्मा विमर्शशक्तिः सृष्टिसंहारप्रधाना परापरं वीर्यम्। अपरं तु विश्लेषणादियुक्तिवशस्फुरिततत्तद्ध्येयदेवताकारा भेदप्रतिपत्तिः। मुद्राणां तु तत्संवित्सारतैव हृदयम्। कुण्डमण्डलेतिकर्तव्यतादेरपि परमेशज्ञान-क्रियाशक्तिव्याप्तिरेव तत्त्वम्। एवं विद्यापरमार्थसतत्त्वविश्रान्तिरेव[8] पाण्डित्यम्। स्वस्थत्वं तु चर्यापादाभिधेयोक्तम्। करणोन्मीलननिमीलनक्रमेणैव परमेश्वरवत् सन्ततसृष्टिसंहारादिकारि[9] स्वस्वरूपावस्थितत्वम्। एतच्च सर्वं त्वद्भक्तानामेव तत्त्वतोऽस्तीत्यलम् ॥ १ ॥

---

१ ख० पु० नित्यसमावेशयुक्ताः—इति पाठः।

२ ख० पु० परशक्ति—इति पाठः।

३ ख० पु० स्वरूपम्—इति पाठः।

४ घ० पु० च—इति पाठः।

५ ग० पु० तत्र—इति पाठः।

६ ख० पु० शब्दराशिसमुत्थम्—इति पाठः।

७ ख० पु० एतदभिन्न—इति पाठः।

८ ख० पु० विद्यापादक्रियापादार्थ—इति पाठः।
ग० पु० विद्यापाठार्थसतत्त्व—इति च पाठः

९ ख० पु० सततम्—इति पाठः।

मायीयकालनियतिरागाद्याहारतर्पिताः ।
चरन्ति सुखिनो नाथ भक्तिमन्तो जगत्तटे ॥ २ ॥

नाथ = हे प्रभु !
मायीय- = माया सम्बन्धी
काल- = काल,
नियति- = नियति
राग- = और राग
आदि- = आदि का
आहार = ग्रास करने से
तर्पिताः = तृप्त बने हुए
भक्तिमन्तः = (आपके) भक्त-जन
जगत्- = (इस) जगत (रूपी समुद्र) के
तटे = तट पर
सुखिनः = सुखी
(**सन्तः** = होकर)
****चरन्ति** = विहार करते हैं (अर्थात उनको अपूर्णता का सर्वथा अभाव होने से पूर्णता-मय-स्थिति प्राप्त होती है) ॥ २ ॥

कालादीनां पञ्चानां ग्रसनेन तर्पितत्वं तत्प्रातिपक्ष्येण[2] यद्[3]काल[4]-कलितव्यापकनिराकाङ्क्षसर्वकर्तृसर्वज्ञस्वस्वरूपप्राप्तिः । सुखिनः—आनन्द-घनास्तृप्ताश्च सुखसञ्चारिणो भवन्ति ॥ २ ॥

रुदन्तो वा हसन्तो वा त्वामुच्चैः प्रलपन्त्यमी ।
भक्ताः स्तुतिपदोच्चारोपचाराः पृथगेव ते ॥ ३ ॥

(**प्रभो** = हे स्वामी !)
अमी = वे
भक्ताः = (समावेश-शाली आपके) भक्त

---

१ ख० ग० पु० भवन्ति—इति पाठः ।

* भावार्थः—हे नाथ ! आप के भक्त-जन भवसागर के बीच में नहीं, इसके किनारे पर रहते हैं, इसमें डूबना तो दूर की बात है । माया के प्रभाव से दबे हुए जो लोग इसमें डूबते हैं, उनका तमाशा ये भक्त-जन किनारे पर से देख कर अपना जी बहलाते हैं ।

२ ख० पु० त्वत्प्रातिपक्ष्येण—इति पाठः ।

३ घ० पु० यदि—इति पाठः ।

४ ग० घ० पु० कालाकलित— इति पाठः ।

रुदन्तः वा = चाहे रोते हों
हसन्तः वा = अथवा हँसते हों
(अर्थात् दुःखी हों या सुखी हों, सभी अवस्थाओं में)
त्वाम् = आपको
उच्चैः = जोर से
प्रलपन्ति = पुकार कर प्रलाप करते हैं, (अर्थात् आपके स्वरूप का परामर्श करते हैं)।
स्तुति-पद-उच्चार- =(आपकी) स्तुति के गीत गा गाकर
उपचाराः = (आपकी) सेवा करने वाले
ते = ऐसे (भक्त-जन)
पृथक् एव = (लोगों से) भिन्न ही (अर्थात् निराले ही)
(**भवन्ति** = होते हैं) ॥ ३ ॥

अमी इति—समावेशशालिनो भक्ताः। रुदन्तो वा हसन्तो वा इति—सर्वावस्थावर्तिनोऽपि[1], त्वामुच्चैः—उत्कृष्टतया, प्रलपन्ति—स्फुटं विमृशन्ति। अमी एव सत्यतो भक्ताः। स्तुतिपदोच्चार एव उपचारः—सेवाप्रकारः—उपरञ्जनप्रकारो येषां, ते पृथगेव—जनेभ्यो[2] बाह्या एवेत्यर्थः ॥ ३ ॥

न विरक्तो न चापीशो मोक्षाकाङ्क्षी त्वदर्चकः।
भवेयमपि तूद्रिक्तभक्त्यासवरसोन्मदः ॥ ४ ॥

(**भगवन्** = हे स्वामी!)
(**अहं** = मैं)
न = न तो
विरक्तः, = (निवृत्ति-मार्ग में लगा हुआ) विरक्त,
न च = न ही
ईशः = (प्रवृत्ति-मार्ग में लगा हुआ) ऐश्वर्य-शाली
न अपि = और न ही
मोक्ष- = मुक्ति
आकांक्षी = चाहनेवाला
त्वद्- = आपका
अर्चकः = पूजक
भवेयम् = बनूँ,
अपितु = बल्कि (मैं)
उद्रिक्त- = अगाध
भक्ति- = भक्ति रूपिणी
आसव- = मदिरा के
रस- = रस से (अर्थात् समावेश के चमत्कार से)
उन्मदः = मतवाला ही
(**भवेयम्** = बना रहूँ) ॥ ४ ॥

१ ख० पु० सर्वावस्थावर्त्तिनः—इति पाठः।
२ ख० पु० भक्ताः, जनेभ्यो बाह्या एवेत्यर्थः—इति पाठः।
ग० घ० पु० भक्तजनेभ्यो बा···—इति च पाठः।

बिरक्तः—निवृत्तिधर्मा, ईशो वा—विभूतियुक्तः, प्रवृत्तिधर्मा, निजनिजेनौचित्येन त्वदर्चको मोक्षमाकाङ्क्षन्। न तु जीवन्मुक्तः न भवेयं—मा भूवमित्यर्थः। अपि तु उद्रिक्तेन—ऊर्जितेन भक्त्यासवरसेन—समावेशचमत्कृतिप्रकर्षेण उन्मदः—उद्भूतानन्दो भवेयम्॥ ४॥

बाह्यं हृदय एवान्तरभिहृत्यैव योऽर्चति।
त्वामीश भक्तिपीयूषरसपूरैर्नमामि तम्॥ ५॥

ईश = हे प्रभु !
यः = जो (आपका भक्त)
बाह्यं = बाहरी जगत (अर्थात् बाहरी वस्तुओं) को
हृदये अन्तर् = (अपने) हृदय में
एव = ही
अभिहृत्य = प्रत्याहृत करके
भक्ति- = (स्वरूप-समावेशात्मिका) भक्ति रूपी
पीयूष-रस- = अमृत-रस की
पूरैः = धाराओं से
त्वाम् = आप (चिद्रूप प्रभु) की
एव = ही
अर्चति = पूजा करता है,
तम् = उस
(भक्ति-शालिनम्) = भक्ति-शाली को
नमामि = मैं नमस्कार करता हूँ॥५॥

हृदय एव—प्रकाशपरामर्शात्मनि स्वरूप एव अन्तर्—मध्ये, बाह्यं—विश्वम् अभिहृत्य—समन्तात् स्वीकृत्यैव; न तु किञ्चिदवशेष्य। हे ईश—स्वामिन्! यस्त्वां, भक्तिरेव परमाह्लादविकासहेतुत्वात्पीयूषरसा-[3]सारास्तैः, अर्चति, तं भक्तिशालिनं नमामीति पूर्ववत्॥ ५॥

धर्माधर्मात्मनोरन्तः क्रिययोर्ज्ञानयोस्तथा।
सुखदुःखात्मनोर्भक्ताः किमप्यास्वादयन्त्यहो॥६॥

(जगत्पितः = हे जगदीश !)
अहो = ओह !
भक्ताः = (आपके) भक्त
धर्म-अधर्मात्मनोः = धर्म-अधर्म,
क्रिययोः = शुभ-अशुभ कार्यों,
ज्ञानयोः = ज्ञान-अज्ञान

१ ख० पु० अप्रवृत्तिधर्मा—इति पाठः।
२ ग० पु० विभूतियुक्तः सन्—इति पाठः।
३ ख० ग० पु० पीयूषपूराः—इति पाठः।

तथा = तथा
सुख-दुःखात्मनोः = सुख-दुःख (आदि द्वन्द्वों) के
अन्तः = बीच में
(स्थिताः अपि = रहते हुए भी)
किमपि = अलौकिक (परमानन्द की अवस्था) का
आस्वादयन्ति = आस्वादन अर्थात् अनुभव करते हैं ॥ ६ ॥

लोके शुभाशुभरूपतया प्रसिद्धत्वेन धर्माधर्मत्वं, न तु भक्तिमद्भिस्तथानुष्ठीयमानत्वात्। अन्तरिति—तन्मध्ये[1] स्थिता अपि, किमपीति—असामान्यपरमानन्दात्मकं[2] रूपम् ॥ ६ ॥

चराचरपितः स्वामिन् अप्यन्धा अपि कुष्ठिनः।
शोभन्ते परमुद्दामभवद्भक्तिविभूषणाः ॥ ७ ॥

चराचर-पितः = हे स्थावर-जंगम-मय जगत के पिता !
स्वामिन् = हे स्वामी !
अन्धाः = अन्धे
अपि = भी
कुष्ठिनः अपि = (तथा) कोढी भी (अर्थात् अत्यन्त निन्दित लोग भी)
उद्दाम-भवत्-भक्ति- = आपकी असीम भक्ति से
विभूषणाः = सुसज्जित
(सन्तः = होकर)
परम् = अत्यन्त
शोभन्ते=शोभायमान बन जाते हैं ॥७॥

अप्यन्धा अपि कुष्ठिन इति—लोके अत्यन्तं गर्हिता अपि,–इत्यर्थः ॥

शिलोञ्छपिच्छकशिपुविच्छायाङ्गा अपि प्रभो।
भवद्भक्तिमहोष्माणो राजराजमपीशते ॥ ८ ॥

प्रभो = हे प्रभु !
***शिलोञ्छ-** =शिलोञ्छ (अर्थात् फसल के कट जाने पर बचे-खुचे अनाज के दानों)

१ ग० पु० मध्ये स्थिता अपि—इति पाठः।
२ घ० पु० परमानन्दकरूपम्—इति पाठः।
* शिल-उञ्छ=फसल कट जाने पर खेत में गिरे पड़े अनाज के दाने चुन कर जीवन का निर्वाह करने की वृत्ति। अत्यन्त दरिद्रता अथवा तापसिक वृत्ति।

पिच्छ- =(तथा) पक्षियों के परों रूपी
कशिपु- = भोजन और वस्त्रों से
विच्छाय- = पीले पड़ जाते हैं
अङ्गाः = अंग जिनके, (अर्थात् अत्यन्त दुर्बल होते हैं शरीर जिनके), ऐसे (लोग)
अपि = भी
भवत्- = आपकी
भक्ति- = भक्ति (रूपिणी धन-संपत्ति) की
महा- = बड़ी
ऊष्माणः = गर्मी से सम्पन्न
(सन्तः = होकर)
राजराजम् = (देवताओं के कोषाध्यक्ष) कुबेर पर
अपि = भी
ईशते* = शासन करते हैं (अर्थात् ऐश्वर्य में कुबेर को भी मात करते हैं) ॥ ८ ॥

शिलोञ्छम्—उञ्छितं शिलं, पिच्छं—पक्षः, कशिपुः—भोजना[1]च्छादने शिलोञ्छपिच्छे एव कशिपुस्तेन विच्छायानि अङ्गानि येषां ते, एवमतिकृशवृत्तयोऽपि यतो भवद्भक्त्या महोष्माणः—अतिदीप्तोर्जितस्वरूपास्ततो राजराजं—वैश्रवणमपि, ईशते—ऐश्वर्येणाभिभवन्तीत्यर्थः ॥८॥

सुधार्द्रायां भवद्भक्तौ[2] लुठताप्यारुरुक्षुणा ।
चेतसैव विभोऽर्चन्ति केचित्त्वामभितः स्थिताः ॥ ९ ॥

विभो = हे व्यापक परमात्मा !
त्वाम् = आप में
अभितः = पूर्ण रूप में (अर्थात् भीतर से तथा बाहर से)
स्थिताः = लीन होनेवाले
केचित् = कुछ (योगी-जन)
सुधा = (परमानन्दरूपी) अमृत (के रस) से

पिच्छ = (१) पशु की पूंछ, (२) पक्षी का पर ।
कशिपु = भोजन तथा वस्त्र ।
विच्छाय = कान्ति-हीन, निस्तेज, पीला पड़ा हुआ ।

* भावार्थ—हे स्वामी ! जिन लोगों को खाने पीने तथा ढकने के लिए कुछ नहीं मिलता अर्थात् जो अत्यन्त दरिद्र होते हैं, वे आप की भक्ति रूपी धन को पा कर इतने ऐश्वर्य-शाली हो जाते हैं कि वे कुबेर के नौ निधियों अर्थात् खजानों को भी कुछ नहीं समझते ।

१ ख० ग० पु० भोजने आच्छादने—इति पाठः ।
२ घ० पु० भवद्भक्त्याम्—इति पाठः ।

आर्द्रायां = गीली अर्थात् सींची हुई
भवत्- = आपकी
भक्तौ = (समावेश रूपिणी) भक्ति में
लुठता = लुढ़कते हुए
अपि = भी
आरुरुक्षुणा = (स्वात्म-योग में) आरूढ बनने की इच्छा वाले
चेतसा एव = (अपने) मन से ही
(त्वाम् = आपकी)
अर्चन्ति = पूजा करते हैं ॥ ९ ॥

सुधा—परमानन्दरसः, आर्द्रा—सिक्ता, भक्तिः—समावेशः तत्र, लुठता—सम्यक् तत्पदानाक्रमणात्[1] स्थितिं जहता अपि, आरुरुक्षुणा—अकृतकावष्टम्भं जिघृक्षुणा, चेतसैव—न तु बाह्येन कुसुमादिना, केचिदिति—परमयोगिनः, त्वाम् अभितः स्थिताः—अन्तर्बहिश्च सर्वत्र त्वय्येव विश्रान्ताः ॥ ९ ॥

रक्षणीयं वर्धनीयं बहुमान्यमिदं प्रभो ।
संसारदुर्गतिहरं भवद्भक्तिमहाधनम् ॥ १० ॥

प्रभो = हे प्रभु !
भवत्-भक्ति- = आपकी (समावेशात्मिका) भक्ति का
महाधनम् = बड़ा धन
संसार- = संसार में होनेवाली
दुर्गति- = (भेद-प्रथात्मक) दुर्दशा को
हरम् = नष्ट करने वाला
(अस्ति = है,)
(अतः = अतः)
इदम् = यह
रक्षणीयम् = सुरक्षित रखने योग्य,
वर्धनीयम् = बढ़ाने योग्य
(च = और)
बहुमान्यम् = (सर्व-श्रेष्ठ होने के कारण) अत्यन्त आदरणीय
(अस्ति = है) ॥ १० ॥

रक्षणं—व्युत्थानेनानपहारः । वर्धनं—क्रमात्क्रममन्तरन्तरनुप्रवेशेन[2] स्फीततापादनम्[3] । बहुमानः—सर्वोत्कृष्टतया आदरः ॥ १० ॥

१ ख० पु० तत्पादानाक्रमात्—इति पाठः,
घ० पु० तत्तत्त्वदानाक्रमात्—इति च पाठः ।
२ घ० पु० अन्तरमनुप्रवेशे—इति पाठः ।
३ ग० पु० स्फीततापादानम्—इति पाठः ।

नाथ ते भक्तजनता यद्यपि त्वयि रागिणी।
तथापीर्ष्यां विहायास्यास्तुष्टास्तु स्वामिनी सदा ॥११॥

नाथ = हे स्वामी !
ते = आपकी
*__भक्तजनता__ = भक्त-जनता (रूपिणी स्त्री)
यद्यपि = यद्यपि
त्वयि = आपके प्रति
रागिणी = अनुरक्त
(**अस्ति** = है),
तथापि = तो भी
स्वामिनी = (परा-शक्ति रूपिणी) स्वामिनी अर्थात् पार्वती
ईर्ष्याम् = ईर्ष्या
विहाय = छोड़कर (अर्थात् इस भक्त-जनता को आपसे मिलने का अवकाश देकर)
अस्याः = इस पर
सदा = सदा
तुष्टा = प्रसन्न
अस्तु* = रहे ॥ ११ ॥

भक्तजनता रागिणी—नायिकेव। ईर्ष्यात्यागः—अवकाशदानम्। तुष्टा—विकसिता। स्वामिनी—पराशक्तिरिति प्रकृते। अप्रकृते तु स्वामिनी—महादेवी ॥ ११ ॥

भवद्भावः पुरो भावी प्राप्ते त्वद्भक्तिसम्भवे।
लब्धे दुग्धमहाकुम्भे हता दधनि गृध्नुता ॥ १२ ॥

(**प्रभो** = हे भगवान् !)
त्वद्- = आपकी
भक्ति- = (समावेश रूपिणी) भक्ति का
संभवे = संयोग
प्राप्ते = प्राप्त होने पर
भवत्- = आपके साथ
भावः = एकात्मता (अर्थात् आपके स्वरूप का लाभ)
पुरः-भावी = अवश्य होता है;
(**यथा** = जैसे)
दुग्ध- = दूध का
महा- = बड़ा

---

* शब्दार्थ—जनता = लोगों का समूह अर्थात् लोग। यह एक स्त्रीवाचक शब्द है।

* भावार्थ—हे प्रभु ! मेरी यही लालसा है कि मुझ जैसे जो लोग आप के अनन्य भक्त हैं, वे आप के शक्ति-पात रूपी अनुग्रह के पात्र बन जाएं।

कुम्भे = घड़ा
लब्धे (सति) = प्राप्त होने पर
दधनि = दही की
गृध्नुता = इच्छा
हता = नहीं रहती ॥ १२ ॥

त्वद्भक्तिसम्भवे[1]—त्वत्समावेशे भवद्भावः पुरो भावी त्वद्रूपता समासन्नैव; न तु प्रार्थनीया। यतो महति क्षीरघटे प्राप्ते दध्नि या गृध्नुता—अभिलाषुकता सा हता—व्यर्थैव; दुग्धेनैव दध्नोर्गर्भीकारात्[2] ॥ १२ ॥

किमियं न सिद्धिरतुला
किं वा मुख्यं न सौख्यमास्रवति ।
भक्तिरुपचीयमाना
येयं[3] शम्भोः सदातनी भवति ॥ १३ ॥

शम्भोः = महादेवजी की
इयम् = यह
भक्तिः = (समावेश रूपिणी) भक्ति,
या = जो
उपचीयमाना (सती)=बढ़ायी जाने पर (अर्थात् चरमसीमा पर पहुँचायी जाने पर)
सदातनी = सदा रहनेवाली
भवति = बन जाती है,
किम् = क्या
इयम् = यह (भक्ति)
अतुला = अनुपम
सिद्धिः = (स्वरूप-लाभात्मिका) सिद्धि
न (अस्ति) = नहीं है ? (अर्थात् अवश्य है),
वा = और
किम् (इयम्) = क्या यह
मुख्यं सौख्यम् = (परमानन्दरूपी) सर्व-श्रेष्ठ सुख (की धारा) को
न आस्रवति = पूर्णरूप में नहीं बहाती ? (अर्थात् अवश्य ऐसा करती है) ॥ १३ ॥

शम्भोर्भक्तिरुपचीयमाना—परां धारां प्राप्यमाणा येयं सदातनी भवति—परांभक्तिरूपतामासादयति[4] । किं नेयमतुला सिद्धिः ? अपितु

१ ख० पु० भक्तिसंभवे—इति पाठः ।

२ घ० पु० दध्नो गर्भीकारात्—इति पाठः ।

३ ख० पु० चेयम्—इति पाठः ।

४ ख० पु० पराशक्तिरूपताम्—इति पाठः ।

अतुलैव—परैव सिद्धिः[1]। मुख्यं सौख्यं—परमानन्दं[2] वा किं न आ—समन्तात् स्रवति ? स्रवत्येवेत्यर्थः ॥ १३ ॥

मनसि मलिने मदीये
मग्ना त्वद्भक्तिमणिलता कष्टम् ।
न निजानपि तनुते तान्
अपौरुषेयान्स्वसम्पदुल्लासान्[3] ॥ १४ ॥

(प्रभो = हे ईश्वर !)
कष्टं = ओह !
त्वद्- = आपकी
भक्ति- = (समावेशात्मिका) भक्ति रूपिणी
मणि-लता = रत्न-लता
मदीये = मेरे
मलिने = मलिन (अर्थात् व्युत्थान की मैल से युक्त)
मनसि = मन में
मग्ना (सती) = डूब कर (अर्थात् व्युत्थान से ढक कर)
निजान् = अपनी (अर्थात् स्वाभाविक),
तान् = उन (अर्थात् समावेश में देखी गई),
अपौरुषेयान् = अलौकिक परमानन्द-मय
स्व-सम्पद्- = अपनी संपत्ति की
उल्लासान् = झलकों को
अपि = भी
न तनुते* = नहीं दिखाती ॥ १४ ॥

मलिने—व्युत्थानकलङ्किते मग्ना—व्युत्थानाच्छादिता त्वद्भक्तिरेव मणिलता—सर्वसिद्धिप्रसूः रत्नशाखा, निजान्—सहजान् तानिति—

---

१ ग० पु० भक्तिः—इति पाठः ।

२ ख० पु० परानन्दम्—इति पाठः ।

३ ख० पु० स्वसंविदुल्लेखान्—इति पाठः ।

* भावार्थ—हे प्रभु ! आप की भक्ति एक रत्न-लता है । यह समावेश में मुझे परमानन्द का अनुभव तो कराती है, पर व्युत्थान में उसकी झलक भी नहीं दिखाती । यह बड़े दुःख की बात है । क्या अच्छा होता यदि यह व्युत्थान में भी मुझे परमानन्द-मग्न करती ॥ १४ ॥

समावेशेन स्फुरितान् अलौकिकान्, सर्वाकांक्षापरिहारिपरमानन्दमयान् न[1] तु मिताणिमादिरूपान्।

'किमियं[2] न सिद्धिरतुला'...... । स्तो० १५, श्लो० १३ ।

इतीदानीमेवोक्तत्वात् ॥ १४ ॥

भक्तिर्भगवति भवति
त्रिलोकनाथे ननूत्तमा सिद्धिः ।
किन्त्वणिमादिकविरहात्
सैव न पूर्णेति चिन्ता मे ॥ १५ ॥

(**भगवन्** = हे प्रभु !)
त्रिलोक- = तीनों लोकों के
नाथे = स्वामी,
भवति = आप
भगवति = प्रभु-देव की
भक्तिः = (समावेश रूपिणी) भक्ति
ननु = निश्चित रूप से
उत्तमा = एक उत्कृष्ट
सिद्धिः = सिद्धि
(**अस्ति** = है,)
किन्तु = किन्तु
अणिमा- = (अभेद-रूप) अणिमा
आदिक- आदि (आठ सिद्धियों) के
विरहात् = विना
सा एव = वही (अर्थात् ऐसी भक्ति)
पूर्णा = परिपूर्ण
न (अस्ति) = नहीं है,
इति = इसीलिए
मे = मुझे
चिन्ता = चिन्ता (है) ॥ १५ ॥

भगवति त्रिलोकस्य नाथे । नन्विति वितर्के । उत्तमा सिद्धिर्निराशंसत्वप्रथनात् । किन्तु—इति विशेषे । अणिमादीनां—स्वरूपप्रतिपत्तिसाराणां प्राक्प्रतिपादितानां विरहात्—अप्रथनात्, न पूर्णा—इति मे चिन्ता । अणिमादिविशिष्टां पूर्णां भक्तिसिद्धिं प्राप्स्यामीत्यर्थः ॥ १५ ॥

बाह्यतोऽन्तरपि चोत्कटोन्मिष-
त्त्र्यम्बकस्तवकसौरभाः शुभाः ।

---

१ घ० पु० न मिताणिमादिरूपान्—इति पाठः ।
२ ग० पु० किमिव—इति पाठः ।

वासयन्त्यपि विरुद्धवासनान्
योगिनो निकटवासिनोऽखिलान् ॥ १६ ॥

बाह्यतः = बाहर से
अन्तः अपि च = तथा भीतर से भी
उत्कट-उन्मिषत्-त्र्यम्बक-स्तवक-सौरभाः = प्रफुल्लित (अर्थात् अत्यन्त प्रसन्न) महादेव जी की स्तुति रूपी खिले हुए फूलों के गुच्छे की बड़ी तेज़ सुगंधि है प्राप्त जिनको, ऐसे
शुभाः = सौभाग्यशाली
योगिनः = योगी-जन
विरुद्ध- = बुरी
वासनान् = वासनाओं की दुर्गन्धि से युक्त
अखिलान् = सभी
निकट- = पास
वासिनः = रहने वाले (अर्थात् अपने संपर्क में आने वाले)
(**जनान्** = लोगों को)
अपि = भी
वासयन्ति* = सुवासित (अर्थात् सुगंधित) करते हैं ॥ १६ ॥

उत्कटम्—अतिदीप्तम् । उन्मिषतः—उल्लसतः त्र्यम्बकस्तवकस्य—शिवकुसुमगुच्छस्य संबन्धि सौरभम्—आमोदो येषां योगिनां ते, शुभाः—बहिरन्तश्च पूजनेनाधिवासिताः, विरुद्धवासनान् अनाश्वस्तानपि

* (क) शब्दार्थ—उत्कट = तीव्र, बहुत तेज ।
उन्मिषत् = १, प्रफुल्लित, अत्यन्त प्रसन्न । १, विकसित, खिला हुआ ।
त्र्यम्बक = त्रिनेत्रधारी शंकर ।
स्तवक = १, स्तुति, स्तोत्र । २, फूलों का गुच्छा ।
सौरभ = सुगंधि, चमत्कार । विरुद्धवासनान् = १, बुरी वासनाओं वाले, अर्थात् दुष्टों और नास्तिकों को । २, दुर्गन्धि से युक्त ।
(ख) भावार्थ—हे शंकर ! जो योगी-जन आप की समावेशात्मिका भक्ति की पारमार्थिक सुगंधि से भरे रहते हैं, वे उस सुगंधि का चुटकी भर अंश उन लोगों के चित्त में फूंक कर उन को भी अपने समान बनाते हैं, जो रजोगुण और तमोगुण से दबे रहते हैं । अर्थात् आप के भक्त अपने सम्पर्क से दुष्टों और नास्तिकों को भी परमानन्द का पात्र बनाते हैं । यही आप की भक्ति का चमत्कार है ।

अखिलान् निकटवासिनो जनान् वासयन्ति—उभयपूजोन्मुखान् सम्पादयन्ति। बाह्ये त्र्यम्बकार्थं स्तवकः, अन्तस्तु त्र्यम्बक एव स्तवकः। एवं सौरभम्—आमोदश्चमत्कारश्च।

अथ च—उत्कटेन त्र्यम्बकस्तवकस्य—धत्तूरकुसुमस्य सौरभेणाधिवासिताः निकटस्थान् विभिन्नानामोदानपि वासयन्तीति अनुरणनव्यङ्ग्योऽर्थः ॥ १६ ॥

ज्योतिरस्ति कथयापि न किंचि-
द्विश्वमप्यतिसुषुप्तमशेषम् ।
यत्र नाथ शिवरात्रिपदेऽस्मिन्
नित्यमर्चयति भक्तजनस्त्वाम् ॥ १७ ॥

नाथ = हे प्रभु !
यत्र = जिस (रात) में
ज्योतिः = (बाहरी तथा भीतरी इन्द्रियों द्वारा होने वाले ज्ञान रूपी) प्रकाश की
किंचित् = कोई
कथया अपि = बात भी
न = नहीं
अस्ति = होती, (अर्थात् जिस में ज्ञाता और ज्ञेय का अन्तर बिल्कुल नहीं रहता),
(**यत्र च** = और जिस में)
अशेषं = (संपूर्ण भेद-प्रथा के नष्ट होने के कारण) सारा
विश्वम् = जगत
अपि = भी
अति- सुषुप्तम् = सुषुप्ति अर्थात् गहरी नींद में सोया रहता है,
अस्मिन् = उसी
शिवरात्रिपदे = कल्याण-कारिणी रात में (अर्थात् शिव-समावेश-भूमि में)
भक्त-जनः = भक्त-जन
नित्यं = सदैव
त्वाम् = आप की
अर्चयति = पूजा करते हैं ॥ १७ ॥

१ घ० पु० भवत्पूजोन्मुखान्—इति पाठः ।
२ ख० पु० धातूरकस्य—इति पाठः ।
३ ख० पु० अधिवासितान्—इति पाठः ।
४ विभिन्नामोदान्—इति ग० पु० पाठः ।
५ ग० पु० वाटान् वासयन्ति—इति पाठः ।

ज्योतिः—बाह्यान्तःकरणजं ज्ञानं, यत्र नाम्ना किञ्चिन्नास्ति। समस्त-मायीयप्रथायाः संहरणाद्विश्वमपि सकलमतिसुषुप्तम्। अत्र शिवरात्रिपदे—शिवसमावेशभूमौ समस्ताख्यातिप्रथायाः संहरणाद्रात्रिरिव रात्रिस्तस्याः पदे—स्थाने ॥ १७ ॥

सत्त्वं सत्यगुणे शिवे भगवति स्फारीभवत्वर्चने
चूडायां विलसन्तु शङ्करपद[1]प्रोद्यद्[2]रजःसञ्चयाः।
रागादिस्मृतिवासनामपि समुच्छेत्तुं तमो जृम्भतां
शम्भो मे भवतात्त्वदात्मविलये त्रैगुण्यवर्गो[3]ऽथवा ॥१८॥

शम्भो = हे महादेव !
सत्य-गुणे = सच्चे (अर्थात् सर्वज्ञता आदि पारमार्थिक) गुण हैं जिसमें, ऐसे
भगवति = भगवान्
शिवे = शिव की
अर्चने = (मुझ से की गई) पूजा में
सत्त्वं = सत्त्व-गुण (अर्थात् पारमार्थिक प्रकाश)
स्फारी-भवतु = विकास को प्राप्त करे।
शङ्कर- = (मेरे प्रणाम करने पर) शङ्कर के
पद- = चरणों पर से
प्रोद्यत्- = उठी हुई
रजः- = धूलि का
सञ्चयाः = समूह रूपी रजोगुण
(मे = मेरी)
चूडायां = सिर पर
विलसन्तु = चमक उठे।
राग- = राग, (द्वेष)
आदि- = आदि की
स्मृति- = स्मृति संबन्धिनी
वासनाम् = वासना को
अपि = भी
समुच्छेत्तुं = पूर्ण रूप में नष्ट करने के लिए
तमः = तमोगुण
जृम्भताम् = विकसित हो जाय।
अथवा = और (इसी प्रकार)
मे = मेरे लिए
त्रैगुण्य-वर्गः = त्रि-गुण-वर्ग (अर्थात् त्रिगुणात्मक समस्त जगत)
त्वदात्म- = आप के स्वरूप में
विलये भवतात् = लय को प्राप्त करे (अर्थात् आप में लीन हो जाय) ॥

१ ख० पु० शम्भुचरण—इति पाठः।
२ ख० पु० प्रोञ्च्छद्रजःसंचयाः—इति पाठः।
३ घ० पु० त्रैलोक्यवर्गोऽथवा—इति पाठः।

सत्याः—पारमार्थिकाः सर्वज्ञत्वादयो गुणा यस्य, तत्र शिवे भगवति यदर्चनं—चिद्विश्रान्तिपरमार्थस्वरूपं[1], तत्र सत्त्वं—प्रकाशः स्फारीभवतु। चूडायां—मध्यशिखायां शिवशक्त्युदिताः रजःप्रसराः—किरणनिकराः स्वस्वरूपोन्मीलकाः विलसन्तु[2]। तमश्च—अख्यात्यात्मा मोहः रागादिस्मृतिहेतुं वासनामपि सम्यगुच्छेत्तुमपुनर्भवाय जृम्भताम्। अथवा त्रैगुण्यवर्गस्त्वदात्मनि यो विलयः—निःशेषमुपशान्तिस्तत्र भवतात्—त्वय्येव विलीनो भूयादित्यर्थः ॥ १८ ॥

संसाराध्वा सुदूरः खरतरविविधव्याधिदग्धाङ्गयष्टिः[3]
भोगा नैवोपभुक्ता[4] यदपि सुखमभूज्जातु तन्नो चिराय।
इत्थं व्यर्थोऽस्मि जातः शशिधरचरणाक्रान्तिकान्तोत्तमाङ्ग-
स्त्वद्भक्तश्चेति तन्मे कुरु सपदि महासम्पदो दीर्घदीर्घाः ॥

(**संसार-सारथे**=हे संसार-सारथि!)
संसार- = जीवन-यात्रा का
अध्वा = मार्ग
सुदूरः = अत्यन्त दूर (अर्थात् अपार)
(**अस्ति** = है, अर्थात् जन्म-मरण के चक्र का कोई अन्त नहीं),
(**च** = और)
खर-तर-विविध-व्याधि-दग्ध-अङ्ग-यष्टिः = अनेक प्रकार के अत्यन्त भयंकर रोगों (तथा आपत्तियों) से इसके कोमल (अर्थात् दुर्बल) अंग जलते रहते हैं।
भोगाः नैव उपभुक्ताः = (पारमार्थिक चिदानन्दमय) भोगों का आस्वादन (तो मैंने) किया नहीं
(**मे** = और मुझे)
यत् अपि = जो कुछ भी
सुखं = सुख
जातु = कभी
अभूत् = प्राप्त हुआ,
तत् = वह
नो चिराय = चिरस्थायी न रहा।
इत्थम् = इस प्रकार
(**अहं** = मैं, इस संसार में)

---

१ ख० पु० चिद्विश्रांतिपरमार्थम्—इति पाठः।
२ ग० पु० विकसन्तु—इति पाठः।
३ ख० पु० दग्धंगयष्टिः—इति पाठः।
४ ख० पु० भोगानेवोपभुक्त्वा—इति पाठः।

व्यर्थः जातः अस्मि = व्यर्थ ही उत्पन्न हुआ हूँ, (अर्थात् मेरा जीवन निष्फल ही रहा है)।
शशि-धर- = चन्द्र-कला-धारी शंकरके
चरण- = (अपने) चरणों के
आक्रान्ति- =(इस पर) रखने से
कान्त-उत्तम-अङ्गः (अहं) = मेरा सिर अत्यन्त सुन्दर बन पड़ा है, (अर्थात् शंकर के शक्तिपात से मेरा स्वरूप अत्यन्त उज्ज्वल-संवित्-प्रधान हो गया है),
च = और (फिर भी मैं)
त्वद्- = आपका ही
भक्तः = भक्त
(**अस्मि** = बना रहा हूँ।)
इति तद् = इसलिए,
दीर्घ-दीर्घाः = सदा रहने वाली
महा- = सर्वश्रेष्ठ
संपदः = (अद्वयानन्द रूपिणी) संपत्ति
मे = मुझे
सपदि = तुरन्त
कुरु = प्रदान कीजिए (और इस प्रकार मेरा बेड़ा पार लगाइए)॥

सुदूरः—कृच्छ्रप्राप्यपर्यन्तः। भोगा इति उत्तमा इह विवक्षिताः। जातु—कदाचित्। नो—निषेधे। अस्मीति—देहादिप्रमातृतारूपः। यतस्तु शशिधरचरणाक्रान्त्या—ईश्वरशक्तिपातेन कान्तं—दीप्रं संवित्प्रधानम्, अत एवोत्तमाङ्गं स्वरूपं यस्य। त्वद्भक्तश्चेति—तथाभूतोऽपि त्वामेव सेवमानः। तस्मान्मे दीर्घदीर्घाः—शाश्वतीर्महासम्पदः—प्राग्वदद्वयमयीः कुर्विति शिवम्॥ १६॥

इतिश्रीमदुत्पलदेवाचार्यविरचितस्तोत्रावल्यां भक्तिस्तोत्रनाम्नि पञ्चदशे स्तोत्रे श्रीक्षेमराजाचार्यविरचिता विवृतिः॥ १५॥



ॐ तत् सत्

अथ

पाशानुद्भेदनाम षोडशं स्तोत्रम्

न किञ्चिदेव लोकानां भवदावरणं प्रति।
न किञ्चिदेव भक्तानां भवदावरणं प्रति ॥ १ ॥

(प्रभो = हे प्रभु !)
लोकानां = संसारी जनों के लिए
भवत्-आवरणं प्रति = आप (चित्-स्वरूप) को ढकने अर्थात् छुपा रखने वाला
किंचित् = क्या कुछ
एव न (अस्ति) = भी नहीं (है)?
(अर्थात् उनके लिए तो सारा संसार भेद-प्रथात्मक ही है)।

भक्तानां = (इसके प्रत्युत आपके स्वरूप-समावेश-संपन्न) भक्त-जनों के लिए
भवत्-आवरणं प्रति = आप के स्वरूप को छुपा रखने वाला
किञ्चित् = कुछ
एव = भी
न = नहीं
(**अस्ति** = है) ॥ १ ॥*

भवदावरणं प्रति—चिन्मयत्वत्स्वरूपावरणाय लोकानां—संसारिणां न किञ्चिदेव? काका—अपितु विश्वमेवापर्यन्तसमस्तशक्तिचक्रव्यामोहितत्वात्। भक्तानां तु न किञ्चिदेव—नैव किञ्चिदित्यर्थः,—शिवतत्त्वपर्यन्तस्याशेषस्य स्वाङ्गकल्पतया प्रमेयीकृतत्वात् ॥ १ ॥

---

* भावार्थ—हे प्रभु ! संसारी जनों के लिए संसार की सभी चीजें तथा बातें आप के स्वरूप को छुपाये रखने में ही योग देती हैं, किन्तु भक्त-जनों के लिए वही सभी चीजें तथा बातें आप के स्वरूप को प्रकट करने में ही योग देती हैं। यही आपकी भक्ति का चमत्कार है।

१ ख० ग० पु० अपितु सर्वमेव भेदेन विश्वमेवापर्यन्तसमस्तशक्तिचक्र**व्यवहि**तत्वादिति पाठः।

अप्युपायक्रमप्राप्यः सङ्कुलोऽपि विशेषणैः ।
भक्तिभाजां भवानात्मा सकृच्छुद्धोऽवभासते ॥ २ ॥

(**प्रभो** = हे स्वामी !)
भवान् = आप
आत्मा = चिद्रूप
उपाय- = (शास्त्रों में कहे गए) उपायों के
क्रम- = क्रम से
प्राप्यः = प्राप्त किए जाने वाले
अपि = भी (हैं)
(**च** = और)
विशेषणैः = (सर्वज्ञ, सर्व-शक्तिमान् आदि) विशेषणों से
संकुलः = संकीर्ण
अपि = भी
(**अस्ति** = हैं)
(**तथापि** = तो भी)
(**भवान्** = आप)
भक्ति-भाजां = भक्त-जनों को
सकृत् = (समावेश में) सदा
शुद्धः = शुद्ध (अर्थात् स्वाभाविक चिदानन्दघन) रूप में
अवभासते = भासमान होते हैं (अर्थात् दिखाई देते हैं) ॥ २ ॥

उपायक्रमः—तत्तच्छास्त्रोक्तज्ञानक्रियायोगचर्यादिः । विशेषणैः—सर्वज्ञत्वसर्वकर्तृत्वसर्वशक्तिमयत्वादिभिरसंख्यैः[1] । यथोक्तमपि

'सर्वसिद्धिवाचः[2] क्षयेरन्'

इत्यादि च । तथाभूतो[3] भवानात्मा भक्तिभाजां सकृत्—सन्ततं शुद्धः—चिदेकपरमार्थः अवभासते—समावेशेन स्फुरति । यश्च क्रमप्राप्यः सङ्कुलश्च स कथं सकृच्छुद्धश्च भातीति विरोधाभासः[4] ॥ २ ॥

जयन्तोऽपि हसन्त्येते जिता अपि हसन्ति च ।
भवद्भक्तिसुधापानमत्ताः केऽप्येव ये प्रभो[5] ॥ ३ ॥

---

१ ख० पु० सर्वशक्तिमयादिभिः—इति पाठः ।

२ घ० पु० सर्गसिद्धिवाचः क्षयेरन् दीर्घकालमुद्गीर्णाः—इति पाठः ।

३ ग० पु० तथाभूतानां भक्तिभाजाम्—इति पाठः ।

४ ख० पु० विरोधच्छाया—इति पाठः ।

५ ख० पु० विभो—इति पाठः ।

प्रभो = हे प्रभु !
ये = जो (भक्त-जन)
भवत्- = आप की
भक्ति- = (समावेशात्मिका) भक्ति रूपी
सुधा- = अमृत को
पान- = पी कर
मत्ताः = मतवाले (अर्थात् मस्त)
(**भवन्ति** = बने रहते हैं)
(**ते** = वे)
जयन्तः अपि = जीतने पर भी (अर्थात् समावेश का आनन्द उठाने पर भी)
हसन्ति = हंसते हैं (अर्थात् प्रफुल्लित या प्रसन्नचित्त होते हैं)
च = तथा
जिताः अपि = जीते जाने पर भी (अर्थात् व्युत्थान में उस आनन्द से वंचित होने पर भी)
हसन्ति = हंसते हैं।
एते = ऐसे भक्त तो
केऽपि = अलौकिक
एव = ही (अर्थात् विरले ही)
(**सन्ति**) = होते हैं ॥ ३ ॥*

जयन्तः—इति, भेदा[1]धस्पदीकरणेन समाविशन्तः, हसन्ति—विकसन्ति। जिता अपीति—व्युत्थानेनाकृष्यमाणा अपि समावेशसंस्काराद्बहिश्च विकसन्ति—लौकिकजयपराजययोर्हसन्त्येव[2]। मत्ताः—हृष्टाः। अथ च ये मत्ताः क्षीवास्ते जयपराजययोर्हासवन्तो[3] भवन्ति। केऽपीति—अलौकिकाः ॥ ३ ॥

शुष्ककं मैव सिद्ध्येय मैव मुच्येय[4] वापि तु।
स्वादिष्ठपरकाष्ठाप्तत्वद्भक्तिरसनिर्भरः ॥ ४ ॥

---

* भावार्थः—जिस प्रकार मदिरा-पान से मतवाले बने लोग सदा हँसते ही रहते हैं, चाहे उनकी जीत हो या हार; उसी प्रकार जो भक्त-जन सदैव प्रफुल्लित रहते हैं, चाहे लौकिक व्यवहार में उनकी जीत हो या हार, वे विरले ही होते हैं।

१ ग० पु० भेदानास्पदीकरणेन—इति पाठः।
२ ख० पु० हृष्टा एव—इति पाठः।
३ ख० पु० हसन्तो भवन्ति—इति पाठः।
४ ख० पु० मुच्येऽथचापितु—इति पाठः।

(**परमात्मन्** = हे परमेश्वर !)
(**अहं** = मैं)
शुष्ककं = सूखे या नीरस रूप में (अर्थात् आपकी समावेशात्मिका भक्ति के रस के विना)
मा एव सिद्धेय=भोग-सिद्धि को प्राप्त न करूँ
वा = और
मा एव मुच्येय = मुक्ति को प्राप्त न करूँ (अर्थात् भक्ति के विना भोग और मोक्ष, दोनों मुझे नहीं भाते),
अपि तु = बल्कि (मैं)
स्वादिष्ठ-परकाष्ठा-आप्त-त्वद्-भक्ति-रस-निर्भरः = पराकाष्ठा अर्थात् चरम सीमा को पहुँची हुई आप की (समावेश रूपिणी) भक्ति के अत्यन्त मधुर रस से भरा हुआ
(**भवेयम्** = बना रहूँ) ॥ ४ ॥

शुष्कमेव शुष्ककं क्रियाविशेषणम् । शुष्ककं—समावेशभक्तिरसरहितं कृत्वा । तादृशौ भोगमोक्षौ भेदवादिनां, स्वादिष्ठो—निरतिशयचमत्कारो धाराधिरूढश्च[1] यस्त्वत्समावेशरसः तेन निर्भरं—पूर्णं कृत्वा । अत एव शुष्कतानिवृत्तिः ॥ ४ ॥

यथैवाज्ञातपूर्वोऽयं भवद्भक्तिरसो मम ।
घटितस्तद्वदीशान स एव परिपुष्यतु ॥ ५ ॥

ईशान = हे स्वतंत्र प्रभु !
अज्ञात-पूर्वः = जिस की पहले (कभी) जानकारी नहीं थी, ऐसा
अयं = यह
भवत्- = आप की
भक्ति- = (समावेश रूपिणी) भक्ति का
रसः = रस
यथा एव = जैसे ही (अर्थात् जिस तरह अनजान में ही)
मम = मुझे
घटितः = प्राप्त हुआ,
तद्वत् एव = वैसे ही (अर्थात उसी तरह अनजान में ही)
स = वह
परिपुष्यतु = बढ़ता ही जाय ॥ ५ ॥

अज्ञातपूर्व इति—जन्मकोटिमध्येऽप्यविदितः । अयमिति—स्फुरद्रूपः[2] । भक्तिरसः—समावेशप्रसरः । ईशान—स्वतन्त्र । तद्वदिति—झटित्यज्ञात-[3]पूर्वः । यथैवेति—यं प्रकारं त्वमेव जानासीत्यर्थः ॥ ५ ॥

---

१ ग० पु० जगदानन्दाधिरूढश्चेति पाठः ।

२ ग० घ० पु० स्फुटरूप इति पाठः ।

३ ख० पु० झगित्यज्ञातपूर्व इति पाठः ।

सत्येन भगवन्नान्यः प्रार्थनाप्रसरोऽस्ति मे ।
केवलं स तथा कोऽपि भक्त्यावेशोऽस्तु मे सदा ॥ ६ ॥

भगवन् = हे भगवान् !
सत्येन = सचमुच
मे = मेरी
अन्यः = (किसी) दूसरी
प्रार्थना- = प्रार्थना के लिए
प्रसरः = अवकाश (अर्थात् गुंजाइश) ही
न = नहीं
अस्ति = है (अर्थात् मैं आप से कोई दूसरी प्रार्थना कर ही नहीं सकता) ।
केवलं = केवल (यही लालसा है कि)
स तथा = वह, अवर्णनीय और
कोऽपि = अलौकिक
भक्ति- = (समावेश रूपिणी) भक्ति का
आवेशः = आवेश
मे = मुझे
सदा = सदा
अस्तु = प्राप्त होता रहे ॥ ६ ॥

अतिप्रणयपरिचयादियमुक्तिः[1] । अन्य इति—भक्तिप्रार्थनातो व्यतिरिक्तः । स तथा कोऽपीति—वाग्विकल्पातीतः । भक्त्यावेशः—समावेश-वैवश्यम्[2] ॥ ६ ॥

भक्तिक्षीबोऽपि कुप्येयं भवायानुशयीय च ।
तथा हसेयं रुद्यां च रटेयं च शिवेत्यलम् ॥ ७ ॥

(**जगत्-प्रभो** = हे जगत के स्वामी!)
(**अहं** = मैं)
भक्ति- = (समावेश रूपिणी) भक्ति से
क्षीवः अपि = मस्त हो कर ही
भवाय = (इस अज्ञान-ग्रस्त) संसार के प्रति
कुप्येयं = क्रोध करूँ, (अर्थात् संसार को गंवारों का भवन समझूँ),
च = और
अनुशयीय = (इस बात पर) पश्चात्ताप करूँ (कि मैं इतने समय तक मोह में पड़ा रहा),
तथा = तथा
हसेयं = आनन्द से हंसता रहूँ, (अर्थात् सदा प्रफुल्लित रहूँ),
च = और

1 ख० पु० परिचर्यात्—इति पाठः ।
2 ख० पु० समावेशकैवल्यम्—इति पाठः ।

रुद्यां = रोता रहूँ
च = और
अलं = ज़ोर से
शिव-इति = 'शिव' 'शिव' की
रटेयम् = रट लगाता रहूँ ॥ ७ ॥

भवाय—संसाराय, कुप्येयं—ग्राम्यत्वेन संसारमवलोकयेयमित्यर्थः। अनुशयीयेति—कथमियन्तं कालं व्यामूढ आसमिति पश्चात्तापमनुभवेयम्। हसेयं—प्रमोदेन विकसेयम्। रुद्यां—आनन्दाश्रुप्लुतः स्याम्। रटेयमिति—शिवशिवेति शब्दमुखरः स्याम्। क्षीवस्यैवमेव[1] नानावृत्त्युदयो भवति[2] ॥ ७ ॥

विषमस्थोऽपि स्वस्थोऽपि रुदन्नपि हसन्नपि।
गम्भीरोऽपि विचित्तोऽपि भवेयं भक्तितः प्रभो ॥ ८ ॥

प्रभो = हे स्वामी !
(भवत्- = आप की)
भक्तितः = भक्ति (के चमत्कार) से
(अहं = मैं)
विषमस्थः = (सांसारिक) विपत्तियों में फँसे रहने पर
अपि = भी
स्वस्थः = (चिदानन्द में मग्न होने के कारण) शान्त
अपि = ही
(भवेयं = बना रहूँ;)
रुदन् = (संबन्धियों की मृत्यु आदि की दशा में) रोते हुए
अपि = भी
हसन् अपि = (भीतर से चिद्विकास के लाभ के कारण) हंसता ही (अर्थात् प्रसन्न ही)
(भवेयं = रहूँ)
(तथा = और)
गंभीरः अपि = (लौकिक व्यवहार में) गंभीर होते हुए भी
विचित्तः = (प्रकट रूप में) विमूढ सा
अपि = ही
भवेयम् = बना रहूँ ॥ ८ ॥*

---

१ घ० पु० क्षीवस्यैव मे—इति पाठः।

२ घ० पु० भवतु—इति पाठः।

* दूसरे प्रकार से अर्थ—हे स्वामी ! आपकी भक्ति की महिमा से मैं सुखी होते हुए भी संकट में पड़ा हुआ सा ही बना रहूँ, अर्थात् सांसारिक सुख को दुःख ही समझूँ—लौकिक दृष्टि से सुख भोगने पर भ अपने को सूइयों की नोकों की सेज पर पड़ा हुआ ही समझूँ, हँसते हुए भी अर्थात् प्रसन्न होते हुए भी रोता ही रहूँ, अर्थात् लौकिक दृष्टि से हर्ष के कारण हँसते

विषमस्थोऽपि—दौर्गत्योपहतोऽपि, भक्तितः स्वानन्दविश्रान्तः; विषमस्थः—सूचीपुञ्जोपविष्ट इव लौकिकं सुखं दुःखरूपेण पश्यन्। तथा बान्धवमरणाद्यवस्थायां रुदन्नपि अन्तश्चिद्विकासलाभात् प्रहृष्यन्[1]; तथा सांसारिकप्रमोदेषु तथा हसन्नपि रुदन्—शोचनीयतां मन्यमानः[2]। तथा लौकिकव्यवहारे गंभीरोऽपि—परैरनालक्ष्योऽपि विचित्तः—तां दशामुत्पातमिव मन्वानस्तथा विचित्तोऽपि—क्वचन सन्निपाताद्यवसरे नष्टस्मृतिरपि[3] गम्भीरः—परैरनालोचितोऽप्यन्तर्दशाव्याप्तिप्रमोदनिर्भरः स्याम् ॥ ८ ॥

भक्तानां नास्ति संवेद्यं त्वदन्तर्[4]यदि वा बहिः।
चिद्धर्मा यत्र न भवान्निर्विकल्पः स्थितः[5] स्वयम् ॥ ९ ॥

(**नाथ** = हे प्रभु !)
भक्तानां = भक्त-जनों के लिए
त्वद्- = आप (चिद्रूप) के
अन्तर् = भीतर
यदि वा = अथवा
बहिः = बाहिर
संवेद्यं = अनुभव करने योग्य
(**किंचिदपि** = कोई भी ऐसी बात)
नास्ति = नहीं होती,
यत्र = जिसमें
निर्विकल्पः = निर्विकल्प
(**च** = तथा)
चित्-धर्मा = चित्स्वभाव (अर्थात् चित्-स्वरूप)
भवान् = आप
स्वयं = प्रत्यक्ष रूप में
स्थितः = विद्यमान
न = नहीं
(**अस्ति** = होते) ॥ ९ ॥

हुए भी अपनी दशा और अपने हर्ष के विषय को शोचनीय समझकर हृदय से रोता रहूँ; कभी-कभी सन्निपात आदि रोगों में ग्रस्त होने के कारण विमूढ अर्थात् ज्ञानहीन या स्मृति-हीन होने पर भी गंभीर ही अर्थात् चिदानन्द-स्वरूप में मग्न ही बना रहूँ ॥ ८ ॥

१ ख० पु० प्रहसन्—इति पाठः।
२ घ० पु० मन्वानः—इति पाठः।
३ ख० पु० नष्टमतिरपि—इति पाठः।
४ ख० पु० तदन्तर्—इति पाठः। ५ घ० पु० स्थितिः—इति पाठः।

संवेद्यं—संसारलीलादि। चिद्धर्मा—चित्स्वभावः। स्वयमिति—साक्षात्स्फुरन्, नांशाधिष्ठानेन[1] ॥ ९ ॥

भक्ता निन्दानुकारेऽपि तवामृतकणैरिव।
हृष्यन्त्येवान्तराविद्धास्तीक्ष्णरोमाञ्चसूचिभिः ॥ १० ॥

(**देवेश** = हे देवाधिदेव !)
भक्ताः = आपके भक्त-जन
(**दुष्टसभायां** = दुष्ट लोगों की सभा में)
तव = आप की
निन्दा- = अप्रशंसा का
अनुकारे = अनुकरण करने पर
अपि = भी
इव = (बाहर से अर्थात् लोगों की दृष्टि में) मानो
अमृत- = अमृत की
कणैः = बूंदों से
(**प्लाविताः सन्तः** = प्लावित होकर)
हृष्यन्त्येव = प्रसन्न ही हो जाते हैं,
(**किन्तु** = किन्तु)
अन्तर् = भीतर से (अर्थात् हृदय में)
तीक्ष्ण- = अत्यन्त तेज़
रोमांच- = लोम-हर्ष रूपिणी
सूचिभिः = सूइयों से
आविद्धाः = पूर्ण रूप में छिद जाते हैं ॥ १० ॥

तव निन्दानुकारेऽपि—उपहतजन्तूपक्लृप्तामप्रशंसामनुकुर्वन्तो भक्ता[2] हृष्यन्त्येव[3]—स्फुरत्तात्त्विकस्वरूपाः परमानन्दव्याप्तिं लभन्त एव। अत एव पाशनिर्भेदिनीभिस्तीक्ष्णाभी रोमांचसूचिभिः, आ—समन्ताद्विद्धाः ॥१०॥

दुःखापि वेदना भक्तिमतां भोगाय कल्पते।
येषां सुधार्द्रा सर्वैव संवित्त्वचन्द्रिकामयी ॥ ११ ॥

(**महादेव** = हे परमेश्वर !)
वेदना = संवित्,
दुःखा = दुःख-कारिणी होते हुए
अपि = भी,
(**तेषां** = उन)
भक्तिमतां = भक्त-जनों को
भोगाय = (स्वात्मानन्द का) अनुभव कराने में

१ ख० पु० नान्याधिष्ठानेन—इति पाठः।
२ ख० पु० भक्त्या—इति पाठः।
३ ग० पु० प्रहृष्यन्त्येव—इति पाठः।

(एव = ही)
कल्पते = योग देती है,
येषां = जिनकी
सर्वा एव = सारी की सारी
संवित् = संवित् (अर्थात् चित्-शक्ति)
सुधा- = (परमानन्द रूपी) अमृत से
आर्द्रा = प्लावित
(च = तथा)
त्वत्- = आप की
चन्द्रिका-मयी = चंद्रिका (अर्थात् पराशक्ति) से सम्पन्न
(भवति = होती है) ॥ ११ ॥

वेदना—संवित्, दुःखापि—दुःखकारिण्यपि, भोगायेति—दुःखस्य चमत्कार्यत्वाच्चमत्कर्तृतासारानन्दघनप्रमातृपदवित्तये । तत एवाह—सर्वैव संवित्-चितिशक्तिः येषां सुधार्द्रा परमानन्दघनत्वाच्चन्द्रिकामयी पराशक्तिरूपा ॥ ११ ॥

यत्र तत्रोपरुद्धानां भक्तानां बहिरन्तरे ।
निर्व्याजं त्वद्वपुः[1]स्पर्शरसास्वादसुखं समम् ॥ १२ ॥

(प्रभो = हे स्वामी !)
यत्र तत्र = जहाँ तहाँ (अर्थात् सुख, दुःख आदि सभी अवस्थाओं में)
उपरुद्धानां = पड़े हुए
(भवत्- = आप के)
भक्तानां = भक्तों के लिए
त्वद्- = आप (चिन्मय) के
वपुः- = स्वरूप के
स्पर्श- = स्पर्श की
रस-आस्वाद्- = (चमत्कारमय) अनुभूति का
सुखं = सुख
बहिः = बाहिर
(च = और)
अन्तरे = भीतर (अर्थात् व्युत्थान और समाधि दोनों में)
निर्व्याजं = शुद्ध (अर्थात् वासनाओं की मैल से रहित)
(तथा = तथा)
समं = एक जैसा होता है (अर्थात् समाधि और व्युत्थान में कोई भेद नहीं रहता) ॥ १२ ॥

सुखदुःखतद्द्वैत्वादिरूपे उपरुद्धानाम्—अवस्थितानां भक्तानां निर्व्याजम्—अन्तर्विचित्रवासनाकालुष्यशून्यं त्वद्वपुषः—चिन्मयत्वत्स्वरूपस्य संबन्धि, यत्स्पर्शरसास्वादसुखं तत्समं—सर्वतुल्यम् । उक्तं च

·········समबुद्धिर्विशिष्यते ॥ भ० गी०, अ० ६, श्लो० ९ ॥

इति ॥ १२ ॥

---

१ ख० ग० पु० तद्वपुः—इति पाठः ।

तवेश भक्तेरर्चायां दैन्यांशं द्वयसंश्रयम् ।
विलुप्यास्वादयन्त्येके वपुरच्छं सुधामयम् ॥ १३ ॥

ईश = हे प्रभु !
तव = आप की
अर्चायां = पूजा के संबन्ध में
भक्तेः = (जो आप की) भक्ति (अर्थात् सेवा है, उसकी)
द्वय-संश्रयं = द्वैत पर आश्रित (अर्थात् भेद-प्रथा के कारण होने वाली)
दैन्यांशम् = ज़रा सी दीनता को
(**अपि** = भी)
विलुप्य = नष्ट कर के
एके = कई (अद्वैत-भक्ति-शाली जन)
(**तव** = आप के)
अच्छं = निर्मल
(**च** = तथा)
सुधामयं = (आनन्द-रस रूपी) अमृत से भरे हुए
वपुः = स्वरूप का
आस्वादयन्ति = चमत्कार अर्थात् साक्षात्कार करते हैं* ॥ १३ ॥

तवार्चायां—प्राग्व्याख्यातायां या भक्तिः—सेवा, तस्याः द्वयसंश्रयं—भेद[1]संबद्धं दैन्यांशं—दीनतालेशमपि विलुप्य—छित्वा, एके—केचिदेव भेदविगलनाद् अच्छं—निर्मलं, अत[2] एव सुधामयम्—आनन्दरससारं वपुः—स्वरूपम् आस्वादयन्ति—चमत्कुर्वन्ति। दैन्यांशम्—इत्यत्रायमाशयः द्वैतभक्तेरद्वैतभक्तेश्च शिवप्राप्तिर्भवत्येव किन्त्वद्वैतभक्तिः सद्यः समावेशमयी द्वैतभक्तिस्त्वतथात्वाच्छिवताकाङ्क्षामयी ॥ १३ ॥

भ्रान्तास्तीर्थदृशो भिन्ना भ्रान्तेरेव हि भिन्नता ।
निष्प्रतिद्वन्द्वि वस्त्वेकं भक्तानां त्वं तु राजसे ॥१४॥

---

* भावार्थ—हे प्रभु ! द्वैत-भक्त और अद्वैत-भक्त—इन दोनों को तो आप की प्राप्ति होती ही है, किन्तु अद्वैत-भक्त को समावेश द्वारा तुरन्त आप के स्वरूप का साक्षात्कार प्राप्त होता है। द्वैत-भक्त तो ऐसा कर ही नहीं सकता, अतः उसे कुछ समय तक शिवता अर्थात् आप के साथ एकात्मता की लालसा ही बनी रहती है, अर्थात् उसे प्रतीक्षा करनी पड़ती है और इसी लिए वह दीन बना रहता है ॥ १३ ॥

१ ख० पु० भेदसंश्रयम्—इति पाठः ।

२ घ० पु० तद्वदेव—इति पाठः ।

(**गिरिजापते** = हे पार्वती-नाथ !)
तीर्थदृशः = (भिन्न भिन्न) दर्शन-शास्त्रों के जानकार
भ्रान्ताः = भ्रान्त हो जाते हैं अर्थात् भ्रम में पड़ते हैं
(**अतः ते त्वत्तः** = और इसीलिए वे आप से)
भिन्नाः = भिन्न अर्थात् दूर
(**भवन्ति** = रहते हैं,)
हि = क्योंकि
भिन्नता = भिन्नता (अर्थात् आप का वियोग)
भ्रान्तेः एव = भ्रान्ति से ही (होती है)
भक्तानां तु = परन्तु भक्त-जनों के लिए तो
त्वं = आप
निष्प्रतिद्वन्द्वि = प्रतिद्वन्द्वी से रहित
एकं वस्तु = और अद्वितीय तत्त्व (अर्थात् चिद्घन) के रूप में
राजसे=सदा देदीप्यमान् होते हैं ॥१४॥

तीर्थदृशः—शास्त्रदृष्टयो यतो भ्रान्तास्ततो भिन्नाः, यस्माद्भिन्नता नाम भ्रान्तेः—ऐक्याख्यातेर्हेतुर्भवति न तु वस्तुतः। भक्तानां तु त्वमेकम्—अद्वितीयं वस्तुतत्त्वं निष्प्रतिद्वन्द्वित्वाच्चिद्घनं राजसे—दीप्यसे ॥ १४ ॥

मानावमानरागादिनिष्पाकविमलं मनः ।
यस्यासौ भक्तिमाँल्लोकतुल्यशीलः कथं भवेत् ॥ १५ ॥

(**प्रभो** = हे प्रभु !)
यस्य = जिसका
मनः = मन
मान- = आदर.
अवमान = अनादर
राग- = तथा राग,
आदि- = (द्वेष) आदि द्वन्द्वों के
निष्पाक- = परिपक्व होने से (अर्थात् समाप्त होने से)
विमलं = निर्मल
(**भवति** = हो जाता है,)
असौ = वह
भक्तिमान् = (समावेश रूपिणी भक्ति से संपन्न) भक्त
लोक- = सामान्य लोगों के
तुल्य- = समान
शीलः = चरित्र वाला
कथं = कैसे
भवेत् = हो सकता है ? (अर्थात् उसका चरित्र लोगों से बढ़ चढ़ कर-अलौकिक होता है ।) ॥१५॥

---

१ ख० पु० लोकस्तुल्यशीलः—इति पाठः ।

यस्य भक्तिमतो मानावमानयोः रागादीनां च यो निष्पाकः— निःशेषेण पचनं दग्धबीजकल्पतापादनं, तेन हेतुना मनः—स्वान्तं विमलम्—अकलङ्कम् ॥ १५ ॥

रागद्वेषान्धकारोऽपि येषां भक्तित्विषा जितः ।
तेषां महीयसामग्रे कतमे ज्ञानशालिनः ॥ १६ ॥

(**नाथ** = हे नाथ !)
येषां = जिन्होंने
भक्ति- = भक्ति के
त्विषा = तेज से
राग- = राग-
द्वेष- = द्वेष रूपी
अन्धकारः = अन्धकार को
अपि = भी
जितः = जीत लिया हो (अर्थात् नष्ट किया हो),
तेषां = उन
महीयसाम् = महान् पुरुषों के
अग्रे = सामने
ज्ञान-शालिनः = ज्ञानी-जन
कतमे = कौन हैं (अर्थात् किस गिनती में हैं ?)* ॥ १६ ॥

महीयसामिति—ईयसुनो[1]ऽयमाशयः ;—समव्याप्तिकत्वं ज्ञानिनां भक्तानां च । तत्र भक्तानां तु[2] रागद्वेषान्धकारस्य जयाद्विशेषः ॥ १६ ॥

यस्य भक्तिसुधास्नानपानादिविधिसाधनम् ।
तस्य प्रारब्ध[3]मध्यान्त[4]दशासूच्चैः सुखासिका ॥ १७ ॥

(**प्रभो** = हे प्रभु !)
यस्य = जिसके लिए
भक्ति- = भक्ति रूपी
सुधा- = अमृत ही
स्नान- = नहाने,
पान- = पीने
आदि- = आदि
विधि- = (सभी) कार्यों के करने का

* सारांश यह है कि भक्त ज्ञानी से बड़ा है ।

१ क० पु० ईयसुनः प्रत्ययस्य—इति पाठः ।

२ ग० पु० च—इति पाठः ।

३ ख० पु० प्रारब्धि—इति पाठः ।

४ ख० पु० अन्तर्—इति पाठः ।

साधनं = साधन होता है, (अर्थात् जो अपने सभी कार्य भक्ति रूपी अमृत से ही करता है),
तस्य = उस (के सभी कार्यों) की
प्रारब्ध- = आदि,
मध्य- = मध्य
अन्त- = तथा अन्तिम
दशासु = दशाओं में
उच्चैः = (परमानन्द रूपी) सर्वोत्कृष्ट
सुखासिका (भवति) = सुख होता है, (अर्थात् उसका सारा जीवन परमानन्द में मग्न रहता है)॥१७॥

भक्तिरेव सुधा—अमृतं, सा यस्य स्नानपानादिविधेः—शुद्धितृप्त्यादिफलस्य व्यापारग्रामस्य साधनम्। तस्य प्रारब्धमध्यान्तदशासु[1]—आदौ, मध्ये अन्ते च अर्थात् सर्वव्यापाराणामुच्चैः सुखासिका—परमानन्दविश्रान्तित्वम् ॥ १७ ॥

कीर्त्यश्चिन्तापदं मृग्यः पूज्यो येन त्वमेव तत्।
भवद्भक्तिमतां श्लाघ्या लोकयात्रा भवन्मयी ॥१८॥

(जगत्प्रभो = हे जगत के स्वामी !)
येन = चूंकि
त्वम् = (केवल) आप
एव = ही
भवत्- = अपने
भक्तिमतां = भक्त-जनों के लिए
कीर्त्यः = कीर्तन करने योग्य,
मृग्यः = ढूंढ़ने योग्य,
पूज्यः = पूजनीय
(च = और)
चिन्ता-पदम् = चिन्तन (अर्थात् ध्यान या स्मरण) का विषय
(असि = होते हैं,)
तद् = इसलिए
(तेषां = उनकी)
लोक-यात्रा = जीवन-यात्रा (अर्थात् सारा सांसारिक व्यवहार)
भवत्-मयी = आपके स्वरूप से अभिन्न
(अतः = और इसीलिए)
श्लाघ्या = प्रशंसनीय
(भवति = होती है) ॥ १८ ॥

येनेति हेतौ। तदिति—तस्मात्, लोकयात्रा च कीर्तनादिमय्येव[2] ॥

१ ख० पु० प्रारब्धि—इति पाठः।
२ ख० पु० कीर्तनादिमती एव—इति पाठः।
ग० घ० पु० कीर्तनामय्येव—इति पाठः।

मुक्तिसंज्ञा विपक्वाया भक्तेरेव त्वयि प्रभो।
तस्यामाद्यदशारूढा मुक्तकल्पा वयं ततः ॥ १९ ॥

प्रभो = हे ईश्वर !
विपक्वायाः = परिपक्व अवस्था (अर्थात् पूर्णता) को पहुँची हुई
त्वयि = आपकी
भक्तेः = भक्ति का
एव = ही
मुक्ति-संज्ञा (अस्ति) = नाम मुक्ति है, (अर्थात् उसे ही मुक्ति कहते हैं)।
वयं = हम तो
तस्याम् = उस भक्ति की
आद्य-दशा- = पहली दशा (अर्थात् प्रथम भूमिका) में
आरूढाः = पहुँच गये हैं,
ततः = इसलिए
मुक्त-कल्पाः (स्मः) = मानो मुक्त ही हो गए हैं, (अर्थात् हमें शीघ्र ही मोक्ष प्राप्त होगा) ॥ १९ ॥

विपक्वायाः—परिपूर्णायाः[1]। आद्यदशारूढेति—उत्तरोत्तरप्रकर्षसाधनायोद्युक्ता अपि प्रथमभूमिकायां लब्धस्थितयः। मुक्तकल्पा इति—मनाङ्मात्रेणासम्पूर्णमुक्तयो न तु मुक्ताः ॥ १६ ॥

दुःखागमोऽपि भूयान्मे त्वद्भक्तिभरितात्मनः।
त्वत्पराची[2] विभो मा भूदपि सौख्यपरम्परा ॥ २० ॥

विभो = हे व्यापक भगवान् !
त्वद्-भक्ति-भरित-आत्मनः = यदि मेरी आत्मा आप की (समावेशात्मिका) भक्ति से भरपूर बनी रहे, तो
मे = मुझ पर
दुःख-आगमः अपि भूयात् = दुःख भी आ पड़ें।
(किन्तु = किन्तु)
त्वत्- = आप (के स्वरूप) से
पराची = विमुख (अर्थात् भिन्न) होने वाली
सौख्य- = सुखों की
परम्परा = परम्परा (अर्थात् लगातार लाभ)
अपि = भी
(मे = मुझे)
मा भूत् = प्राप्त न हो ॥ २० ॥

---

१ ग० पु० परं परिपूर्णायाः—इति पाठः।

२ ख० पु० तत्पराची—इति पाठः।

त्वत्पराची—त्वत्पराङ्मुखी ॥ २० ॥

त्वं भक्त्या प्रीयसे भक्तिः प्रीते त्वयि च नाथ यत् ।
तदन्योन्याश्रयं युक्तं यथा वेत्थ त्वमेव तत् ॥ २१ ॥

नाथ = हे प्रभु !
यत् = चूँकि
त्वं = आप
भक्त्या = (समावेश रूपिणी) भक्ति से
प्रीयसे = प्रसन्न होते हैं,
च = और
त्वयि = आपके
प्रीते (सति) = प्रसन्न होने पर ही
भक्तिः = भक्ति
(**भवति** = होती है,)
तद् = इसलिए
(**एतत्** = यह)
अन्योन्याश्रयं = एक दूसरे के सहारे की बात (अन्योन्याश्रय दोष कथा)
यथा = कैसे
युक्तं = ठीक रूप में बनी रहती
(**भवति** = है),
तत् = वह तो
त्वम् = आप
एव = ही
वेत्थ = जानते हैं, (अर्थात् ये दोनों बातें एक साथ ही केवल आपकी कृपा से होती हैं)* ॥ २१ ॥

यावन्न परमेश्वरः प्रीयते न तावद्भक्तिः, यावच्च न समावेशमयी भक्तिः न तावत्परमेश्वरः प्रीयते, भक्तिमतश्चिदानन्दमयं[1] वपुः प्रकटयति । तदेतदन्योन्याश्रयं यथा—येन प्रकारेण युक्तं भवति तथा त्वमेव अतिदुर्घटकारिणः स्वातन्त्र्यादुभयं घटयसि न त्वत्र पुरुषाणां[2] युक्तयः प्रभवन्ति ॥ २१ ॥

* भावार्थ—हे प्रभु ! जब तक आप प्रसन्न नहीं होते, तब तक भक्ति नहीं होती । और जब तक समावेश-मयी भक्ति नहीं होती, तब तक आप प्रसन्न नहीं होते, अर्थात् तब तक आप अपने भक्त को अपना चिदानन्द-मय स्वरूप नहीं दिखाते । एक दूसरी पर आश्रित होने वाली यह बात कैसे सिद्ध हो सकती है, यह तो आप ही जानते हैं । आप ही इन दोनों बातों को सिद्ध करते हैं, मनुष्य की शक्ति कुछ नहीं कर सकती ॥ २१ ॥

१ ख० पु० चिदानन्दघनम्—इति पाठः ।

२ घ० पु० पुरुषयुक्तयः—इति पाठः ।

साकारो[1] वा निराकारो[2] वान्तर्वा बहिरेव वा ।
भक्तिमत्तात्मनां नाथ सर्वथासि सुधामयः ॥२२॥

नाथ = हे स्वामी
साकारः = साकार (रूप में)
वा = या
निराकारः = निराकार (रूप में),
वा अन्तर् = भीतर (समाधि में)
वा बहिः एव वा = या बाहर (व्युत्थान में), अर्थात् सभी दशाओं में
(**त्वं** = आप)
भक्ति- (समावेश रूपिणी) भक्ति से
मत्त- = मस्त
आत्मनां = हृदय वाले (भक्तों) के लिए
सर्वथा = हर प्रकार से
सुधा-मयः = अमृत-मय ही
असि = होते हैं ॥ २२ ॥

भक्त्या मत्तः—प्रहृष्ट आत्मा येषां तेषां सर्वत्र त्वं सुधामयः। ते हि सर्वमात्मत्वेन[3] पश्यन्ति ॥ २२ ॥

अस्मिन्नेव जगत्यन्तर्भवद्भक्तिमतः प्रति ।
हर्षप्रकाशनफलमन्यदेव जगत्स्थितम् ॥ २३ ॥

(**भक्तवत्सल** = हे भक्तों पर कृपा करने वाले !)
अस्मिन्नेव = इसी
जगति = (दुःखमय) जगत के
अन्तर् = बीच में
भवत्- = आपके
भक्तिमतः = भक्तों के
प्रति = लिए,
हर्ष- = (चिदानन्दरूपी) हर्ष का
प्रकाशन- = प्रकटीकरण है
फलम् = फल जिसका, ऐसा
अन्यत् = (प्रकाश-आनन्द-घनरूपी) एक दूसरा
एव = ही
जगत् = जगत
स्थितम् = होता है* ॥ २३ ॥

---

१ ख० ग० पु० साकारे—इति पाठः ।

२ ख० ग० पु० निराकारे—इति पाठः ।

३ ख० पु० सर्वात्मत्वेन—इति पाठः ।

* भावार्थ—हे प्रभु ! यह संसार भयंकर दुःखों का घर है । आप के भक्त इसमें रहते हुए भी इसमें नहीं रहते । वास्तव में वे आप प्रकाशानन्द-घन रूपी दूसरे ही जगत में रहते हैं, जो परमानन्द का घर है । वे

सर्वजनतातिघोरे आपातमात्रे यद्यपि भक्तिमतां लोकवदेव जगद्भाति तथापि मृग्यमानमेतदेषां प्रकाशानन्दघनमेव ॥ २३ ॥

गुह्ये भक्तिः परे भक्तिर्भक्तिर्विश्वमहेश्वरे ।
त्वयि शम्भौ शिवे देव भक्तिर्नाम किमप्यहो ॥२४॥

देव = हे ज्योतिः-स्वरूप प्रभु !
अहो = अहो !
त्वयि = आप
गुह्ये = 'गुह्य' की
भक्तिः, = भक्ति,
परे = (आप) 'पर' की
भक्तिः = भक्ति,
विश्वमहेश्वरे=(आप)'विश्व-महेश्वर'की
भक्तिः = भक्ति,
शम्भौ = (और आप) कल्याण-स्वरूप
शिवे = 'शिव' की
भक्तिः = भक्ति
नाम = निस्सन्देह
किमपि = एक अलौकिक वस्तु
(**अस्ति** = है)* ॥ २४ ॥

गुह्ये—रहस्यरूपे, परे—पूर्णे, असाधारणनामोदीरणं निरतिशयताख्यापनाय । किमपीति—असामान्यं वस्तु ॥ २४ ॥

भक्तिर्भक्तिः परे भक्तिर्भक्तिर्नाम समुत्कटा ।
तारं विरौमि यत्तीव्रा भक्तिर्मेऽस्तु परं त्वयि ॥२५॥

संसार की किसी चीज़ के साथ सम्बन्ध नहीं रखते, अतः वे इसके दुःखों से प्रभावित नहीं होते ॥ २३ ॥

१ घ० पु० सर्वजनातिघोरे तेन—इति पाठः ।

२ ग० पु० शम्भो—इति पाठः ।

३ ग० पु० देवे—इति पाठः ।

* (क) नोट—शम्भु, गुह्य, पर, विश्वमहेश्वर, शिव—ये सब भगवान् शंकर के नाम हैं ।

(ख) शब्दार्थ—शम्भु = कल्याणकारी । गुह्य = रहस्यपूर्ण स्वरूप वाला । पर = सब से बड़ा अथवा परिपूर्ण । विश्वमहेश्वर = संसार के स्वामी, जगदीश । शिव = कल्याणकारी । भक्ति = समावेश रूपिणी ।

(प्रभो = हे प्रभु !)
(अहं = मैं)
तारं = ज़ोर से (अर्थात् ऊँची आवाज़ में)
विरौमि = चिल्ला-चिल्ला कर कहता हूँ
यत् = कि
मे = मुझे
त्वयि = आप
परे = परिपूर्ण (प्रभु) के प्रति
समुत्कटा = अत्यन्त प्रबल
भक्तिः = (समावेश रूपिणी) भक्ति
अस्तु = हो,
परं = अत्यन्त
तीव्रा = धारावाही (अर्थात् कभी न रुकने वाली)
भक्तिः = भक्ति
(अस्तु = हो,)
भक्तिः = भक्ति,
भक्तिः = भक्ति,
नाम = सचमुच
भक्तिः = (केवल) भक्ति हो ॥ २५ ॥

वीप्सा[1] समावेशवैवश्यं प्रथयति । परं तीव्रा—धाराधिरूढा[2] । समुत्कटा—अभ्यासाद्यनपेक्षं प्रदीप्ताग्निज्वालावज्झटित्युल्लसन्ती । युक्तं चैतत् ॥

यतोऽसि सर्वशोभानां प्रसवावनिरीश तत् ।
त्वयि लग्नमनर्घं स्याद्रत्नं वा यदि वा तृणम् ॥२६॥

(क) शब्दार्थ—

ईश = हे स्वतन्त्र ईश्वर !
यतः = चूँकि
(त्वं = आप)
सर्व- = सारी
शोभानां = शोभाओं की
प्रसव-अवनिः = जन्म-भूमि (अर्थात् उत्पत्ति का स्थान)
असि = हैं,
तद् = इसलिये
रत्नं वा = (प्रत्येक पदार्थ, चाहे वह) रत्न (जैसा उत्कृष्ट) हो
यदि वा = अथवा

(ख) भावार्थ—

ईश = हे स्वतन्त्र ईश्वर !
यतः = चूँकि
(त्वं = आप)
सर्व- = सम्पूर्ण
शोभानां = चित्-प्रकाश की
प्रसव-अवनिः = जन्म-भूमि (अर्थात् उत्पत्ति का स्थान)
असि = हैं,
तद् = इसलिये (आपका प्रत्येक भक्त),
रत्नं वा = (चाहे वह) जाति से रत्न के समान उत्कृष्ट (अर्थात् उत्तम चरित्र वाला) हो
यदि वा = अथवा

१ क० पु० वीप्सायामावेशवैवश्यं—इति पाठः ।
२ ग० पु० धारारूढा—इति पाठः ।

(क) शब्दार्थ—

तृणं = तिनका (जैसा निकृष्ट) हो,

त्वयि = आपके साथ

लग्नं = लगने पर (अर्थात् स्पर्श पाने पर)

अनर्घं = अमूल्य

स्यात् = बन जाता है ॥ २६ ॥

(ख) भावार्थ—

तृणं = तिनके के समान निकृष्ट (अर्थात् नीच, तुच्छ चरित्र वाला) हो,

त्वयि = आप चित्स्वरूप के साथ

लग्नं = लगने पर (अर्थात् समावेश का सम्बन्ध प्राप्त करने पर)

अनर्घं = अमूल्य (अर्थात् अलौकिक)

स्यात् = बन जाता है ॥ २६ ॥

असि त्वं यतः सर्वासां शोभानां [1]दीप्तीनां च प्रसवभूः अतो लोकापेक्षया यद्[2]रत्नमस्ति—जात्युत्[3]कृष्टं, तृणं वेति—अनुपादेयं वा, तत्त्वयि चेल्लग्नं—समावेशेन सम्बद्धं तदनर्घमेव भवति ॥ २६ ॥

आवेदकादा च वेद्याद्येषां संवेदनाध्वनि ।
भवता न वियोगोऽस्ति ते जयन्ति भवज्जुषः ॥ २७ ॥

(**ईशान** = हे स्वामी !)

संवेदन- = संविद् (अर्थात् ज्ञान) के

अध्वनि = मार्ग में

आ वेदकात् = ज्ञाता (की अवस्था) से लेकर

आ च वेद्यात् = ज्ञेय (की अवस्था) तक (अर्थात् इस सारी यात्रा में)

येषां = जिनको

भवता = आप (आनन्द-स्वरूप) से

वियोगः = (कभी) वियोग

न = नहीं

अस्ति = होता (अर्थात् जो कभी आप से भिन्न नहीं रहते),

ते = उन

भवत्- = आपके

जुषः = प्रेमी सेवकों (अर्थात् भक्तों) की

जयन्ति = जय हो ॥ २७ ॥

संवेदनाध्वनि—संविन्मार्गे, वेद्यवेदकक्षोभेऽपि येषां त्वया न वियोगः, ते भवन्तं प्रीत्या सेवमाना जयन्ति ॥ २७ ॥

संसारसदसो बाह्ये कैश्चित्त्वं परिरभ्यसे ।

१ ख० पु० दीप्तानाम्—इति पाठः ।

२ घ० पु० यद्रत्नमिति—इति पाठः ।

३ क० पु० जात्युत्कर्षणम्—इति पाठः ।

स्वामिन्परैस्तु तत्रैव ताम्यद्भिस्त्यक्तयन्त्रणैः ॥ २८ ॥

स्वामिन् = हे भगवान् !
कैः-चित् = कई (अर्थात् *निमीलन-समाधिनिष्ठ योगी)
संसार- = संसार रूपी
सदसः = सभा के
बाह्ये = बाहर (अर्थात् जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति की अवस्थाओं को छोड़कर तुरीय अवस्था में आँखें बन्द करके)
त्वं = आपका
परिरभ्यसे = आलिङ्गन करते हैं,
तु = किन्तु
परैः‡ = दूसरे (अर्थात् उन्मीलन-समाधि-निष्ठ योगी)
ताम्यद्भिः = (आपके गाढ़ अनुराग से) विवश होकर
त्यक्त-यन्त्रणैः = और (ध्यान आदि सभी नियमों के) कष्ट को छोड़कर
तत्र एव = वहीं (अर्थात् संसार रूपी सभा के बीच में) ही (प्रकट रूप में संसार के व्यवहार में लगे हुये और बिना आँखें बन्द किये आप में लय होते हैं) ॥ २८ ॥

संसारसदसो बाह्ये—संसारसभामुल्लंघ्य नियत एव पदे। कैश्चिदिति—द्वादशान्तादिपदस्थैः निमीलनसमाधिपरैर्योगिभिः, परिरभ्यसे—समालिङ्ग्यसे। परैः—अनुभवतो युक्तितत्त्वज्ञतयोन्मीलनसमाधानविदग्धैः, पुनस्तत्रैव—संसारसभामध्ये एव। त्यक्तयन्त्रणैः—परिहृतध्यानोच्चारकरणाद्यायासैः। ताम्यद्भिः—गाढानुरागविवशैः; गाढानुरागिणां हीदृश्येव स्थितिः ॥ २८ ॥

पानाशनप्रसाधन-
सम्भुक्तसमस्तविश्वया शिवया।
प्रलयोत्सवसरभसया
दृढमुपगूढं शिवं वन्दे ॥ २९ ॥

---

* निमीलन-समाधि = वह समाधि, जिस में योगी आँखें बन्द करके सभी इन्द्रियों को अन्तर्मुख करके आत्मसुख का अनुभव करता है।

‡ उन्मीलन-समाधि = वह समाधि, जिसमें आँखें बन्द करने की ज़रूरत नहीं पड़ती।

(क) शब्दार्थ—

पान- = पीने (अर्थात् संसार की स्थिति करने),
अशन- = खाने (अर्थात् संहार करने)
प्रसाधन- = तथा सजाने (अर्थात् सृष्टि करने) से
सम्भुक्त-समस्त-विश्वया = सारे जगत का पालन और भोग करने वाली
(**एवं** = और)
प्रलय- = प्रलय के
उत्सव- = उत्सव से
सरभसया = विकसित बनी हुई
शिवया = (परा शक्ति रूपिणी) पार्वती से
दृढम् = ज़ोर से
उपगूढं = आलिंगित
शिवं = चिद्भैरवनाथ को
वन्दे = मैं प्रणाम करता हूँ ॥ २९ ॥

(ख) भावार्थ—

पान- = (रक्त आदि के) पीने,
अशन- = (मांस आदि के) खाने
प्रसाधन- = तथा (हड्डियों आदि के) सजाने (अर्थात् आभूषण के काम में लाने) से
सम्भुक्त-समस्त-विश्वया = (छत्तीस तत्त्वों से युक्त) सारे जगत को भोगने तथा अपने में लय करने वाली
(**एवं** = और)
प्रलय-उत्सव- = प्रलय के उत्सव पर (संहारकर्त्री की पदवी पर बैठकर सारे जगत को अपने में करने की क्रीडा में)
सरभसया = उत्सुकता से लगी हुई
शिवया = (पराशक्ति रूपिणी) पार्वती से
दृढम् = ज़ोर से
उपगूढं = आलिंगित
शिवं = शिव को
वन्दे = मैं प्रणाम करता हूँ (अर्थात् उसमें समावेश करता हूँ) ॥२९॥

शिवया दृढमुपगूढं—परशक्त्या दृढमाश्लिष्टं, शिवं—चिद्भैरवं, वन्दे—नौमि[1] समाविशामीति यावत्। कीदृश्या? पानाशनप्रसाधनसम्भुक्तसमस्तविश्वया—पानेन—रक्षणेन स्थित्या, अशनेन—कवलीक-[2]

१ ग० पु० स्तौमि—इति पाठः।
२ ख० पु० कवलीकारात्मना—इति पाठः।

रणात्मना संहारेण, प्रसाधनेन—प्रकर्षेण सिद्धिसंपादिना[1] सर्गेण च, सम्यक् भुक्तं—पालितमभ्यवहृतं च, तथा समस्तं सम्यक् क्षिप्तं विश्वं यया तुर्यरूपया श्रेयः स्वभावया शिवया। अत एव प्रलयोत्सवेन—सृष्टि[2]-स्थितिसंहारिणामपि—संहरणात्मनाभ्युदयेन सरभसया—सातिशयं स्फुरन्त्या[3]। तथा पानेन—साराहरणेन, अशनेन—अवशिष्टशिल्कप्राय[4]-वस्तुभक्षणेन, प्रसाधनेन—एतद्वशिष्टसंस्कारसंहरणात्मना चित्प्रमातृतोत्सेकमयेन संभुक्तं—कवलितं समस्तं संस्कारशेषमपि विश्वं यया, अत एव विश्वस्य प्रलयोत्सवे सरभसया। बाह्यक्रमेणापि,—रक्तादेः[5] पानेन, मांसादेरशनेन, अस्थ्यादेः प्रसाधनेन—भूषणताकरणेन, सम्भुक्तं—स्वोपभोगपात्रीकृतं[6] सम्यगस्तं चात्मन्येव क्षिप्तं—समस्तं च षट्त्रिंशत्तत्त्वमयं विश्वं यया। प्रलयोत्सवे—कल्पितसंहर्तृपदप्रलीनताकरणक्रीडायां सरभसया—प्रोद्युक्तया। अनुरणनशक्त्यापि पानचर्वणमण्डनैः सम्भुक्तं—सम्भोग्यतां नीतं समस्तं विभवरूपं विश्वं यया सुन्दर्या सा प्रकर्षेण लयोत्सवे—उभयानन्दसमापत्त्यात्मनि सरभसया सती शक्तिमन्तमाश्लिष्यन्ती भवति ॥ २९ ॥

परमेश्वरता जयत्यपूर्वा
तव विश्वेश[7] यदीशितव्यशून्या।
अपरापि तथैव ते यथेदं
जगदाभाति यथा तथा न भाति ॥ ३० ॥

विश्वेश = हे जगत्-प्रभु ! परमेश्वरता = (परम-शिव रूपिणी) बड़ी ईश्वरता
तव = आप की

---

१ ख० पु० सिद्धिसंपदादिना—इति पाठः।

२ ग० पु० सृष्टिस्थितिसंहाराणामपि—इति पाठः।

३ घ० पु० स्फारयन्त्या—इति पाठः।

४ ग० घ० पु० शल्कप्राय—इति पाठः।

५ ख० पु० तक्रादेः—इति पाठः।

६ घ० पु० स्वोपयोगपात्रीकृतम्—इति पाठः।

७ ख० पु० सर्वेश—इति पाठः।

अपूर्वा = अनूठी
जयति, = जय-जय-कार के योग्य है,
यद् = क्योंकि
(**इयम्** = यह)
ईशितव्य- = किसी के अधीन
शून्या = न रहने वाली
(**अस्ति** = है ।)
तथैव = उसी प्रकार
ते = आप की
अपरा = (सदाशिव-ईश्वर रूपिणी) दूसरी
(**ईश्वरता** = ईश्वरता)
अपि = भी
(**अपूर्वा जयति** = अनूठी और जय-जय-कार के योग्य है,)
यया = जिस (के प्रभाव) से
इदं = यह
जगत् = जगत
यथा = (सामान्य रूप में भेद-प्रथा के कारण लोगों को) जैसा (अर्थात आप से भिन्न)
आभाति = दिखाई देता है,
तथा = वैसा (आप के भक्तों को)
न भाति = दिखाई नहीं देता, (अर्थात् आप के भक्त-जन इस जगत को स्वरूप से अभिन्न ही देखते हैं)॥३०॥

हे विश्वेश ! तव अपूर्वा—परमा—प्रकृष्टा परमशिवरूपा ईश्वरता जयति । यद्—यस्मादियमीशितव्येन—भिन्नेन ईशनीयेन वस्तुना शून्या स्वात्मसात्कृताशेषविश्वत्वात् । अपरापि परमशिवापेक्षया स्थूलापि सदाशिवेश्वररूपा तव संबन्धिनीश्वरता तथैवेति—अपूर्वा जयति—इत्यर्थः, ययेदं जगद्यथेति—नीलसुखादिदेहादिभेदेन आभाति, तथा—तेनैव प्रकारेण भासमानं सत् अहन्ताप्रकाशसमरसीभूतत्वात्—

'एवमात्मन्यसत्कल्पाः प्रकाशस्यैव सन्त्यमी ।
जडाः प्रकाश एवास्ति स्वात्मनः स्वपरात्मभिः ॥'

इति स्थित्या न भाति—प्रकाश एव भगवान् सदाशिवादिरूपो भातीत्यर्थः ॥ ३० ॥ इति शिवम् ॥

इति श्रीमदुत्पलदेवाचार्यविरचितस्तोत्रावलौ पाशानुद्भेदनाम्नि षोडशे स्तोत्रे श्रीक्षेमराजाचार्यविरचिता विवृतिः ॥ १६ ॥

ॐ तत् सत्

अथ

दैन्यक्रीडाबहुमाननाम सप्तदशं स्तोत्रम्

अहो कोऽपि जयत्येष स्वादुः पूजामहोत्सवः ।
यतोऽमृतरसास्वादमस्रूण्यपि ददत्यलम् ॥ १ ॥

अहो = अहो !
एषः = इस (अर्थात् अनुभवसिद्ध),
कोऽपि = अलौकिक
(च = तथा)
स्वादुः = आनन्दमय
पूजा- = (समावेशात्मक) पूजा के
महोत्सवः = महान् उत्सव की
जयति = जय हो,
यतः = जिस (उत्सव के प्रभाव) से
अस्रूणि = (बहे हुए) आँसू
अपि = भी
अमृत-रस- = (परमानन्द रूपी) अमृत-रस के
आस्वादम् = चमत्कार को
अलं = पूर्ण रूप में
ददति = प्रदान करते हैं ॥ १ ॥

एष इति—अनुभवसाक्षिकः । स्वादुः—आनन्दमयः । [3]कोऽपीति—समावेशात्मा पूजामहोत्सवो जयति । यतः—पूजामहोत्सवात्, अस्रूणि—बाष्पा अपि अमृतास्वादमलं ददति—आनन्दप्रभवाच्चमत्कारमेव पुष्णन्ति ॥ १ ॥

व्यापाराः सिद्धिदाः सर्वे ये त्वत्पूजापुरःसराः ।
भक्तानां त्वन्मयाः सर्वे स्वयं सिद्धय एव ते ॥ २ ॥

---

१ ख० पु० स्वादु—इति पाठः ।
२ ग० घ० पु० अश्रूण्यपि—इति पाठः ।
३ घ० पु० कोऽपि—इति पाठः ।
४ ख० पु० पूजोत्सवो—इति पाठः ।

(**भगवन्** = हे परमेश्वर !)
त्वत्- = आप की
पूजा- = पूजा के
पुरः सराः = सम्बन्ध में
ये = जो
व्यापाराः = कर्म
(**लोकेन क्रियन्ते** = लोगों से किए जाते हैं)
(**ते** = वे)
सर्वे = सभी
सिद्धिदाः = सिद्धि-दायक
(**भवन्ति** = होते हैं ।)
(**किन्तु** = किन्तु)
भक्तानां = (समावेशात्मक भक्ति वाले) भक्त-जनों के लिए
ते = वे
सर्वे = सभी (पूजा के कर्म)
त्वत्-मयाः = आप से अभिन्न
(**अतः** = और इसी लिए)
स्वयम् एव = आप ही
सिद्धयः (**भवन्ति**) = सिद्धियाँ होते हैं (अर्थात् भक्तों के लिए पूजा के साधन और साध्य, दोनों में कोई अन्तर नहीं होता) ॥ २ ॥

ये त्वत्पूजोपक्रमव्यापारास्ते तावत्सिद्धिदाः । भक्तानां तु साक्षात् त[1] एव सिद्धयः—त्वन्मयत्वेन प्रकाशमानत्वात् ॥ २ ॥

सर्वदा सर्वभावेषु युगपत्सर्वरूपिणम् ।
[2]त्वामर्चयन्त्यविश्रान्तं ये ममैतेऽधिदेवताः ॥ ३ ॥

(**प्रभो** = हे ईश्वर !)
ये = जो (भक्त-जन)
सर्वदा = सदा
सर्वभावेषु = सभी दशाओं में
अविश्रान्तं = लगातार
युगपत् = एक साथ
सर्व- = सभी
रूपिणं = रूपों में रहने वाले
त्वाम् = आप की
अर्चयन्ति = पूजा करते हैं,
एते = वे
मम = मेरे
अधिदेवताः = इष्ट-देव
(**सन्ति** = हैं ! —अर्थात् मैं आप के भक्तों का दास हूँ) ॥ ३ ॥

युगपत्सर्वरूपिणम्—अक्रमक्रोडीकृताशेषनिर्भरं त्वां सर्वकालं सर्वत्र

१ ख० पु० साक्षादेव सिद्धयः—इति पाठः ।
२ ख० ग० पु० अर्चन्ति त्वामविश्रान्तम्—इति पाठः ।

ये अविश्रान्तं कृत्वा अर्चयन्ति[1] ते मम अधिष्ठातृदेवतारूपाः[2] ॥ ३ ॥

ध्यानायासतिरस्कारसिद्धस्त्वत्स्पर्शनोत्सवः ।
पूजाविधिरिति ख्यातो भक्तानां स सदास्तु मे ॥ ४ ॥

(**भगवन्** = हे भगवान् !)
ध्यान- = ध्यान (आदि बाहरी साधनों) के
आयास- = प्रयास को
तिरस्कार- = छोड़ कर ही (अर्थात् उस के बिना ही)
सिद्धः = सिद्ध होने वाला
(**यः** = जो)
त्वत्- = आप (चित्स्वरूप) के
स्पर्शन- = स्पर्श का
उत्सवः = उत्सव (अर्थात् समावेश)
(**अस्ति** = है,)
(**सः एव** = वही)
भक्तानां = भक्त-जनों के लिए
पूजा-विधिः = 'पूजा की विधि'
इति = इस नाम से
ख्यातः = प्रसिद्ध है ।
सः = वही (उत्सव)
मे = मुझे
सदा = सदा
अस्तु = प्राप्त होता रहे ॥ ४ ॥

ध्यानमुच्चारकरणादीनप्युपलक्षयति । तेन उच्चारकरणध्यानाद्यायासस्य तिरस्कारेण—अपहस्तनेन यस्त्वत्स्पर्शनोत्सवः सिद्धः—प्रयत्न[3]सम्पन्नः, स एव भक्तानां पूजाविधिरिति ख्यातः । यथोक्तं—

'निर्विकल्पे महाव्योम्नि सा पूजा ह्यादराल्लयः ॥' वि० भै०, श्लो० १४७ ॥

इत्येवम्[4] । स एव पूजाविधिर्मम सदास्तु ॥ ४ ॥

भक्तानां समतासारविषुवत्समयः सदा ।
त्वद्भावरसपीयूषरसेनैषां सदार्चनम्[5] ॥ ५ ॥

---

१ क० ख० पु० अर्चन्ति—इति पाठः ।
२ ग० पु० अधिष्ठातृदेवरूपाः—इति पाठः ।
३ ख० पु० अप्रयत्नसम्पन्नः—इति पाठः ।
ग० पु० प्रयत्नसिद्धः—इति च पाठः ।
४ घ० पु० इत्येव—इति पाठः ।
५ ख० पु० तदर्चनम्—इति पाठः ।

(**प्रभो** = हे स्वामी !)
भक्तानां = भक्त-जनों के लिये
समता- =(दिन और रात की) समता है
सार- = सार जिसका, ऐसा
विषुवत्-* = विषुवत् नामक
समयः = समय
सदा = सदा (ही)
(**अस्ति** = बना रहता है)
एषां = और इन भक्तों को
त्वद्- = आपकी
भाव- = (समावेशात्मक) भक्ति के
रस- = रस रूपी
पीयूष-रसेन = अमृत-रस से
सदा = सदैव
अर्चनं = (वह विषुवत्-कालीन) पूजा
(**भवति** = हुआ करती है) ॥ ५ ॥

विषुवति पूजा कर्त्तव्यत्वेनाम्नाता, स च विषुवत्समयः शिवैक्यप्रथात्मसमतासारो भक्तानां सदैवास्ति, तथा त्वद्भावनारस एव पीयूषरसः, तेन सदैषामर्चनमस्ति ॥ ५ ॥

यस्यानारम्भपर्यन्तौ न च कालक्रमः प्रभो ।
पूजात्मासौ क्रिया तस्याः कर्तारस्त्वज्जुषः परम् ॥६॥

प्रभो = हे प्रभु !
यस्य = जिसके
अनारम्भ-पर्यन्तौ = आदि तथा अन्त नहीं होते
च = और
(**मध्येऽपि** = बीच में भी)
काल-क्रमः = समय का क्रम
न (**अस्ति**) = नहीं होता,
असौ = वही
पूजात्मा = (समावेशात्मक) पूजा की

* [क] ज्योतिष के अनुसार जब सूर्य विषुवत् रेखा पर पहुँचता है तो दिन और रात दोनों बराबर होते हैं। उसी समय को विषुवत्-काल कहते हैं। ऐसा समय वर्ष में दो बार आता है, अर्थात् ६ चेत और ६ असूज को। शास्त्रों में कहा गया है कि वह समय बड़ा पवित्र होता है और उस समय अवश्य विशेष रूप से पूजा करनी चाहिये।

[ख] भावार्थ—हे भगवान् ! आपकी समावेशात्मक भक्ति करने वाले भक्त तो हर समय आपकी विशेष पूजा में लगे रहते हैं। अतः उनके लिये तो प्रत्येक समय ही विषुवत् होता है। उनके लिये पूजा का कोई विशेष समय निश्चित नहीं किया जा सकता।

क्रिया = क्रिया (है) ।
त्वद्-जुषः = (स्वरूप-समावेश के तत्त्व को जानने वाले) आपके भक्त ही
तस्याः = उस क्रिया को
परं = पूर्ण रूप में
कर्तारः = करने वाले
(**भवन्ति** = होते हैं) ॥ ६ ॥

न च कालक्रम इति—मध्येऽपि क्रमवत्ता नास्ति । असौ समावेश-विश्रान्त्यात्मा क्रिया । तस्याश्च त्वज्जुषः त्वत्समावेशतत्त्वज्ञा एव परं कर्तारो नान्ये ॥ ६ ॥

ब्रह्मादीनामपीशास्ते ते च सौभाग्यभागिनः ।
येषां स्वप्नेऽपि मोहेऽपि स्थितस्त्वत्पूजनोत्सवः ॥७॥

(**भगवन्** = हे भगवान् !)
ते = वे (भक्त-जन)
ब्रह्म- = ब्रह्मा
आदीनाम् = आदि देवताओं के
अपि = भी
ईशाः = स्वामी
(**भवन्ति** = होते हैं)
च = और
ते = वे
सौभाग्य-भागिनः = (परमानन्द के रस से भरे रहने के कारण) सौभाग्य-शाली
(**भवन्ति** = होते हैं,)
येषां = जिनके लिये
स्वप्नेऽपि = स्वप्न में भी
मोहे अपि = और मोह में भी (अर्थात् जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति—सभी अवस्थाओं में)
त्वत्- = आपकी
पूजन- = (समावेशात्मक) पूजा का
उत्सवः = उत्सव
स्थितः = बना रहता है ॥ ७ ॥

निःसामान्यमहेश्वरसमावेशशालित्वात् ब्रह्मादीनामपीश्वरास्ते—इति वस्त्वेवैतत् न त्वर्थवादः । सौभाग्यभागिन इति—आनन्दरसनिर्भरत्वात् सर्वस्पृहणीयाः । स्वप्नेऽपि मोहेऽपीति—न केवलं जाग्रति यावत्स्वप्न-सुषुप्तयोरिति स्वरसोदितस्त्वत्स्पर्शनोत्सवः—त्वत्समावेशाभ्युदयः ॥ ७ ॥

जपतां जुह्वतां स्नातां ध्यायतां न च केवलम् ।
भक्तानां भवदभ्यर्चामहो यावद्यदा तदा ॥ ८ ॥

१ क० पु० जाग्रताम्—इति पाठः ।

(**स्वामिन्** = हे स्वामी !)
(**अहो** = अहो !)
भक्तानां = भक्त-जनों के लिये
भवत्- = आपकी
अभ्यर्चा- = पूजा का
महः = उत्सव
न केवलं = न केवल
जपतां = जप,
जुह्वतां = हवन,
स्नातां = स्नान
च = और
ध्यायताम् = ध्यान के समय
(**एव** = ही)
(**भवति** = होता है),
यावत् = बल्कि
यदा तदा = जब देखो तब (अर्थात् सदैव)
(**भवति** = होता रहता है) ॥ ८ ॥

जपध्यानादिपदे तावदीश्वरपूजापरा भवन्ति । भक्ता पुनः सदैव त्वत्पूजनोत्सवाविष्टाः[1] ॥ ८ ॥

भवत्पूजासुधास्वादसम्भोगसुखिनः सदा ।
इन्द्रादीनामथ[2] ब्रह्ममुख्यानामस्ति कः समः ॥ ९ ॥

(**प्रभो** = हे ईश्वर !)
सदा = (जो भक्त) सदा
भवत्- = आपकी
पूजा- = (समावेशात्मक) पूजा रूपी
सुधा- = अमृत के
आस्वाद- = आस्वाद के
सम्भोग- = चमत्कार से
सुखिनः = सुखी बना रहता है, उसके
समः = समान
इन्द्र-आदीनाम् = इन्द्र आदि देवताओं में से
अथ = और
ब्रह्म- = ब्रह्मा आदि
मुख्यानां = मुख्य देवताओं में से
कः = कौन
अस्ति = है ? (अर्थात् ब्रह्मा, इन्द्र आदि देवताओं में से भी कोई उस भक्त की बराबरी नहीं कर सकता) ॥ ९ ॥

भवत्पूजैव सुधास्वादसंभोगस्तेन यः सुखी भक्तिमान्, तस्य ब्रह्मादीनां मध्यात् कः समः ? न कश्चित् । अत्र युक्तिरुक्तैव ॥ ९ ॥

१ घ० पु० त्वत्पूजोत्सवाविष्टाः—इति पाठः ।
२ ख० पु० ब्रह्मादीनामथ—इति पाठः ।

जगत्क्षोभैकजनके भवत्पूजामहोत्सवे ।
यत्प्राप्यं प्राप्यते किंचिद्भक्ता एव विदन्ति तत् ॥ १० ॥

(पार्वतीप्रिय = हे गौरी-पति !)
जगत्- = (भेद-प्रथात्मक) जगत के
क्षोभ- = संहार का
एक- = एक-मात्र
जनके = कारण है, ऐसे
भवत्- = आपकी
पूजा- = (स्वरूप-विमर्शात्मक) पूजा रूपी
महा-उत्सवे = बड़े उत्सव पर
यत्किंचित् = जो कुछ
प्राप्यं = प्राप्त करने योग्य (परमानन्दात्मक अलौकिक वस्तु)
प्राप्यते = प्राप्त की जाती है,
तत् = उसे तो
भक्ताः = (समावेश-शाली) भक्त-जन
एव = ही
विदन्ति = जानते हैं, (अन्य लोग उसे जान नहीं सकते) ॥ १० ॥

जगतः—षट्त्रिंशत्तत्त्वमयस्य स्थूलसूक्ष्मादेर्देहस्य तद्द्वारेण च विश्वस्य, क्षोभं—विगलत्स्वरूपतया वैवश्यमेको[1] जनयति यो भवत्पूजामहोत्सवः, तत्र यत्किंचित्परमानन्दात्मकं पूर्णं स्वं स्वरूपं प्रापणार्हं प्राप्यते तद्भक्ता एव विदन्ति ॥ १० ॥

त्वद्धाम्नि चिन्मये स्थित्वा षट्त्रिंशत्तत्त्वकर्मभिः ।
कायवाक्चित्तचेष्टाद्यैरर्चये त्वां सदा विभो ॥ ११ ॥

विभो = हे व्यापक परमात्मा !
(अहं = मैं)
चिन्मये = चित् रूपी
त्वद्- = आपके
धाम्नि = प्रकाश-स्वरूप में
स्थित्वा = बैठ कर (अर्थात् विश्राम लेकर)
काय- = शरीर,
वाक्- = वाणी
चित्त- = तथा मन की
चेष्टा-आद्यैः = चेष्टाओं आदि रूपी
षट्त्रिंशत्- = छत्तीस
तत्त्व- = तत्त्वों के
कर्मभिः = कर्मों से
सदा = सदा
त्वाम् = आपको
अर्चये = पूजता रहूँ ॥ ११ ॥

१ ख० पु० वैवश्यमेव—इति पाठः ।

धाम—तेजः। षट्त्रिंशत्तत्त्वानां[1] कर्माणि कायवाक्चित्तचेष्टा-ख्यानि, तैः—इत्थं प्रत्यभिज्ञातव्याप्तिकैरहं प्रभो त्वां सदा अर्चये[2]। देहादि षट्त्रिंशत्तत्त्वमयं कठिनत्वद्रवत्वप्रकाशमानत्वादागमेषु[3] बहु[4] प्रतिपादितम्। तथा च त्रिशिरःशास्त्रे—

'सर्वदेवमयः कायः………।'

इत्युपक्रम्य

'पृथिवी कठिनत्वेन द्रवत्वेऽम्भः प्रकीर्तितम्।'

इत्यादि

'त्रिशिरो भैरवः साक्षाद्व्याप्य विश्वं व्यवस्थितः॥'

इत्यन्तमुपदिष्टम्॥ ११॥

भवत्पूजामयासङ्गसम्भोगसुखिनो मम।
प्रयातु कालः सकलोऽप्यनन्तोऽपीयदर्थये॥ १२॥

(**भगवन्** = हे भगवान्!)
भवत्- = (मैं) आपकी
पूजामय- = पूजा में
आसंग- = लगे रहने के
संभोग- = चमत्कार से
सुखिनः = (सदा) सुखी बना रहूँ,
मम = (और फिर ऐसे ही) मेरा
सकलः अपि अनन्तः अपि कालः = सारा समय, चाहे वह असीम भी क्यों न हो,
प्रयातु = बीत जाय;
इयत् (एव) = बस इतनी ही
(**अहम्** = मेरी)
अर्थये = विनती है॥ १२॥

भवत्पूजामयो य आसङ्गःतेन तत्परत्वेन यःसम्भोगस्तेन सुखिनः—निर्वृतस्य मे सकलः—निरवशेषः अनन्तः—निरवधिः कालः प्रयात्विति इयदर्थये न त्वन्यत्॥ १२॥

१ क० पु० षट्त्रिंशत्तत्त्वप्रायाणि—इति पाठः।
२ घ० पु० त्वामर्चये—इति पाठः।
३ ख० पु० प्रकाशमानत्वावगमात्—इति पाठः।
४ ग० पु० बहुषु—इति पाठः।

भवत्पूजामृतरसाभोगलम्पटता[1] विभो।
विवर्धतामनुदिनं सदा च फलतां मम ॥ १३ ॥

विभो = हे व्यापक प्रभु !
मम भवत् - पूजा - अमृत - रस- आभोग - लम्पटता = आपकी (समावेशात्मक) पूजा रूपी अमृत-रस के उपभोग के लिये मेरी तीव्र लालसा
अनुदिनं = दिन प्रतिदिन
विवर्धतां = (उत्तरोत्तर) बढ़ती ही जाय
च = और
सदा = (चरम सीमा को पहुँच कर) सदा
फलताम् = फलती-फूलती रहे ॥१३॥

यावद्यावद्भवत्पूजामृतरससंभोगो मया प्राप्यते तावत्तावदधिकमधिकं तत्र स्पृहयालुता[2] मे वि[3]वर्धतां, तदुत्कर्षसमासादनफलेन च सदा फलतु॥

जगद्विलयसञ्जातसुधैकरसनिर्भरे।
त्वदब्धौ त्वां महात्मानमर्चन्नासीय सर्वदा ॥ १४ ॥

(**प्रभो** = हे स्वामी !)
(**अहं** = मैं)
जगत्- = (भेद-प्रथात्मक) जगत के
विलय- = संहार से
सञ्जात- = उत्पन्न हुये
सुधा- = अमृत-मय
एक-रस- = (आत्मानन्द रूपी) अद्वैत रस से
निर्भरे = भरे हुये
त्वद्- = आप
अब्धौ = (चिदानन्द-) सागर में
सर्वदा = सदा
त्वां = आप
महात्मानम् = महात्मा (अर्थात् विश्व-व्यापक प्रभु) की
अर्चन् = (विमर्शरूपिणी) पूजा
आसीय = करता हुआ ही रहूँ ॥१४॥

---

१ ख० ग० पु० लुम्पटता—इति पाठः।
२ ख० पु० स्पृहणीयालुतामेव—इति पाठः।
३ ग० पु० वर्धताम्—इति पाठः।

जगतः—विश्वस्य विलयेन—संहारेण जातो यः सुधामय एको[1] रसः, तेन निर्भरे—परिपूर्णे त्वत्समुद्रे त्वामेव महात्मानं—विश्वव्यापकं सदा अर्चन् अहमासीय—स्थेयाम् ॥ १४ ॥

अशेषवासनाग्रन्थिविच्छेदसरलं सदा ।
मनो निवेद्यते भक्तैः स्वादु पूजाविधौ तव ॥ १५ ॥

(**परमात्मन्** = हे परमात्मा !)
तव = आपकी
पूजा- = पूजा
विधौ = करते करते
भक्तैः = (आपके) भक्त-जन
अशेष- = सारी
वासना- = वासनाओं रूपी
ग्रन्थि- = गाँठों के
विच्छेद- = कट जाने अर्थात् नष्ट होने से
सरलं = निष्कपट (अर्थात् निर्मल) बना हुआ
स्वादु = (और इसीलिये) सुन्दर
मनः = मन
सदा = सदा
निवेद्यते = (आपको) अर्पण करते हैं ॥ १५ ॥

तव पूजाविधौ भक्तैः, स्वादु—चमत्कारसारं सदा मनो निवेद्यते—त्वय्येवार्प्यते । कीदृक् ? अशेषा ये वासनात्मानो ग्रन्थयो—बन्धास्तेषां विच्छेदेन—विदलनेन सरलं—स्पष्टं; त्यक्तकुसृतिकौटिल्यम् ॥ १५ ॥

अधिष्ठायैव विषयानिमाः[2] करणवृत्तयः ।
भक्तानां प्रेषयन्ति त्वत्पूजार्थममृतासवम् ॥ १६ ॥

(**शिव** = हे कल्याण-स्वरूप प्रभु !)
भक्तानाम् = भक्त-जनों की
इमाः = ये
करणवृत्तयः = (आँख आदि) इन्द्रियों की वृत्तियाँ अर्थात् अधिष्ठातृ-देवियाँ
विषयान् = (रूप आदि) विषयों का
अधिष्ठाय = सेवन करते
एव = ही
त्वत्- = आप की
पूजार्थम् = पूजा के लिये

१ ख० पु० एव रसः—इति पाठः ।
२ ग० घ० पु० विषयानिमान्—इति पाठः ।

अमृत-आसवं = (भीतर चित्-धाम में) अमृतमय मधु

अर्थात् ***प्रेषयन्ति** = भेजती हैं ॥ १६ ॥

इमाः करणवृत्तयोऽपि—चक्षुरादिदेव्यः, विषयान्—रूपादीन् अधिष्ठायैव—आक्रम्यैव, सृष्टिरक्षादिदेवतोदयक्रमेण भक्तानां त्वत्पूजार्थमन्तर् अमृतासवं प्रेषयन्ति ॥ १६ ॥

भक्तानां भक्तिसंवेगमहोष्मविवशात्मनाम् ।
कोऽन्यो निर्वाणहेतुः स्यात्त्वत्पूजामृतमज्जनात् ॥ १७ ॥

‡(**प्रभो** = हे स्वामी !)
भक्ति- = भक्ति की
संवेग- = अत्यन्त तेजी रूपी
महा- = बड़ी
उष्म- = गर्मी से
विवश- = विवश (अर्थात् तप्त) बनी रहती है
आत्मनां = आत्मा जिनकी, ऐसे
भक्तानां = भक्त-जनों के

निर्वाण- = (उस आत्मिक ताप को) बुझाने अर्थात् शान्त करने का
हेतुः = कारण
त्वत्- = आपकी
पूजा- = पूजा रूपी
अमृत- = अमृत में
मज्जनात् = नहाने के सिवा
कः अन्यः = और क्या
स्यात् = हो सकता है ? ॥ १७ ॥

---

* भावार्थ—हे प्रभु ! इन्द्रियों द्वारा किया गया व्यवहार सामान्य लोगों की दशा में अध्यात्म-मार्ग में बड़ी बाधा डालता है, किन्तु आपके भक्तों की दशा में वह परमानन्द प्राप्त करने में योग देता है । जो बाधा औरों के लिए बाधक बनती है, वही आपके भक्तों के लिए साधक बनती है । यही आपकी भक्ति के चमत्कार की विलक्षणता है ॥ १६ ॥

‡ [क] शब्दार्थ—

'विवश' = व्याकुल अर्थात् जलता हुआ ।

निर्वाण = (१) बुझना (२) शान्त होना ।

अमृत = (१) सुधा, (२) जल ।

मज्जन = स्नान, नहाना, डूबना ।

[ख] भावार्थ—हे प्रभु ! जो चीज आग से जल रही हो, उसको जल में डुबो कर ही बुझाया जाता है । इसी प्रकार जिसका मन भक्ति की

भक्तिसंवेगमहोष्मा—भक्त्युद्रिक्ततेजस्तेन विवशात्मनां—प्रज्वलितात्मनां त्वत्पूजामृतमज्जनादन्यो निर्वाणहेतुर्न कश्चित् ॥ १७ ॥

संततं[1] त्वत्पदाभ्यर्चासुधापानमहोत्सवः ।
त्वत्प्रसादैकसम्प्राप्तिहेतुर्मे नाथ कल्पताम्[2] ॥ १८ ॥

नाथ = हे स्वामी !
(**यः** = जो)
त्वत्- = आप (के स्वरूप) की
प्रसाद- = निर्मलता (अर्थात् चिदानन्द) की प्राप्ति का
एक-सम्प्राप्ति-हेतुः=एक मात्र कारण अर्थात् उपाय है
(**सः** = वही)
त्वत्- = आपके
पद- = चरणों की
अभ्यर्चा- = पूजा रूपी
सुधा-पान- = अमृत पान का
महा- = बड़ा
उत्सवः = उत्सव
मे = मुझे
सततं = निरन्तर
कल्पताम् = प्राप्त होता रहे ॥ १८ ॥

त्वत्पदाभ्यर्चा[3]—प्राग्वत् , सैव[4] आनन्दव्याप्तिप्रदत्वात् सुधापानमहोत्सवः । कीदृक् ? त्वत्प्रसादस्य—चिदानन्दात्मकत्व[5]स्वरूपनैर्मल्यस्य एकः संप्राप्तिहेतुर्यः[6] स मे सततं[7] कल्पताम्—घटताम् ॥ १८ ॥

आग से जलता रहता हो, उसकी जलन आपके पूजामृत रूपी जल में डुबकी लगाने से ही बुझ सकती है, किसी और उपाय से नहीं । अर्थात् जिस भक्त का हृदय आपके दर्शन के लिए तड़प रहा हो उसकी वह तड़प समावेश में आपका साक्षात्कार करने पर ही मिट जाती है ॥१७॥

१ क० पु० सन्ततम्—इति पाठः ।
२ घ० पु० कल्प्यताम्—इति पाठः ।
३ ख० पु० त्वत्पदार्चा—इति पाठः ।
४ ख० पु० सदैव—इति पाठः ।
५ ग० पु० चिदानन्दात्मकत्वात्—इति पाठः ।
६ ख० पु० यस्य—इति पाठः ।
७ क० पु० सन्ततम्—इति पाठः ।

अनुभूयासमीशान प्रतिकर्म क्षणात्क्षणम् ।
भवत्पूजामृतापानमदास्वादमहामुदम्[1] ॥ १९ ॥

ईशान = हे स्वतन्त्र ईश्वर !
(**अहं** = मैं)
भवत्- = आप की
पूजा- = पूजा रूपी
अमृत-आपान- = अमृत-पान की
मद्- = मस्ती से युक्त
आस्वाद- = आस्वाद अर्थात् चमत्कार से प्राप्त होने वाले
महामुदं = परम-आनन्द का
प्रतिकर्म = (अपने) प्रत्येक कार्य में
क्षणात्-क्षणम् = प्रतिक्षण (अर्थात् लगातार)
अनुभूयासम् = अनुभव करता रहूँ ॥

प्रतिकर्म—प्रतिव्यापारम्[2] । क्षणात्क्षणं—भूयो भूयः । भवत्पूजामृतापानस्य सम्बन्धी मदप्रधानः—हर्षबहलः[3], आस्वादस्तदुत्थां महामुदं—परमानन्दमनुभूयासम् । आमुखे मदः, पर्यन्ते महती मुत् पूजास्वादस्य च ॥

दृष्टार्थ एव भक्तानां भवत्पूजामहोद्यमः ।
तदैव यदसम्भाव्यं सुखमास्वादयन्ति ते ॥ २० ॥

(**भगवन्** = हे भगवान् !)
भक्तानां = भक्त-जनों के लिये
भवत्- = आपकी
पूजा- = (परा) पूजा का
महा- = बड़ा
उद्यमः = उद्योग
दृष्ट-अर्थः = तुरन्त तथा प्रत्यक्ष रूप में फल दिखाने वाला
एव = ही
(**भवति** = होता है),
यत् = क्योंकि
ते = वे
तदा एव = उसी वक्त (अर्थात् पूजा करते करते ही)
असंभाव्यं = असम्भव (अर्थात् अलौकिक)
सुखम् = (परमानन्द रूपी) सुख का
आस्वादयन्ति = अनुभव करते हैं ॥

---

१ ख० पु० महास्वाद—इति पाठः ।
२ ग० पु० प्रतिव्यापारे—इति पाठः ।
३ ख० पु० हर्षप्रबलः—इति पाठः ।

प्राप्तव्यस्य प्राप्तत्वान्नैषामाकाङ्क्षा क्वचिदस्ति यतस्ततो भक्तानां दृष्टार्थ एव त्वत्पूजायां महानुद्यमः। तथाहि तदैव—पूजासमय एव, असंभाव्यं सुखं—परमानन्दं ते—भक्ता आस्वादयन्ति ॥ २० ॥

यावन्न लब्धस्त्वत्पूजासुधास्वादमहोत्सवः।
तावन्नास्वादितो मन्ये लवोऽपि सुखसम्पदः ॥ २१ ॥

(**वरद्** = हे वर-दाता प्रभु !)
यावत् = जब तक
त्वत्- = आपकी
पूजा- = (परा) पूजा रूपी
सुधा- = अमृत के
आस्वाद- = चमत्कार का
महा- = बड़ा
उत्सवः = उत्सव
न लब्धः = प्राप्त न किया जाय,
तावत् = तब तक
सुख-सम्पदः = (सच्चो अर्थात् समावेश रूपी पारमार्थिक) सुख-सम्पत्ति का
लवः = लेश मात्र
अपि = भी
न आस्वादितः = अनुभव नहीं होता,
*(**इति**) **मन्ये** = मेरा तो यही विचार है ॥ २१ ॥

लवोऽपीत्यत्रेदमाकूतं—लौकिकानि[1] सुखानि असुखान्येव कृत्रिमत्वात्, यस्त्वकृत्रिमः[2] समावेशानन्दः सैव पारमार्थिकी सुखसम्पत् ॥ २१ ॥

भक्तानां विषयान्वेषाभासायासाद्विनैव सा।
अयत्नसिद्धं त्वद्धामस्थितिः पूजासु जायते ॥ २२ ॥

(**स्वयं-श्रेष्ठ** = हे स्वयं-श्रेष्ठ !)
भक्तानां = (आपके) भक्तों को
पूजासु = (समावेश रूपी) पूजा के अवसरों पर
अयत्न- = (ध्यान आदि रूपी) यत्न के बिना ही
सिद्धं = सिद्ध होने वाली (अर्थात् चमक उठने वाली)

---

* सार—हे प्रभु ! संसार के सुख वास्तव में सुख नहीं, दुःख ही हैं। समावेश का आनन्द ही सच्चा सुख है। जब तक उसकी प्राप्ति न हो जाय तब तक सांसारिक सुखों के भोगने से कोई लाभ नहीं ॥ २१ ॥

१ घ० पु० लौकिकसुखानि—इति पाठः।

२ घ० पु० यतस्त्वकृत्रिमः—इति पाठः।

सा त्वद्-धाम-स्थितिः = आपके (चित् रूपी) भवन में वह अलौकिक स्वात्म-स्थिति
विषय- = (फूल, धूप आदि पूजा की) सामग्रियों के
अन्वेष- = ढूंढने के
आभास- = विचार का
आयासात्- = कष्ट उठाये
विना एव = बिना ही (अर्थात् आप ही आप)
जायते = प्राप्त होती है ॥ २२ ॥

पूजासु[1]—समावेशकालेषु ध्यानादियत्नं विना सिद्धं प्रस्फुरन्ती त्वद्धाम्नि[2] स्थितिः, सेति[3]–लोकोत्तरा भक्तानां जायते । कथं ? विषयाणां–कुसुमधूपविलेपनादीनाम् अन्वेषाभासः—मार्गणप्रतीतिः, स एवायासः, तं विनैव—तद्विरहेणेत्यर्थः ॥ २२ ॥

न प्राप्यमस्ति भक्तानां नाप्येषामस्ति दुर्लभम् ।
केवलं विचरन्त्येते भवत्पूजामदोन्मदाः ॥ २३ ॥

(**प्रभो** = हे स्वामी !)
भक्तानां = (आपके) भक्तों के लिये
न = न तो
(**किंचित्** = कुछ)
प्राप्यम् = प्राप्त करने योग्य
अस्ति = होता है,
नापि = और न ही
एषां = इनके लिये
(**किंचित्** = कुछ)
दुर्लभम् = दुर्लभ
अस्ति = होता है ।
एते = ये तो
भवत्- = आप की
पूजा- = (समावेशात्मक) पूजा के
मद- = मद से
उन्मदाः = मतवाले (अर्थात् मस्त)
(**सन्तः** = होकर)
केवलं = केवल (अर्थात् यों ही बिना किसी इच्छा के)
विचरन्ति = विहार करते हैं ॥ २३ ॥

पूर्णशिवात्मकस्वस्वरूपलाभाद्भक्तानां प्रापणीयं दुर्लभं वा न किंचिदस्ति । भक्ताः[4] सेवाक्षीवाश्च केवलमप्रयोजनमेव विचरन्ति ॥ २३ ॥

१ ख० पु० कलासु—इति पाठः ।
२ ग० पु० त्वद्धामनि—इति पाठः ।
३ क० पु० सैव—इति पाठः ।
४ ख० पु० भक्त्यासवक्षीबाश्च—इति पाठः ।

अहो भक्तिभरोदारचेतसां वरद त्वयि ।
श्लाघ्यः पूजाविधिः कोऽपि यो न याच्ञाकलंकितः ॥२४॥

वरद = हे वरदाता प्रभु !
अहो = अहो !
भक्ति- = भक्ति की
भर- = अधिकता से
उदार- = उदार
चेतसां = चित्त वाले
(**भक्तानां** = भक्त-जनों से की गई)
त्वयि = आप की
पूजा- = पूजा की
विधिः = रीति
कोऽपि = अलौकिक
श्लाघ्यः = (तथा) प्रशंसनीय
(**अस्ति** = है),
यः = क्योंकि यह
याच्ञा- = माँगने (के दोष) से
कलंकितः = दूषित
न (**भवति**) = नहीं होती, (अर्थात् आपके भक्त इतने उदार होते हैं कि वे आप वरदाता से भी कुछ नहीं माँगते) ॥ २४ ॥

उदारचेतस्त्वं तत्त्वत एषामेव, ये वरदमपि त्वां न किंचन याचन्ते । कोऽपीति—अलौकिकः ॥ २४ ॥

का न शोभा न को ह्लादः का समृद्धिर्न वापरा ।
को वा न मोक्षः कोऽप्येष महादेवो यदर्च्यते ॥ २५ ॥

यद् = जहाँ
एषः = इस
कः अपि = अलौकिक
महादेवः = (चिदात्मा) महादेव की
अर्च्यते = पूजा की जाती है,
(**तद्** = वहाँ)
का = कौन सी
शोभा = शोभा
न = नहीं
(**भवति** = होती),
कः = कौन सा
ह्लादः = आनन्द
न (**भवति**) = नहीं होता,
वा = तथा
का = कौन सी
परा = उत्कृष्ट (अर्थात् पारमार्थिक)
समृद्धिः = सुख-सम्पत्ति
न (**भवति**) = नहीं होती
वा = और
कः = कौन सा
मोक्षः = मोक्ष
न (**भवति**) = नहीं होता (अर्थात् उसी दशा में परम-अद्वय-रूप मोक्ष की प्राप्ति होती है) ॥२५॥

कोऽपीति चिदात्मा महेश्वरो यदर्च्यते, सा शोभा—दीप्तिः का न—सर्वैवेत्यर्थः। एवमन्यत्। को वा न मोक्ष इति—साङ्ख्यवैष्णवशाक्तनाकुलपाशुपतादिमोक्षातिशायिनः परमानन्दसारस्य विश्वपरिपूर्णतामयस्य मोक्षस्य लाभात्॥ २५॥

अन्तरुल्लसदच्छाच्छभक्तिपीयूषपोषितम्।
भवत्पूजोपयोगाय शरीरमिदमस्तु मे॥ २६॥

(**शंकर** = हे शंकर!)
अन्तर्- = भीतर (अर्थात् संवित्-पद में)
उल्लसत्- = चमकते हुये
अच्छ-अच्छ- = अत्यन्त निर्मल
भक्ति-पीयूष- = भक्ति-अमृत (अर्थात् समावेशामृत) से
पोषितम् = पाला पोसा गया
इदं = यह
मे = मेरा
शरीरं = शरीर
भवत्- = आपकी
पूजा- = पूजा के
उपयोगाय = काम
अस्तु = आ जाये, (अर्थात् आप चिदानन्द-घन में ही विलीन हो जाय)॥ २६॥

अन्तः—संवित्पदे उल्लसता अच्छाच्छेन—विश्वप्रतिबिम्बक्षमेण भक्तिपीयूषेण—समावेशामृतेन पोषितं—पारदेन[1] ताम्रमिव कालिकाक्षपणेन देदीप्यमानं कल्याणमयीकृतमिदं मम शरीरं भवत्पूजोपयोगायास्तु—समावेशरसविद्धमपि[2] त्वय्येव चिदानन्दघनेऽनुप्रविश्य[3] विलीयताम्॥

त्वत्पादपूजासम्भोगपरतन्त्रः सदा विभो।
भूयासं जगतामीश[4] एकः स्वच्छन्दचेष्टितः॥ २७॥

विभो = हे व्यापक प्रभु!
जगताम्-ईश = हे तीनों लोकों के स्वामी!
(**अहम्** = मैं)

१ क० पु० परतेन—इति पाठः।

२ ग० पु० सिद्धमपि—इति पाठः।

३ ख० पु०—प्रविश्य—इति पाठः।

४ घ० पु० जगदीशान—इति पाठः।

एकः = एक ही (अर्थात् अद्वितीय रूप में)
स्वच्छन्द- = स्वतन्त्र
चेष्टितः = व्यवहार वाला (अर्थात् पूर्ण रूप में स्वतन्त्र)
(सन् अपि = होते हुये भी)
सदा = सदा
त्वत्- = आपके
पाद- = चरणों की
पूजा- = पूजा का
संभोग- = आनन्द उठाने में
परतन्त्रः = परतन्त्र ही
भूयासम् = बना रहूँ ॥ २७ ॥

जगतां—कालाग्न्यादिसदाशिवान्तानाम् ईशः—स्वामी। स्वतंत्रोऽ त्वत्पादपूजाह्लादपरतन्त्रः[1] स्याम्। एतदेव हि तदसाधारणं जगदैश्वर्यं स्वातंत्र्यं च यत् त्वत्पादसमावेशवैवश्यम्। अन्यपादे[2] पारतंत्र्येऽपि निःसामान्यमैश्वर्यं स्वातंत्र्यं चेत्यद्भुतरसध्वनिः॥ २७॥

त्वद्ध्यानदर्शनस्पर्शतृषि केषामपि प्रभो।
जायते शीतलस्वादु भवत्पूजामहासरः॥ २८॥

प्रभो = हे स्वामी !
त्वद्- = आपके
ध्यान- = ध्यान में
दर्शन- = (आप चिदानन्द-घन के) दर्शन
स्पर्श- = और स्पर्श की
तृषि = लालसा
(सत्यां = होने पर)
केषाम्-अपि = कई (आपके कृपा-पात्र भक्त-जनों) के लिये
शीतल- = (संताप-हारक होने के कारण) शीतल
स्वादु = और (परमानन्द-प्रद होने से) अत्यन्त मधुर
भवत्- = आपकी
पूजा- = (समावेश-मयी) पूजा रूपी
महा- = बड़ा
सरः = सरोवर
जायते = उत्पन्न होता है, (जिसमें डुबकी लगाने पर उन भक्तों की प्यास मिट जाती है) ॥ २८ ॥

'परमेश्वरं चिदानन्दघनमपि पश्येयं[3], स्पृशेयम्[4]'—इति यत्त्वद्ध्याने

१ क० पु० पूजापरतन्त्रः—इति पाठः।
२ ग० पु० अन्यपादम्—इति पाठः।
३ ख० पु० पश्येयमपि—इति पाठः।
४ घ० पु० स्पृश्ये—इति पाठः।

दर्शनस्पर्शनतृट्[1], तस्यां सत्यां केषामपीति—साक्षात्त्वदनुगृहीतानां शीतलस्वादु भवत्पूजामहासरा जायते—सन्तापहारिसचमत्कारत्वदर्चा-परिपूर्णः समुद्रो नव एवोत्पद्यते इत्यर्थः ॥ २८ ॥

यथा त्वमेव जगतः पूजासम्भोगभाजनम् ।
तथेश[2] भक्तिमानेव पूजासम्भोगभाजनम् ॥ २९ ॥

ईश = हे स्वामी !
यथा = जैसे
जगतः = (इस सारे) जगत में
त्वम् = (केवल) आप
एव = ही
पूजा- = (समावेश-मयी) पूजा के
संभोग- = आनन्द के
भाजनम् = पात्र (अर्थात् आश्रय)
(**असि** = हैं),
तथैव = वैसे ही
भक्तिमान्=(केवल समावेशशाली) भक्त
एव = ही
पूजा- = (ऐसी) पूजा के
सम्भोग- = आनन्द का
भाजनं = पात्र (अर्थात् अधिकारी)
(**भवति** = होता है)* ॥ २९ ॥

जगतः—विश्वस्य मध्यात् त्वमेव व्याख्यातरूपस्य पूजासंभोगस्य भाजनम्—आश्रयो यथा ईश—स्वामिन्, तथा भक्तिमानेव—समावेश-शाल्येव तादृशः पूजासम्भोगस्य भाजनं—निर्वर्तक इत्यर्थः ॥ २९ ॥

कोऽप्यसौ जयति स्वामिन्भवत्पूजामहोत्सवः ।
षट्त्रिंशतोऽपि तत्त्वानां क्षोभो यत्रोल्लसत्यलम् ॥ ३० ॥

स्वामिन् = हे प्रभु !
असौ कोऽपि भवत्-पूजा-महा-उत्सवः = आपकी (समावेश-मयी) पूजा के उस अलौकिक बड़े उत्सव की
जयति = जय हो,

---

1 ख० पु० दर्शनस्पर्शने—इति पाठः ।

२ क० पु० तथैव—इति पाठः ।

* भावार्थ—हे प्रभु ! जैसे समावेशमयी पूजा केवल आपकी होती है, किसी और की नहीं हो सकती, वैसे ही केवल आपका भक्त ही ऐसी पूजा के सुफल अर्थात् समावेश में साक्षात्कार का आनन्द उठाता है, कोई और नहीं ॥ २९ ॥

यत्र = जिसमें
षट्त्रिंशतः = छत्तीस
तत्त्वानाम् = तत्त्वों का
अपि = भी
क्षोभः = (संविद्रूपी आग से जल कर भस्म होने का) आवेग
अलम् = पूर्ण रूप में
उल्लसति = चमक उठता है ॥ ३० ॥

कोऽपीति—समावेशशाली, असाविति—स्वामिनि स्फुरितः, षट्त्रिंशतोऽपीति[1]—देहाश्रयाणां तद्द्वारेण तद्बाह्यानां तत्त्वानां, क्षोभ इति—संविदग्निप्लोषवैषम्यम्[2] ॥ ३० ॥

नमस्तेभ्यो विभो येषां भक्तिपीयूषवारिणा ।
पूज्यान्येव भवन्ति त्वत्पूजोपकरणान्यपि ॥ ३१ ॥

विभो = हे व्यापक प्रभु !
येषां = जिनके लिये
त्वत्- = आपकी
पूजा- = पूजा की
उपकरणानि=(फूल आदि) सामग्रियाँ
अपि = भी
भक्ति-पीयूष- = भक्ति-अमृत रूपी
वारिणा = जल से (अर्थात् समावेशामृत के रस से)
पूज्यानि एव भवन्ति = (आप्लावित हो कर आप चिदानन्दघन को प्रकट करने में योग देती हैं और इसीलिये) पूजनीय ही बन जाती हैं,
तेभ्यः = उन (भक्त-जनों) को
नमः = नमस्कार हो ॥ ३१ ॥

त्वत्पूजार्थमुपकरणानि[3]—कुसुमादीनि येषां भक्तिपीयूषवारिणा—समावेशामृतरसेन हेतुना पूज्यानि भवन्ति—त्वदाप्लावनेन[4] शिवताभिव्यक्तेः पूजार्हाणि जायन्ते, तेभ्यो[5] नमः ॥ ३१ ॥

---

१ ख० पु० षट्त्रिंशतोऽपि—इति पाठः ।
२ ख० पु० संविदग्निप्लोषवैवश्यम्—इति पाठः ।
३ ग० पु० त्वत्पूजोपकरणानि च—इति पाठः ।
४ ख० पु० तदाप्लावनेन—इति पाठः,
ग० पु० तदाप्लवेन—इति च पाठः ।
५ ख० पु० तेभ्योऽपि नमः इति पाठः ।

पूजारम्भे विभो ध्यात्वा मन्त्राधेयां त्वदात्मताम् ।
स्वात्मन्येव परे भक्ता मान्ति हर्षेण न क्वचित् ॥३२॥

विभो = हे व्यापक प्रभु !
पूजा- = पूजा
आरम्भे = करते समय
मन्त्र- = (मनन-त्राण-धर्म) मन्त्र से
आधेयां = सिद्ध होने वाले (अर्थात् प्राप्त होने वाले)
त्वद्- आपके
आत्मतां = चिन्मय स्वरूप का
ध्यात्वा = ध्यान करके (और इस प्रकार शिव-रूप होकर)
भक्ताः = (समावेश-शाली) भक्त-जन
हर्षेण = हर्ष से
परे स्वात्मनि एव = अपने ही परिपूर्ण स्वरूप में
क्वचित् = कभी
न मान्ति = नहीं समाते, (अर्थात् शिव-रूपता को प्राप्त करके फूले नहीं समाते) ॥ ३२ ॥

मन्त्रेण—मननत्राणधर्मेण[1] चिन्माहात्म्यप्रकर्षकेण[2] आधातव्यां[3]—

'शिवो भूत्वा............।' शि० स्तो०, स्तो० १, १४ श्लो० ॥

इति स्थित्या सम्पाद्यां त्वदात्मतां पूजारम्भे ध्यात्वा—चिन्तयित्वा मन्त्रोच्चारयिषात्मकपूजाप्रविवृत्सायामेव[4]—

'अयमेवोदयस्तस्य............।' स्पं० नि० २, श्लो० ६ ॥

इति स्थित्या[5] भक्तिप्रकर्षाच्छिवीभूय भक्ताः स्वात्मन्येव परे—पूर्णरूपे[6] न मान्ति—न वर्तन्ते ॥ ३२ ॥

राज्यलाभादिवोत्फुल्लैः कैश्चित्पूजामहोत्सवे ।
सुधासवेन सकला जगती संविभज्यते ॥ ३३ ॥

---

१ क० पु० धर्मणा—इति पाठः ।

२ घ० पु० चिन्माहात्म्यापकर्षकेन—इति पाठः ।

३ ख० पु० आध्यातव्याम्—इति पाठः ।

४ ग० पु० प्रविवित्सायाम्—इति पाठः ।

५ ग० पु० नीत्या—इति पाठः ।

६ ख० पु० पूर्णरूपेण—इति पाठः ।

प्रभो = हे प्रभु !
उत्फुल्लैः = (महाविकास की युक्ति से श्री भैरवीय मुद्रा में बैठे हुये और इसीलिये) अत्यन्त प्रफुल्लित
कैश्चित् = कुछ (भक्त-जन)
पूजा- = (आपकी समावेश-मयी) पूजा के
महा- = बड़े
उत्सवे = उत्सव पर
सकला = सारे
जगती = (भेदात्मक) जगत को
सुधा- = (चिदानन्द-मय) अमृत रूपी
आसवेन = मधु (के पान) का
संविभज्यते = भागी बनाते हैं, (अर्थात् उसे स्वानन्द-पूर्ण बनाते हैं)
इव = जिस प्रकार
राज्य- = राज्य को
लाभात् = पाकर
उत्फुल्लैः नृपैः—प्रफुल्लित बने हुये (राजा)
महोत्सवे = (राज्य-तिलक के) बड़े उत्सव पर
सकला = सारे
जगती = जगत को
आसवेन = मधु-पान का
संविभज्यते = भागी बनाते हैं, (अर्थात् सभी लोगों को मधु-पान से तृप्त करते हैं)॥ ३३ ॥

उत्फुल्लैरिति—महाविकासयुक्त्या श्रीभैरवीयमुद्रानुप्रविष्टैः, सुधासवेन—अमृतपानेन, जगती—समस्ता वेद्यवेदकभूः, संविभज्यते—परिपूर्यते; स्वानन्दमयीक्रियते[1]। राज्यलाभोत्फुल्लैश्चोत्सवे सर्वा भूः आसवेन संविभज्यते इति स्पष्टम् ॥ ३३ ॥

पूजामृतापानमयो येषां भोगः प्रतिक्षणम् ।
किं देवा उत मुक्तास्ते किं वा केऽप्येव ते जनाः ॥ ३४ ॥

(**स्वामिन्** = हे स्वामी !)
येषां = जिन
(**भक्तानां** = भक्त-जनों को)
पूजा- = (आपकी समावेशमयी) पूजा रूपी
अमृत-आपान-मयः = अमृत-पान का
भोगः = चमत्कार-पूर्ण आनन्द
प्रतिक्षणं = हर वक्त
(**भवति** = प्राप्त होता है)
ते जनाः = वे लोग
किं = क्या
देवाः = देवता
(**सन्ति** = होते हैं)
उत = या
मुक्ताः = मुक्त होते हैं
किं वा = अथवा क्या

---

१ ख० पु० स्वानन्दीक्रियते—इति पाठः ।

ते = वे
के-अपि = (बिल्कुल) अलौकिक
एव = ही
(**सन्ति** = होते हैं ?)* ॥ ३४ ॥

भोगः—चमत्कारः । प्रतिक्षणमिति—अविच्छेदेन । केऽप्येवेति—स्तोत्रशतैरपि स्तोतुं[1]मशक्याः ॥ ३४ ॥

पूजोपकरणीभूतविश्वावेशेन गौरवम् ।
अहो किमपि भक्तानां किमप्येव[2] च लाघवम् ॥ ३५ ॥

अहो = अहो !
भक्तानां = (समावेश-शाली) भक्त-जनों को
पूजा- = (प्रभु की) पूजा की
उपकरणी- = सामग्री का रूप
भूत- = बने हुए
विश्व- = (इस) जगत के
आवेशेन = (अपनी चिद्भूमि में) समा जाने से
किमपि = असामान्य
गौरवम् = गुरुता (अर्थात् भारीपन)
(**भवति** = प्राप्त होती है)
च = और
(**समस्त-द्वैतविगलनात्-** = सारी भेद-प्रथा के नष्ट होने से)
किमपि = असामान्य
एव = ही
लाघवं = लघुता (अर्थात् हलकापन)
(**भवति** = प्राप्त होती है) ॥ ३५ ॥

पूजायां यदुपकरणीभूतं—परिकरीभूतं विश्वं—षट्त्रिंशत्तत्त्वरूपं शरीरं बाह्यं च, तस्य य आवेशः—चिद्भूमावनुप्रवेशस्तेन । अत अहो—आश्चर्यं, किमपि—असामान्यं भक्तानां गौरवं—प्रभावितत्वम् लाघवं च—अप्रयत्नेनैवाशेषस्वीकारित्वम्, अथ च मायीयभेदभारनिवृत्तिः । गौरवे च कथं लाघवमिति विरोधच्छाया ॥ ३५ ॥

---

* भावार्थ—हे प्रभु ! जो लोग निरन्तर आपकी समावेशमयी पूजा में लगे रहते हैं, वे परम-सौभाग्य-शाली होते हैं । उनकी महिमा का वर्णन शब्दों में नहीं किया जा सकता । उनकी जितनी भी प्रशंसा की जाय, कम है ॥ ३४ ॥

१ ख० पु० वक्तुमशक्याः—इति पाठः ।

२ क० पु० किमप्येवं च—इति पाठः ।

पूजामयाक्ष[1]विक्षेपक्षोभादेवामृतोद्गमः ।
भक्तानां क्षीरजलधिक्षोभा[2]दिव दिवौकसाम् ॥३६॥

(नाथ = हे नाथ !)
भक्तानां = भक्त-जनों के लिए
पूजामय- = (आप की) परा पूजा में लगी हुई
अक्ष- = (आँख आदि) इन्द्रियों के
विक्षेप- = इधर-उधर हिलाने (अर्थात् अपने-अपने विषय के ग्रहण करने में लगे रहने) के
क्षोभात् = क्षोभ (अर्थात् व्याकुलता से)
एव = ही
अमृत- = (परमानन्द रूपी) अमृत की
उद्गमः = उत्पत्ति
(भवति = होती है);
इव = जिस प्रकार
दिवौकसां = देवताओं के लिए
क्षीरजलधि- = क्षीर-समुद्र को मथने के समय
(पूजामय- = पूजनीय नागराज वासुकि रूपी)
(अक्ष- = आंख के)
(विक्षेप- = इधर-उधर हिलाने के)
क्षोभात् एव = क्षोभ से ही
अमृत- = अमृत की
उद्गमः = उत्पत्ति
(अभवत् = हुई थी)* ॥ ३६ ॥

पूजामयानि विश्वस्य—संवेद्यस्य चिद्भूमिविश्रान्तिदायीनि देवताचक्रोदयमयानि अक्षाणि—इन्द्रियाणि, तेषां विक्षेपः—स्वविषयग्रहण-

१ घ० पु० पूजामयापविक्षेप—इति पाठः ।
२ ख० पु० क्षोभादेव—इति पाठः ।

* [क] शब्दार्थ—पूजामय = १ पूजा में लगी हुई, २ पूजनीय ।
अक्ष = १ सभी इन्द्रियाँ, २ आँख ।
[ख] भावार्थ—हे प्रभु ! आपके भक्तों की इन्द्रियाँ प्रकट रूप में अपने-अपने विषयों के ग्रहण करने में लगी रहती हैं, पर वस्तुतः ऐसा करते हुये भी वे हर समय आप की पूजा में ही लगी रहती हैं और परमानन्द को उपलब्ध करने में योग देती हैं । इस प्रकार इन्द्रियों का जो व्यवहार सामान्य लोगों की दशा में बाधक होता है, वहीं भक्तों की दशा में साधक सिद्ध होता है । यह तो आप की भक्ति का ही चमत्कार है ॥ ३६ ॥

परत्वं, स एव क्षोभः—व्याकुलता, तत एवाल्पबोधापेक्षया अभिमतादपि क्षोभात् भक्तानाममृतस्य—महानन्दस्य उद्गमः—उल्लासो ग्राह्यग्राहक-विप्लवेऽपि भक्तानां चिदानन्दाभिव्यक्तिरेवेत्यर्थः। तदुक्तं—

'ग्राह्यप्रवृत्तावपि तत्स्वभावः।'

इति। यथा देवतानां क्षीरसमुद्रक्षोभादमृतस्य—सुधाया उल्लासः। अत्रापि पूजामयस्य—पूज्यस्य नागराजात्मनः अक्षस्य—नेत्रस्य यो विक्षेपः—आकर्षापकर्षक्रमः, स एव क्षोभ इति॥ ३६॥

पूजां केचन मन्यन्ते धेनुं कामदुघामिव।
सुधाधाराधिकरसां धयन्त्यन्तर्मुखाः परे॥ ३७॥

(प्रभो = हे स्वामी !)
केचन = कई (भक्त-जन)
पूजां = (समावेश-मयी) पूजा को
काम- = (सारे) मनोरथों को
दुघां = पूर्ण करने वाली काम-धेनु के
इव = समान
मन्यन्ते = मानते हैं,
(**परन्तु** = परन्तु)
परे = अन्य भक्त
अन्तर्मुखाः = अन्तर्मुख
(**सन्तः** = हो कर)
सुधा- = अमृत की
धारा- = धारा से
अधिक- = बढ़-चढ़ कर
रसां = रस से भरी हुई
(**तां पूजामेव कामधेनुं** = उस पूजा रूपिणी कामधेनु का)
****धयन्ति** = दूध पीते हैं, (अर्थात् वह पूजा करते-करते ही परमानन्द का अनुभव करते हैं) ॥३७॥

यथा कामधेनुरभीष्टमत्यर्थं पूरयति तथा केचित्—फलकाङ्क्षिणः पूजां मन्यन्ते—निश्चिन्वन्ति। परे—केचिदेव सुधाधाराधिकः—अमृतधारातिशायी रसः[1] प्रसरो यस्यास्तां पूजामेव कामधेनुमन्तर्मुखाः सन्तो धयन्ति—सद्य एव चमत्कुर्वन्तीत्यर्थः॥ ३७॥

* भावार्थ—सकाम भक्तों को पूजा का फल तो मिलता है और उनका मनोरथ पूरा होता है, पर कुछ काल की प्रतीक्षा के बाद। किन्तु निष्काम तथा अन्तर्मुख भक्त पूजा करते-करते ही उसका परमानन्दरूपी फल प्राप्त करते हैं। उन्हें निमेष मात्र की प्रतीक्षा भी नहीं करनी पड़ती॥

1 क० पु० रसप्रसरः—इति पाठः।

भक्तानामक्षविक्षेपोऽप्येष संसारसंमतः ।
उपनीय किमप्यन्तः पुष्णात्यर्चामहोत्सवम् ॥३८॥

(**स्वामिन्** = हे स्वामी !)
संसार- = संसार रूपता से
सम्मतः = समझा गया
एषः = यह
अक्ष- = इन्द्रियों का
विक्षेपः = व्यवहार
अपि = भी
भक्तानाम् = (समावेश-शाली) भक्त-जनों के लिए
अन्तः = भीतर (अर्थात् हृदय में)
किमपि = अलौकिक
अर्चा- = पूजा के
महा- = बड़े
उत्सवम् = उत्सव को
उपनीय = प्राप्त कराकर
(**तमुत्सवं** = उस उत्सब अर्थात् परमानन्द को)
पुष्णाति = पुष्टि करता है, (अर्थात् उसे बढ़ाता है—उस को स्थायी बनाता है) ॥ ३८ ॥

अक्षविक्षेपः—इन्द्रियप्रसरो लोके संसारत्वेन संमतः, किमपीति—अलौकिकमानन्दरूपम्[1], उपनीय—प्रापय्य भक्तानां—करणेश्वरीचक्रप्रसरसमाविष्टानाम् अर्चामहोत्सवं—पूजास्वरूपविश्रान्तिं[2] पुष्णाति । तथा च ममैव—

'प्रज्ञामन्दरमन्थितासममहाभेदोदधेरुद्गता-
न्यक्षाक्षेपविवर्तनाभिरभितो[3] दुग्धामृतान्यादरात् ।
वञ्चित्वा कुविकल्पदैन्यविरहं भूतीरनादृत्य ये
पायं पायमहो पिबन्ति जगति श्लाघ्यास्त एवामराः ॥'

इति ॥ ३८ ॥

भक्तिक्षोभवशादीश स्वात्मभूतेऽर्चनं त्वयि ।
चित्रं दैन्याय नो यावद्दीनतायाः परं फलम् ॥३९॥

१ ख० पु० आनन्दम्—इति पाठः ।
२ क० पु० पूर्णस्वरूपविश्रांतिम्—इति पाठः ।
३ ग० पु० उद्गतान्यक्षक्षेप—इति पाठः ।
४ ख० पु० अलम्—इति पाठः ।

ईश = हे स्वतंत्र प्रभु !
चित्रं = आश्चर्य है कि
भक्ति- = (समावेश रूपिणी) भक्ति के
क्षोभ- = (प्रसरात्मक) क्षोभ की
वशात् = विवशता से
त्वयि = आप
स्वात्मभूते = स्वात्म-देवता की
अर्चनं = (विमर्श रूपिणी) पूजा
दैन्याय = दीनता के लिए
नो = नहीं
(**भवति** = होती, अर्थात् किसी प्रकार की दीनता उत्पन्न नहीं करती ।)
(**न केवलमेवं**=केवल इतना ही नहीं)
यावत् = बल्कि (वह पूजा)
दीनतायाः=दीनता अर्थात् इच्छा का
परं = परिपूर्ण तथा अन्तिम
फलं = परमानन्द रूप फल
(**ददाति** = प्रदान करती है) ॥३९॥

त्वयि स्वात्मभूते यद्भक्तिक्षोभवशात्—समावेशवैवश्यादर्चनं[1], तच्चित्रम्—आश्चर्यं दैन्याय न भवति—न कांचिद्दीनतां फलति । अन्येषां ह्येतदाकाङ्क्षाप्रधानमेव[2] । न केवलमेवं यावत्प्रत्युत दीनतायाः—लौकिक्याः स्पृहायाः परं—पार्यन्तिकमानन्दरूपं विभवादिफलस्यापि फलभूतं परं च पूर्णं फलम् ॥ ३९ ॥

उपचारपदं पूजा केषांचित्त्वत्पदाप्तये ।
भक्तानां भवदैकात्म्यनिर्वृत्तिप्रसरस्तु सः[3] ॥ ४० ॥

(**जगदीश** = हे जगत के स्वामी !)
केषांचित् = कुछ (अर्थात् भेदनिष्ठ भक्तों) के लिए
पूजा = (आप की) पूजा
त्वत्- = आप के
पद्- = स्थान की
आप्तये = प्राप्ति के लिए
उपचार-पदं = (केवल) एक उपाय
(**भवति** = होती है),
तु = पर
भक्तानां = (समावेश-शाली) भक्त-जनों के लिए
सः* = वह (पूजन)

१ क० पु० अर्चनम्—अशेषस्य विश्वस्यार्चनम्—इति पाठः ।
२ ग० पु० प्रधानमेवम्—इति पाठः ।
३ ग० पु० भवदात्मैक्य—इति पाठः ।
* नोट—'सः' शब्द का सम्बन्ध प्रसर के साथ है, पूजा के साथ नहीं; अतः यह पुंलिंग है ॥ ४० ॥

भवत्- = आप के साथ
ऐकात्म्य- = एकात्मता रूपी
निर्वृत्ति- = आनन्द का
प्रसरः=विकास (ही होता है) ॥४०॥

केषांचिदिति—भेदनिष्ठानां त्वत्पदाप्तये—त्वदीयं पदं प्राप्तुम्, उपचारपदं—प्रक्रियाभूराराधनोपायमात्रमेव[1]। भक्तानां तु भवदैकात्म्यरूपाया निर्वृत्तेः स प्रसरः—विकासः। स इति विधीयमानापेक्षया[2] पुंलिङ्गता॥

अप्यसम्बद्धरूपार्चा भक्त्युन्मादनिरर्गलैः।
वितन्यमाना लभते प्रतिष्ठां त्वयि कामपि ॥ ४१ ॥

(परमात्मन् = हे परमात्मा !)
भक्ति- = (समावेश रूपिणी) भक्ति की
उन्माद- = मस्ती से
निरर्गलैः = निरंकुश बने हुए (अर्थात् नियमों का पालन न करने वाले)
(भक्तैः = भक्त-जनों से)
वितन्यमाना = की जाने वाली
(त्वद्- = आप की)
अर्चा = पूजा
असंबद्ध-रूपा = असंबद्ध रूप वाली (अर्थात् आवाहन, विसर्जन आदि नियमों से रहित)
अपि (सती) = होते हुए भी
त्वयि = आप के स्वरूप में
कामपि = असामान्य
प्रतिष्ठां=स्थिति (अर्थात् परमानन्द) को
लभते = प्राप्त होती है ॥ ४१ ॥

पूजायां मनागपि इतिकर्तव्यतान्यथाभावे प्रत्यवायः प्रक्रियाशास्त्रे युक्तः। आश्चर्यं पुनरिदं—भक्त्युन्मादेन—समावेशवैवश्येन निरर्गलैः—विस्मृतेतिकर्तव्यतानियमैरसंबद्धरूपापि—असमञ्जसापि अर्चा वितन्यमाना—प्रसार्यमाणा, कामपीति—क्रियानिष्ठैः संभावयितुमप्यशक्याम् असामान्यां प्रतिष्ठां सम्यगाभिमुख्येन अवस्थितिं त्वयि लभते इत्यद्भुतध्वनिः ॥ ४१ ॥

स्वादुभक्तिरसास्वादस्तब्धीभूतमनश्च्युताम्।
शम्भो त्वमेव ललितः पूजानां किल भाजनम् ॥४२॥

---

१ ख० पु० क्रियाभूः—इति पाठः।

२ ग० पु० विधेयापेक्षं पुंलिङ्गम्—इति पाठः।

शम्भो = हे कल्याण-स्वरूप शङ्कर !
स्वादु- = (स्वात्मानन्द-मय होने के कारण) मधुर
भक्तिरस- = भक्ति-रस के
आस्वाद- = चमत्कार से
स्तब्धी- = एकाग्र
भूत- = बने हुए
मनः-च्युतां = मन से की गई
(**समस्तानां** = सभी)
पूजानां = पूजा (की क्रियाओं) के
भाजनं = पात्र (अर्थात् आश्रय) तो
किल = सचमुच
त्वं = आप
ललितः = मनोहर
(**चिदात्मा** = चिदात्मा)
एव = ही हैं ॥ ४२ ॥

स्वादुः[1]—चमत्कारसारो यो भक्तिरसस्तस्यास्वादेन[2] स्तब्धीभूतं[3]—चलितचाञ्चल्यं यन्मनस्ततश्च्युत्-च्यवनं[4] प्रसरो यासां पूजानां—विश्वार्पणक्रियाणां, तासां ललितः—हृद्यः[5] उचितस्त्वमेव चिदात्मा, शम्भो–श्रेयोनिधे ! भाजनम्—आश्रयः । किलेति—युक्तौ;—एतदेव युज्यत इत्यर्थः । अन्यस्य ब्रह्मादेर्भेदमयत्वेनेदृगर्चापात्रत्वाभावात् । पूजानामिति बहुवचनं विचित्रविश्रांतिसारताप्रथनाय ॥ ४२ ॥

परिपूर्णानि शुद्धानि भक्तिमन्ति स्थिराणि च ।
भवत्पूजाविधौ नाथ साधनानि भवन्तु मे ॥४३॥

नाथ = हे स्वामी !
भवत्- = आप की
पूजा- = (परा) पूजा
विधौ = करने के समय
मे = मेरी
साधनानि = (आंख आदि) इन्द्रियां
परिपूर्णानि = (सृष्टि आदि देवी-चक्र का उल्लास करने से) परिपूर्ण,
शुद्धानि = (चिन्मरीचि-मय होने से) शुद्ध,
भक्तिमन्ति = (समावेश-मयी) भक्ति से युक्त
च = तथा
स्थिराणि=(पाशव-वासना-शून्य होने से) दृढ (अर्थात् एकाग्र)
भवन्तु = बन जायें ॥ ४३ ॥

---

१ ग० पु० स्वादु—इति पाठः ।
२ ग० पु० आस्वादनेन—इति पाठः ।
३ घ० पु० स्तब्धीकृतम्—इति पाठः ।
४ ग० पु० प्रच्यवनम्—इति पाठः ।
५ ख० पु० हृद्यः, उचितस्त्वमेव—इति पाठः ।

भवतः—चिन्नाथस्य पूजाविधौ—अवश्यकार्यायामर्चायां, मम साधनानि—चक्षुरादीनि करणानि परिपूर्णानि—सृष्ट्यादिदेवीचक्रोल्लासमयानि। अत एव चिन्मरीचिमयत्वात् शुद्धानि, भक्तिमन्ति—विश्वार्पणेन त्वत्सेवापराणि, कदाचिदपि पाशववासनास्पृष्टत्वात्[1] स्थिराणि नित्यमीदृश्येव भवन्तु ॥ ४३ ॥

अशेषपूजासत्कोशे त्वत्पूजाकर्मणि प्रभो।
अहो करणवृन्दस्य कापि लक्ष्मीर्विजृम्भते ॥ ४४ ॥

प्रभो = हे प्रभु !
अहो = अहो !
त्वत्- = आप की
पूजा- = (समावेश-मयी) पूजा का
कर्मणि = अनुष्ठान
अशेष- = समस्त
पूजा- = पूजा (की क्रियाओं) का
सत्- = अत्यन्त उत्कृष्ट
कोशे = कोश अर्थात् खज़ाना (है);
करण- = (इसमें चित्प्रकाश की) किरणों की
वृन्दस्य = माला की
कापि = अलौकिक
लक्ष्मीः = छटा
विजृम्भते = चमक उठती है ॥ ४४ ॥

इमामेव दशां विमृशन्नाह, शक्तीनामुल्लासप्रसरादिप्रभवनशील[2] प्रभो ! अशेषाणां पूजानां—विचित्राणां सृष्टिदेव्यादिपदविश्रांतीनां सत्कोशे—शोभनगञ्जरूपे, त्वत्पूजाकर्मणि—पूर्णचिदानन्दघनश्रीमन्थानभैरवस्वरूपविश्रान्तौ करणवृन्दस्य—रश्मिचक्रस्य, अहो ! कापि—स्वसंवित्साक्षिका लक्ष्मीः—दीप्तिर्विजृम्भते—स्फुरति, इति महार्थपरिपूर्णस्यास्य सारोपदेशवर्षीणि इमानि सूक्तान्युल्लसन्ति ॥ ४४ ॥

तान्येवाह—

एषा[3] पेशलिमा नाथ तवैव किल दृश्यते।
विश्वेश्वरोऽपि भृत्यैर्यदर्च्यसे[4] यच्च लभ्यसे ॥ ४५ ॥

---

१ ख० पु० वासनया—इति पाठः।

२ क० पु० प्रभवशील—इति पाठः।

३ ग० पु० एष—इति पाठः।

४ ग० पु० मर्त्यैः—इति पाठः।

नाथ = हे स्वामी !
एषा = यह
पेशलिमा = (स्वभाव की) कोमलता (तो)
तव = आप में
एव = ही
किल = सचमुच
दृश्यते = देखी जाती है,
यत् = कि
(**त्वं** = आप)
विश्व- = समस्त संसार के
ईश्वरः = स्वामी
अपि (**सन्**) = होते हुए भी
भृत्यैः = (मुझ जैसे सामान्य) सेवकों से
अर्च्यसे = पूजे जाते हैं
च = और
लभ्यसे = प्राप्त किये जाते हैं ॥ ४५ ॥

पेशलिमा—सरलता । तवैवेति—चिद्घनत्वेन सर्वेषामात्मनः । विश्वेश्वरोऽपि[1]—सदाशिवादीनामपि स्वामी । अर्च्यसे—समाविश्यसे । लभ्यसे—निरर्गलमात्मीक्रियसे ॥ ४५ ॥

सदा मूर्त्तादमूर्त्ताद्वा भावाद्यद्वाप्यभावतः ।
उत्थेयान्मे प्रशस्तस्य भवत्पूजामहोत्सवः ॥ ४६ ॥

(**प्रभो** = हे प्रभु !)
भवत्- = आप की
पूजा- = (समावेश रूपिणी) पूजा का
महा- = बड़ा
उत्सवः = उत्सव
प्रशस्तस्य = (आप की भक्ति से) प्रशंसनीय बने हुए
मे = मुझ को
मूर्त्तात् = (सभी) साकार
वा = तथा
अमूर्त्तात् = निराकार
भावात् = (और) सत्ता-युक्त
यद्वा = तथा
अभावतः = सत्ता-हीन (वस्तुओं) से
अपि = भी
सदा = सदा
***उत्थेयात्** = उठता रहे (अर्थात् उपलब्ध होता रहे) ॥ ४६ ॥

मूर्त्तो भावः—घटादिः, अमूर्त्तः—सुखादिः । मूर्त्तो भावः—घटस्य

1 ख० पु० विश्वेश्वरत्वेऽपि—इति पाठः ।

* भावार्थ—संसार की प्रत्येक वस्तु मुझे आपकी पूजा का आनन्द दिलाने में ही योग देती रहे ॥ ४६ ॥

कपालादीनि[1], अमूर्तस्तु भावः—विकल्पकल्पितप्रसज्यप्रतिषेधात्मा, ततः उत्थेयादिति—समस्तं भावाभावपदमधरीकृत्य उन्मज्ज्यादित्यर्थः[2]। भवत्पूजामहोत्सवः—त्वद्विश्रान्त्युदयः। भावादित्यादिका ल्यब्लोपे पञ्चमी॥

कामक्रोधाभिमानैस्त्वामुपहारीकृतैः सदा।
येऽर्चयन्ति नमस्तेभ्यस्तेषां तुष्टोऽसि तत्त्वतः॥ ४७॥

(दयासिन्धो = हे दया-सागर !)
उपहारीकृतैः = उपहार के रूप में अर्पित किए गए
काम- = काम,
क्रोध- = क्रोध
अभिमानैः = और अभिमान (रूपी उपचारों) से
ये = जो (भक्त-जन)
त्वां = आप को
सदा = सदैव
अर्चयन्ति = पूजते हैं,
तेभ्यः = उन को
नमः = (मेरा) प्रणाम हो,
(यतः = क्योंकि)
तत्त्वतः = तत्त्व-दृष्टि से तो
(त्वं = आप)
तेषाम् (एव) = उन्हीं पर
तुष्टः = प्रसन्न
असि = होते हैं॥ ४७॥

सर्वचित्तवृत्तीनां कामादिभिः स्वीकारात्तेषामेवोपादानमुपहारीकृतैः—विचार्य त्वय्येवार्पितैः तत्त्वतः तुष्टोऽसि—

'हर्षामर्षभयक्रोधैर्मुक्तो[3] यः स च मे प्रियः॥' भ० गी०, अ० १२, श्लो० १५॥

इत्यभिधानात्। ननु च श्रीमन्महासारोक्तिमयेऽमुत्र स्तोत्रेऽयं[4] श्लोको दद्रुस्थानीयः? सत्यम्,

'अशेषवासनाग्रन्थि······।' स्तो० १७ श्लो० १५॥

इत्यादिकस्यापि स्मर्तव्यम्।

'लोकवद्भवतु मे······।' स्तो० ८, श्लो० ३॥

'निजनिजेषु पदेषु······।' स्तो० ८, श्लो० ५॥

१ ख० पु० कपालानि—इति पाठः।
२ ग० पु० उन्मज्ज्येत्—इति पाठः।
३ ख० पु० महामर्षभयक्रोधैः—इति पाठः।
४ घ० पु० स्वकृतस्तोत्रे—इति पाठः।

'अस्मिन्नेव जगत्यन्तर् ...... ।' स्तो० १६, श्लो० २३ ॥

'आवेदकादा च वेद्यात् ...... ।' स्तो० १६, श्लो० २७ ॥

'पानाशनप्रसाधन ...... ।' स्तो० १६, श्लो० २९ ॥

'समुल्लसन्तु भगवन् ...... ।' स्तो० ५, श्लो० ८ ॥

'न क्वापि गत्वा ...... ।' स्तो० २०, श्लो० १० ॥

इत्यादयस्त्वनुगुणा अप्यत्र श्लोका न सन्ति। तदयमसमञ्जसशय्याप्रस्तारिणः श्रीविश्वावर्तस्यैव प्रसादः। एवमन्येष्वपि स्तोत्रेष्वेवंप्रायं बह्वनुचितमस्ति,[1] तत्तु[2] अस्माभिर्नोद्घाटितम्—इत्यलं, सूक्तान्येवानुसरामः ॥

जयत्येष भवद्भक्तिभाजां पूजाविधिः परः।
यस्तृणैः क्रियमाणोऽपि रत्नैरेवोपकल्पते ॥ ४८ ॥

(सन्तापहारिन् = हे दुःखहारी प्रभु !)
भवत्- = आप के
भक्ति- = (समावेश-शाली) भक्त-जनों की
एषः = इस
परः = अत्यन्त उत्कृष्ट
पूजा- = पूजा की
विधिः = रीति की
जयति = जय हो,
यः = जो
तृणैः = (पत्र, पुष्प आदि) तृणों से
क्रियमाणः = की जाने पर
अपि = भी
रत्नैः = (बहुमूल्य मुक्ति-स्वरूप) रत्नों से
एव = ही
उपकल्पते = पूर्ण हो जाती है (अर्थात् पूर्ण रूप में सफल हो जाती है) ॥

अपिर्भिन्नक्रमस्तेन तृणैरपि क्रियमाणः यो रत्नैरेवोपकल्पते—पूर्णविश्रान्तिप्रदो भवति, स भवद्भक्तिभाजां—त्वत्समावेशशालिनां[3] परः—पूर्णः पूजाविधिर्जयतीति शिवम् ॥ ४८ ॥

इति श्रीमदुत्पलदेवाचार्यविरचितस्तोत्रावलौ दिव्यक्रीडाबहुमानना-मनि सप्तदशस्तोत्रे श्रीक्षेमराजाचार्यविरचिता विवृतिः ॥ १७ ॥

---

१ ख० पु० बहुरचितमस्ति—इति पाठः।

२ ग० पु० न त्वस्माभिर्नोद्घाटितम्—इति पाठः।

३ क० पु० त्वत्समावेशेन शालिनाम्—इति पाठः।

॥ ॐ ॥

तत् सत् ।

अथ

आविष्कारनाम अष्टादशं स्तोत्रम्

जगतोऽन्तरतो भवन्तमाप्त्वा
पुनरेतद्भवतोऽन्तराल्लभन्ते ।
जगदीश तवैव[1] भक्तिभाजो
न हि तेषामिह दूरतोऽस्ति किञ्चित् ॥ १ ॥

जगदीश = हे जगत के प्रभु !
तव = आप (चिद्रूप) के
भक्ति-भाजः = भक्त-जन
एव = ही
जगतः = (इस भेद-प्रथारूप) जगत के
अन्तरतः = बीच में से
भवन्तम् = आप को
आप्त्वा = प्राप्त कर के
पुनः = फिर
एतत् = इस (जगत) को
भवतः = आप (चिद्रूप) के
अन्तरात् = बीच में से
लभन्ते = प्राप्त करते हैं (अर्थात् देखते हैं),
हि = क्योंकि
तेषाम् = उन (भक्तों) के लिए
इह = इस जगत में
किंचित् = कुछ भी
दूरतः = दूर
न अस्ति = नहीं है ॥ १ ॥

हे जगदीश! ये तवैव—चिद्रूपस्य स्वात्मनो भक्तिभाजास्ते जगतः—विश्वस्य अन्तरतः—मध्यात् भवन्तमाप्त्वा—प्रकाशमानव्यवहारपदादेव प्रकाशरूपं त्वां लब्ध्वा, पुनरपि एतत्—जगद्भवतः—चिद्रूपस्य अन्तरतो मध्याल्लभन्ते। यस्मात्तेषां—भक्तिभाजां सम्यक्प्रत्यभिज्ञातविश्वात्मक-

---

१ क० पु० तथैव—इति पाठः ।

त्वत्स्वरूपाणामिह—जगति दूरे न [1]किंचिदस्ति; सर्वस्य स्वांगकल्पत्वेन स्फुरणात्। तदुक्तं[2] गीतासु—

'यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।' अ० ६, श्लो० ३१॥

इत्यादि[3]॥ १॥

क्वचिदेव भवान् क्वचिद्भवानी
सकलार्थक्रमगर्भिणी प्रधाना।
परमार्थपदे तु नैव देव्या
भवतो नापि जगत्त्रयस्य भेदः॥ २॥

(**ईश** = हे परमेश्वर!)
क्वचित् = कभी (अर्थात् किसी विश्वोत्तीर्ण दशा में)
भवान् = आप शिव
एव = ही
(**प्रधानः भवति** = प्रधान होते हैं)
क्वचित् = और कभी (अर्थात् किसी विश्व-मय दशा में)
सकल- = सभी
अर्थ- = (घट, पट आदि) पदार्थों के
क्रम- = क्रम से
गर्भिणी = भरी हुई
भवानी = शक्ति भगवती (ही)
प्रधाना = प्रधान
(**भवति** = होती है—अर्थात् आप की प्रधानता कभी 'शिव' के रूप में देखी जाती है और कभी 'परा-शक्ति' के रूप में),
तु = पर
परमार्थ-पदे = परमार्थ की दृष्टि से (अर्थात् वास्तव में)
नैव = न तो
देव्याः = शक्ति
नापि = और न ही
जगत्त्रयस्य = (इस) त्रिलोकी
भवतः = तथा आप (के स्वरूप) में
भेदः = कोई भेद है॥ २॥

[4]क्वचिदेवेति—मुक्तौ, क्वचिदिति—तदुपायतायां भोगे च, भवानी—पराशक्तिः, सकलः—[5]कलादिक्षित्यन्तः अर्थक्रमः—प्रमेयराशिर्गर्भेऽन्तः

१ ग० पु० किंचिदिति—इति पाठः।

२ ख० पु० तदुक्तम्—इति पाठः।

३ ख० पु० इत्यादि श्रीगीतासु—इति पाठः।

४ ख० पु० क्वचिदिति—इति पाठः।

५ ग० पु० शिवादिक्षित्यन्तः।

शिम्बिकाबीजवत्संसृष्टो[1] यस्याः । परमार्थपदे—गलितकल्पनायां तात्त्विक्यां दृष्टौ पुनः जगत्त्रयस्यापि—भवातिभवाभवात्मनः त्वत्तो भेदो नास्ति, किं पुनः शक्तेः ॥ २ ॥

नो जानते सुभगमप्यवलेपवन्तो
लोकाः प्रयत्नसुभगा निखिला हि भावाः ।
चेतः पुनर्यदिदमुद्यतमप्यवैति
नैवात्मरूपमिह हा तदहो हतोऽस्मि ॥ ३ ॥

इह = इस संसार में
लोकाः = (सामान्य) लोग
अवलेपवन्तः = (विषयों में आसक्त होने के कारण) घमंडी
(**सन्तः** = होकर)
(**भावानां** = सभी वस्तुओं के)
सुभगम्-अपि = सौभाग्य-पूर्ण (अर्थात् पारमार्थिक चिदानन्द-मय)
रूपं = स्वरूप को
नो = नहीं
जानते = जानते हैं,
हि = क्योंकि
निखिलाः = (ये) सभी
भावाः = वस्तुएं
प्रयत्न- = प्रयत्न से (अर्थात् ध्यान से विचार करने पर)
सुभगाः = अत्यन्त उत्कृष्ट (चिदानन्दपूर्ण ही)
(**भवन्ति** = मालूम होती हैं ।)
(**एतत् आस्ताम्** = यह बात तो रहे, अर्थात् ऐसा प्रायः होता ही है ।)
अहो = अहो !
यत् पुनः = अब यदि
उद्यतम् अपि = उद्यत बना हुआ भी (अर्थात् जानने के लिए उतावला)
इदं = यह
चेतः = (मेरा) हृदय
आत्मरूपं = अपने स्वरूप को
नैव = नहीं
अवैति = जान पाता,
तद् = तो
हा = हाय !
हतः अस्मि = (मैं) मारा गया (अर्थात् फिर मुझे निराशा का मुख ही देखना पड़ेगा) ॥ ३ ॥

लोकास्तावदवलेपवन्तः[2] सन्तः सुभगमपि—चिदात्मकं रूपं भावानां न जानन्ति, यतः प्रयत्नेन—सर्वथा निश्चयेन, सुभगाः—उत्कृष्टा एव

१ ग० पु० संस्पृष्टौ—इति पाठः ।
२ ग० पु० तावदेव—इति पाठः ।

निखिलाः—सर्वे भावाः, प्रकाशमानत्वेन चिन्मयत्वात्। पुनरास्तां भावस्वरूपज्ञानम्, आश्चर्यमात्मनोऽपि रूपं वेदितुमुद्यतमपि[1] चेतो यन्नैवावैति—समावेशधारारुरुक्षारणरणकाक्रान्तमपि यच्चिदैकात्म्यं[2] न भजते[3] तत् हतोऽस्मि—व्यापादितोऽस्मि, इति झगिति[4] समावेशप्रकर्षमलभमानस्य ताम्यत[5] इयमुक्तिः ॥ ३ ॥

भवन्मयस्वात्मनिवासलब्ध-

सम्पद्भराभ्यर्चितयुष्मदङ्घ्रिः ।

न भोजनाच्छादनमप्यजस्र-

मपेक्षते यस्तमहं नतोऽस्मि[6] ॥ ४ ॥

(**महेश्वर** = हे परमेश्वर !)
भवत्- = आप (के चिदानन्द-स्वरूप) से
मय- = परिपूर्ण
स्वात्म- = अपनी आत्मा में
निवास- = निवास करने से
लब्ध- = प्राप्त किए गए
संपद्-भर- = (परमानन्द रूपी) ऐश्वर्य की अधिकता से
अभ्यर्चित-युष्मद्-अंघ्रिः = आप के चरणों की पूजा करने वाला
यः = जो भक्त
अजस्रं = लगातार
भोजन- = भोजन
आच्छादनम् = तथा वस्त्र (आदि) की
अपि = भी
न अपेक्षते = इच्छा नहीं रखता,
तम् = उस को
अहं = मैं
नतोऽस्मि = प्रणाम करता हूँ ॥ ४ ॥

भवान्—चिद्रूपः प्रकृतं रूपं यस्य तथाभूते स्वात्मनि निवासेन—विश्रान्त्या लब्धेन सम्पद्भरेण—परमानन्दभूतिप्रसरेण अभ्यर्चितौ[7]—

---

१ ग० पु० उद्यतमपि—इति पाठः ।

२ ख० पु० यश्चिदैकात्म्यम्—इति पाठः ।

३ ग० पु० लभते—इति पाठः ।

४ क० पु० जगति—इति पाठः ।

५ ख० पु० ताम्यतः—इति पाठः ।

६ क० पु० नमामि—इति पाठः ।

७ ख० पु० अभ्यर्चितो—इति पाठः ।

गाढमभेदेनावष्टब्धौ[1] युष्मदङ्घ्री[2] येन तथाभूतोऽजस्रं यो भोजनाच्छादनमपि नापेक्षते

'अश्नन् यद्वा तद्वा .... ।' प० सा०, श्लो० ६९ ॥

इति स्थित्या व्यवहारानपेक्षः पूजापर एव तमहं नौमि ॥ ४ ॥

सदा भवद्देहनिवासस्वस्थो-
ऽप्यन्तः परं दह्यत एष लोकः ।
तवेच्छया तत्कुरु मे यथात्र
त्वदर्चनानन्दमयो भवेयम् ॥ ५ ॥

(**प्रभो** = हे स्वामी !)
एषः = ये
लोकः = (संसारी) लोग
सदा = सदा
भवत्- = आप के
देह- = (पारमार्थिक) स्वरूप में
निवास- = निवास करने से
स्वस्थः = वास्तव में स्वस्थ (अर्थात् सुखी) होते हुए
अपि = भी
तव = आप की
इच्छया = (अप्रतिहता स्वरूपगोपनात्मक) इच्छा-शक्ति से
अन्तः = हृदय में
परं = बहुत अधिक
दह्यते = जलते रहते हैं, (अर्थात दुःखों और आपत्तियों से सदा व्याकुल बने रहते हैं ।)
(**तस्मात्** = इसलिए)
(**तवेच्छया** = अपनी—अप्रतिहता स्वरूप-प्रथनात्मक—इच्छा से)
अत्र = इस विषय में
(**त्वं मे** = आप मुझ)
(**भक्तस्य** = भक्त के लिए)
तत् = ऐसा
कुरु = कीजिए
यथा = कि
(**अहं** = मैं)
त्वद्- = आप की
अर्चना- = पूजा के
आनन्द-मयः = आनन्द से भरपूर
भवेयम् = बना रहूँ ॥ ५ ॥

सदा भवदीये देहे—उपचिते स्वरूपे निवसनेन[3] वस्तुतः स्वस्थः—

१ ख० पु० अवष्टब्धो—इति पाठः ।
२ ख० पु० युष्मदङ्घ्रियेन—इति पाठः ।
३ घ० पु० निवासेन—इति पाठः ।

आनन्दमयोऽप्येष लोकः, तवेच्छया—भेदप्रथारूपया[1] त्वन्मायाशक्त्या अन्तः परम्—अतिशयेन दह्यते—तद्दुःखैरायास्यते। यत एवं तस्मात्त-[2] वेच्छया—अनुजिघृक्षया, अत्र—कल्पिते विषये त्वं[3] मे—भक्तस्य तदिति—तथा कुरु यथाहं त्वद्दर्चनानन्दमयः[4] स्याम् ॥ ५ ॥

स्वरसोदितयुष्मदङ्घ्रिपद्म-
द्वयपूजामृतपानसक्तचित्तः[5] ।
सकलार्थचयेष्वहं भवेयम्
सुखसंस्पर्शनमात्रलोकयात्रः ॥ ६ ॥

(देवेश) = हे देवाधिदेव !
स्वरस- = स्वाभाविक रूप से
उदित- = होने वाली
युष्मद्- = आपके
अंघ्रि-पद्म- = चरण-कमलों के
द्वय- = जोड़े की
पूजा- = पूजा (अर्थात् स्वरूप-समावेश-संपत्ति) रूपी
अमृत- = अमृत के
पान- = पीने में
सक्त- = लगे हुए
चित्तः = हृदय वाला
अहं = मैं
सकल- = सभी
अर्थ-चयेषु = (हेय तथा उपादेय आदि) व्यवहारों के संबन्ध में
सुख-संस्पर्शन-मात्र-लोक-यात्रः भवेयम् = ऐसा बना रहूं कि लौकिक व्यवहार से (मुझे) केवल (चिदानन्द रूपी) सुख की ही प्राप्ति हो ॥ ६ ॥

स्वरसेन—अप्रयत्नमेवोदिता या युष्मदङ्घ्रिपद्मद्वयपूजा[6]—त्वत्समावेशसंपत्, सैवामृतपानं तत्र सक्तचित्तः—विश्रान्तमानसः[7]। सकलेषु—

१ घ० पु० भेदप्रवाहरूपया—इति पाठः।

२ ख० पु० यस्मात्—इति पाठः।

३ ग० पु० त्वमेव—इति पाठः।

४ क० पु० त्वद्दर्शनानन्दमयः—इति पाठः।

५ ख० पु० मुक्तचित्तः—इति पाठः।

६ ख० पु० युष्मदङ्घ्रिपूजा—इति पाठः।

७ घ० पु० विश्रान्तिमानसः—इति पाठः।

हेयोपादेयाद्यभिमतेषु अर्थचयेषु—व्यवहारेषु, अहं सुखसंस्पर्शनमात्र-लोकयात्रो भवेयम्—स्वानन्दोल्लाससारजगद्व्यवहारः स्याम् ॥ ६ ॥

सकलव्यवहारगोचरे
स्फुटमन्तः स्फुरति त्वयि प्रभो ।
उपयान्त्यपयान्ति चानिशम्
मम वस्तूनि विभान्तु सर्वदा ॥ ७ ॥

प्रभो = हे स्वामी !
सकल- = सभी
व्यवहार- = व्यावहारिक
गोचरे = विषयों
अन्तः = में
त्वयि = आप के
स्फुटं = स्पष्ट रूप में
स्फुरति = चमक उठने पर
(**सर्वाणि** = सारी)
वस्तूनि = वस्तुएं
उपयान्ति = उत्पन्न होती हुई
च = और
अपयान्ति = नष्ट होती हुई
सर्वदा = सदा
अनिशं = निरन्तर
मम = मुझे
विभान्तु = दिखाई दें, (अर्थात् आप के समावेश को प्राप्त करके मैं सदा सभी सांसारिक वस्तुओं की उत्पत्ति और नाश के क्रम को देखता रहूं) ॥ ७ ॥

सर्वदा—सदा, अनिशं—निर्विरामं, व्यवहारविषयस्यान्तर्मम त्वयि-चिद्रूपे स्फुटं स्फुरति सति, सर्वाणि वस्तूनि उपयान्त्यपयान्ति च—सृज्यमानानि संह्रियमाणानि च स्फुरन्तु, त्वदाविष्टोऽहं सदा भावसर्ग-संहारकृत् स्यामित्यर्थः । 'उपयान्त्यपियान्ति च'—इति पाठे, आगच्छ[1]-न्तोऽपि दर्पणे[2] प्रतिबिम्बवद्विलीयमाना एव न त्ववस्थितिं मनागपि भज[3]-माना भान्तु, इति व्याख्येयम् । च एवार्थे । उद्यन्तो विनश्यन्तश्च लोक-वद्यथा[4] भान्ति तथा भान्तु—इति वा योज्यम् ॥ ७ ॥

---

१ क० पु० अनुगच्छन्तोऽपि—इति पाठः ।

२ ग० पु० दर्पणप्रतिबिम्बवत्—इति पाठः ।

३ ग० पु० भाजमानाः—इति पाठः ।

४ ख० पु० यथावत्—इति पाठः ।

सततमेव तवैव पुरेऽथवा-
प्यरहितो विचरेयमहं त्वया ।
क्षणलवोऽप्यथमा[1] स्म भवेत् स मे
न विजये ननु यत्र भवन्मयः ॥ ८ ॥

(शम्भो = हे शम्भु !)
अहं = मैं
सततम् एव = सदैव
तव = आप की
पुरे = पुरी में
एव = ही (अर्थात् आप के शाक्त-मार्ग पर ही)
विचरेयम् = विराजमान रहूँ, (अर्थात् शाक्त-समावेश-शाली ही बना रहूँ),
अथवा = या
त्वया = आप से
अरहितः = अभिन्न होकर
अपि = ही
(विचरेयम् = विराजमान रहूं अर्थात् शाम्भव-समावेश-शाली ही बना रहूँ) ।
अथ यत्र = पर जहां (अर्थात् जब)
(अहं = मैं)
भवत्-मयः=आप से अभिन्न (हो कर).
न विजये = गौरववान न बन जाऊं,
सः = ऐसा
क्षणलवः = क्षण-मात्र
अपि = भी
ननु = निश्चित रूप से
मे = मुझे
मा भवेत् स्म = (कभी) प्राप्त न हो ॥ ८ ॥

तवैव संबन्धिनि[2] पुरे—पूरके शाक्ते पदे विचरेयं—शाक्तसमावेश-शाली स्याम् । अथवा त्वयारहितः[3], इति—शाम्भवसमावेशमयः । अथवा भवन्मय इति—त्वद्रूपो विमुक्तस्वभावो यत्र न विजये—न सर्वोत्कर्षेण वर्ते, स क्षणलवोऽपि मे मा भूत्—इति उत्तरोत्तरसातिशयदशाशंसापरमेतत् । ननु वितर्के ॥ ८ ॥

१ ख० पु० मा स भवेत् स्म मे—इति पाठः ।
२ घ० पु० संबन्धिनः—इति पाठः ।
३ ग० पु० अविरहितः—इति पाठः ।

भवदङ्गपरिस्रवत्सुशीता-
मृतपूरैर्भरिते समन्ततोऽपि ।
भवदर्चनसम्पदेह भक्ता-
स्तव संसारसरोऽन्तरे चरन्ति ॥ ९ ॥

(भगवन् = हे भगवान्)
भवत्- = आप की
अर्चन- = पूजा रूपिणी
संपदा = संपत्ति से (सुशोभित)
तव = आप के
भक्ताः = भक्त-जन
भवत्- = आप के
अङ्ग- = (परा शक्ति रूपी) अंग से
परिस्रवत् = बहती हुई
सुशीत- = अत्यन्त शीतल (अर्थात् संताप-हारी—दुःख रूपी अग्नि की गरमी को दूर करने वाली)
अमृत- = (आनन्द-रूपी) अमृत की
पूरैः = धाराओं से
समन्ततः अपि = सब ओर से
भरिते = परिपूर्ण बने हुए
इह = इस
संसार- = संसार रूपी
सरोऽन्तरे = सरोवर के बीच में
चरन्ति = विहार करते हैं (अर्थात् विराजमान होते हैं) ॥ ९ ॥

तव भक्ताः भवदर्चनसंपदा—त्वद्विश्रान्तिलक्ष्म्या[1] उपलक्षिता इह संसारसरसः—भवसमुद्रस्य अन्तरे—मध्ये, चरन्ति—व्यवहरन्ति । कीदृशे[2] ? भवदीयात्परशक्तिरूपादङ्गात् परितः—समन्तात् स्रवद्भिः सुष्ठु शीतलैः—दुःखानलतापोपशान्तिदैरमृतपूरैः—आनन्दोल्लासैः समन्ताद्भरिते—पूरिते इति यावत् ॥ ६ ॥

महामन्त्रतरुच्छायाशीतले त्वन्महावने ।
निजात्मनि सदा नाथ वसेयं तव पूजकः ॥ १० ॥

नाथ = हे प्रभु !
(अहं = मैं)
महामंत्र- = अहं-परामर्श रूपी
तरु- = (उत्तम) वृक्ष की

१ ख० पु० त्वद्विश्रांतिसम्पदा—इति पाठः ।
२ घ० पु० कीदृशि—इति पाठः ।

छाया- = छाया से
शीतले = शीतल (अर्थात् भेद-प्रथा-त्मक सन्ताप को दूर करने वाले)
निजात्मनि = स्वात्म रूपी
त्वद्- = आप (चित्स्वरूप) के
महा- = विशाल
वने = वन में (अर्थात् विश्रांति स्थानमें)
सदा = सदा
तव = आप की
पूजकः = पूजा में-
(**सन्** = लगा हुआ)
वसेयम् = रहा करूं ॥ १० ॥

महामन्त्रः—परा[1]वाग्रूपः शुद्धाहंविमर्श एव शक्तिशाखाशतैः प्रसृतत्वात् तरुस्तस्य छायया—कान्त्या शीतले—भेदसन्तापहारिणि, त्वन्महावने—त्वमेव चिदा[2]त्मा महावनं—विपुलं विश्रांतिस्थानं तत्र, निजात्मनि—स्वस्वभावे, नाथ सदा तव पूजकः—त्वदर्चापरो वसेयं—स्थितिं बध्नीयाम् ॥ १० ॥

प्रतिवस्तु समस्तजीवतः
प्रतिभासि प्रतिभामयो यथा ।
मम नाथ तथा पुरः प्रथां
व्रज नेत्रत्रयशूलशोभितः ॥ ११ ॥

नाथ = हे स्वामी !
यथा = जिस प्रकार
समस्त- = सभी
जीवतः = प्राणियों को
प्रतिवस्तु = प्रत्येक वस्तु में
(**त्वं** = आप)
प्रतिभा-मयः = चित्-स्वरूप के रूप में
प्रतिभासि=दिखाई देते हैं, (अर्थात् न पहचाने जाते हुए भी वास्तव में विराजमान होते हैं),
तथा = उसी प्रकार
मम = मुझ
(**दासस्य** = दास के)
पुरः = सामने
(**त्वं** = आप)
नेत्र-त्रय- = तीनों नेत्रों
शूल- = तथा त्रिशूल से
शोभितः (सन्)= सुशोभित होकर (अर्थात् असाधारण अभिज्ञान से पूर्णरूप में पहचाने जाते हुए)
प्रथां व्रज = प्रकट हो जायें ॥ ११ ॥

१ ख० पु० परवाग्रूपः—इति पाठः ।
२ ख० पु० चिदानन्दात्मा—इति पाठः ।

प्रतिवस्तु—प्रतिभावं, समस्तजीवतः—सर्वेषां जीवानाम्, असि—त्वं यथा प्रतिभामयः—संविद्रूपः नीलादिग्रहणान्यथानुपपत्त्या प्रतिभासि—अप्रत्यभिज्ञातोऽपि वस्तुतः स्फुरसि। तथा मम—दासस्य नाथ! पुरः—अग्रे सर्वत्र, नेत्रत्रयेण शूलेन च शोभितः—निरतिशयासाधारणाभिज्ञानेन सम्यक् प्रत्यभिज्ञातः सन्, प्रथां व्रज—प्रकटीभव—समावेशेन स्फुरेत्यर्थः। नेत्रत्रयशूले असाधारणाभिज्ञानोपलक्षणपरे, न[1] पुनरत्राकारे भरः। समस्तजीवतः—इति प्रति[2]योगे शम्॥ ११॥

अभिमानचरूपहारतो
ममं[3]ताभक्तिभरेण कल्पितात्।
परितोषगतः कदा भवान्
मम सर्वत्र भवेद् दृशः पदम्॥ १२॥

(परमेश्वर = हे परमात्मा!)
ममता- = ('भगवान् शंकर ही मेरे स्वामी हैं', ऐसी) ममता से
भक्ति-भरेण = भरे हुए भक्ति-रस से
कल्पितात् = किए गए
अभिमान- = (देह आदि के) अहंकार रूपी
चरु- = हव्यान्न के
उपहारतः = उपहार से (अर्थात् मेरे पराहंभाव-ग्रहण से)
परितोष- = प्रसन्न
गतः = बने हुए
भवान् = आप
कदा = भला कब
सर्वत्र = सभी अवस्थाओं में
मम = मेरी
दृशः = दृष्टि का
पदं = विषय (अर्थात् विश्रांतिस्थान)
भवेत् = बनेंगे! (अर्थात् देह आदि के अभिमान के नष्ट होने पर मैं कब आप की विश्वात्मता का साक्षात्कार करूंगा!) ॥ १२॥

अभिमानः—अहंकार एव चरुः—स्थालीपाकस्तस्य उपहारः—भगवत्यर्पणं पराहंभावग्रहणं, ततः। कीदृशात्? "मम महेश्वरः स्वामी अस्ति"—इत्येवं म[4]मताप्रधानः यो भक्तिरसः—सेवाप्रकारस्तेन कल्पि-

१ ख० पु० न च—इति पाठः।
२ घ० पु० योगे शम्—इति पाठः।
३ घ० पु० समताभक्ति—इति पाठः।
४ घ० पु० समताप्रधानः—इति पाठः।

तात्—सम्पादितात्, भवान् परितोषं गतः—प्रसन्नः सन् कदा सर्वत्र मम दृशः—दर्शनस्य पदं—विश्रांतिभूर्भवेत्—गलिते देहाद्यभिमाने त्वन्मयमेव विश्वं साक्षात्कुर्यामित्यर्थः ॥ १२ ॥

निवसन्परमामृताब्धिमध्ये
भवदर्चाविधिमात्रमग्नचित्तः ।
सकलं जनवृत्तमाचरेयं
रसयन्सर्वत एव किञ्चनापि ॥ १३ ॥

(**भगवन्** = हे भगवान् !)
(**अहं** = मैं)
भवत्-अर्चा-विधिमात्र-मग्न-चित्तः= केवल आपकी पूजा करने में लगे हुए चित वाला
(**सन्** = होकर)
परमामृत- = चिदानन्द रूपी
अब्धि- = समुद्र के
मध्ये = बीच में
निवसन् = रहते हुए
(**अतः** = और इसीलिए)
सर्वतः एव = सभी (वस्तुओं) के बीच में से
किंचन अपि = (अभीष्ट) अलौकिक (आनन्द-स्वरूप)
रसयन् = के चमत्कार का अनुभव करते हुए
सकलं = सभी
जन-वृत्तम् = लौकिक व्यवहारों को
आचरेयम् = करता रहूँ। (बस मेरे जीवन की साध तो यही है)॥१३॥

अहं भवदर्चाविधिमात्रे[2] मग्नचित्तः—आसक्तः सन्, परमामृताब्धि-मध्ये—चिदानन्दसमुद्रस्यान्तर्वसन्[3][4] सकलं जनवृत्तं—लोकचेष्टितमाच-रेयम्। कीदृक्? सर्वतः—सर्वस्यैव मध्यात् किंचनापि—अलौकिकमा-नन्दस्वरूपम् अभीष्टं रसयन्—आस्वादयन्॥ १३ ॥

---

१ ख० ग० पु० गलितदेहाद्यभिमाने—इति पाठः ।
२ घ० पु० भवदर्चनविधिमात्रे—इति पाठः ।
३ ख० पु० चिदानन्दघनसमुद्रस्य—इति पाठः ।
ग० पु० चिदानन्दघनसमुद्रान्तः—इति पाठः ।
४ क० पु० निवसन्—इति पाठः ।

भवदीयमिहास्तु वस्तु तत्त्वं
विवरीतुं क इवात्र पात्रमर्थे ।
इदमेव हि नामरूपचेष्टा-
द्यसमं ते हरते हरोऽसि यस्मात् ॥ १४ ॥

(**महेश्वर** = हे ईश्वर !)
इह = इस संसार में
(**यत्किंचित्** = जो कुछ)
वस्तु = वस्तु
(**अस्ति** = है)
(**तत् सर्वं** = वह सब कुछ)
भवदीयं = आप का ही
(**रूपमस्ति** = स्वरूप है ।)
अस्तु = अस्तु ।
अत्र = इस
अर्थे = विषय में
तत्त्वं = वास्तविक स्थिति (अर्थात् यथार्थता) का
विवरीतुं = निश्चय करने के लिए
कः इव = भला कौन सा (भक्त)
पात्रम् = योग्य
(**अस्ति** = हो सकता है ?)
हि = क्योंकि
इदम् एव = यही
ते = आप के
असमं = असाधारण प्रभाव वाले
नाम- = ('महेश्वर आदि') नाम,
रूप- = ('चिदानन्द') रूप
चेष्टा-आदि = और (जगत् की सृष्टि-संहार) आदि चेष्टा
हरते = (हमारे हृदय को) हर लेते हैं, (अर्थात् समावेश की विवशता उत्पन्न करके हमें ऐसा बना देते हैं कि हमें अपने व्यवहार की सुधबुध ही नहीं रहती ।)
(**युक्तं चैतत्** = और यह बात तो ठीक ही है,)
यस्मात् = क्योंकि (आप)
हरः = 'हर' (अर्थात् हरने वाले)
असि = ही तो ठहरे ॥ १४ ॥

इह—जगति, यावत्किंचिद्वस्तु तत्सर्वं भवदीयं—त्वद्विभूतिरूपमिति । एतदोमित्येवास्तु । अत्रार्थे[1] तत्त्वं विवरीतुं क इव भक्तिमान् पात्रं, न कश्चित् । यतो यावद्वयमेतद्विचारयितुं प्रक्रमामहे तावद्यदुपक्रमविचारः तत्त्वदीयमिदमेव असामान्यप्रभावमनुभवसिद्धम्[2] । नामरूपचेष्टादि ।

१ क० पु० अत्रार्थतत्त्वम्—इति पाठः ।
२ ख० पु० असामान्यमनुभवसिद्धम्—इति पाठः ।

'महेश्वर' इत्यादि नाम, चिद्घनं रूपम्। सर्वसृष्टिसंहारकारिणी[1] चेष्टा। आदिग्रहणात् सर्वज्ञता-स्वतन्त्रादिधर्मः[2]। तत्प्रथममेव स्फुरितं[3], तद्धरते—समावेशवैवश्यापादनेन[4] विस्मृतव्यापारानस्मान्[5] सम्पादयति। युक्तं चैतत्। यतस्त्वं हरतीति हरः—इत्यन्वर्थनामा[6] ॥ १४ ॥

शान्तये न सुखलिप्सुता मना-
ग्भक्तिसम्भृतमदेषु तैः प्रभोः[7]।
मोक्षमार्गणफलापि नार्थना
स्मर्यते हृदयहारिणः पुरः ॥ १५ ॥

(**प्रभो** = हे प्रभु-देव!)
भक्ति- = भक्ति से
सम्भृत- = प्राप्त की गई
मदेषु = मस्ती वाले (अर्थात् भक्ति से मस्त बने हुए आप के भक्तों) में
शान्तये = शांति के लिए (अर्थात् दुःखों से छुटकारा पाने के लिए)
मनाक् = तनिक
(**अपि** = भी)
सुख- = सुख की
लिप्सुता = इच्छा
न = नहीं
(**भवति** = होती।)
(**च** = और)
तैः = उनको
हृदयहारिणः = (समावेश में आपका साक्षात्कार होने पर) मनो-मुग्ध-कारी
प्रभोः = आप प्रभु के
पुरः = सामने
मोक्ष- = मुक्ति की
मार्गण- = खोज रूपी
फला = फल वाली
अर्थना = प्रार्थना
अपि = भी
न स्मर्यते = याद नहीं रहती ॥१५॥

---

१ ख० पु० सर्वसृष्टिसंहारादिकारिणी—इति पाठः।
२ ग० पु० स्वतंत्रादिरूपः—इति पाठः।
३ क० ग० पु० स्फुरत्—इति पाठः।
४ ख० पु० वैकल्यापादनेन—इति पाठः।
५ घ० पु० विचारान्—इति पाठः।
६ क० ख० पु० अन्वर्थनाम्ना—इति पाठः।
७ क० पु० प्रभो!—इति पाठः।

भक्त्या सम्भृतो मदो यत्र तेषु—त्वद्दासेषु विषये, शान्तये—दुःखनिवृत्तये या सुखलिप्सुता—भोगस्पृहा, सा मनागपि नास्ति; भक्तिसंभृतमदत्वादेव। तैश्च[1] प्रभोः पुर इति—साक्षात्कृतस्याग्रे मोक्षमार्गणफलाप्यर्थना न स्मर्यते। कीदृशस्य प्रभोः[2]? हृदयहारिणः—मायाप्रमातृतां शमयतः। अत एव येषां हृदयमेव हृतं ते कथमन्यत्स्मरेयुः। इत्येषां समावेशपरतैवोक्ता॥ १५॥

जागरेतरदशाथवा परा
यापि काचन मनागवस्थितेः।
भक्तिभाजनजनस्य साखिला
त्वत्सनाथमनसो महोत्सवः॥ १६॥

(**लोकेश्वर** = हे लोकनाथ!)
अवस्थितेः = जगत्-व्यवस्था संबन्धी (अर्थात् जगत् के नियम के अनुसार)
या = जो
काचन = कोई
(**दशा** = दशा—)
जागर- = जागृति,
इतर- = दूसरी
दशा = दशा (अर्थात् स्वप्न)
अथवा = या
परा = सुषुप्ति
मनाक्-अपि = जरा सी भी (अर्थात् थोड़े समय के लिए भी)
(**भवेत्** = हो,)
सा = वे
अखिला = सभी (अवस्थायें)
त्वद्- = आप के साथ
सनाथ- = एकात्मता को प्राप्त हुये
मनसः = मन वाले
भक्ति- = (स्वरूप-समावेश रूपी) भक्ति के
भाजन- = पात्र बने हुये
जनस्य = मनुष्य के लिये
महोत्सवः = (परमानन्द-पूर्ण) बड़ा उत्सव ही होती हैं॥ १६॥

अवस्थितेः—जगद्व्यवस्थायाः सम्बन्धिनी या काचित् जागरस्वप्नसुषुप्तदशा, मनागिति—संकुचितापि, सा सर्वा भक्तिमतस्त्वत्सनाथमनसः—त्वदधिष्ठितचित्तस्य, महोत्सवः—महाभ्युदयः; त्वत्सनाथत्वादेव॥ १६॥

१ ग० पु० तैश्च पुरः प्रभो—इति पाठः।

२ ख० पु० कीदृशप्रभोः—इति पाठः।

आमनोऽक्षवलयस्य वृत्तयः
सर्वतः[1] शिथिलवृत्तयोऽपि ताः ।
त्वामवाप्य दृढदीर्घसंविदो
नाथ भक्तिधनसोष्मणां कथम् ॥ १७ ॥

नाथ = हे नाथ !
आमनः = मन सहित
अक्ष-वलयस्य = सभी इन्द्रियों की
वृत्तयः = वृत्तियां
सर्वतः = पूर्ण रूप में
शिथिल-वृत्तयः = चञ्चल स्वभाववाली
(**सन्ति** = होती हैं ।)
ताः = वे
अपि = भी
त्वाम् = आप (चिद्रूप) को
अवाप्य = प्राप्त करने पर (अर्थात् आप से अभिन्न हो जाने पर)
भक्ति-धन- = (समावेश-मयी) भक्ति रूपी धन (के तेज) से
सोष्मणां = देदीप्यमान भक्तों के लिये
कथं = कैसे
दृढ- = निश्चल
दीर्घ- = और स्थायी
संविदः = ज्ञान-स्वरूप
(**भवन्ति** = बन जाती हैं ? यह तो *आश्चर्य है ॥ १७ ॥)

हे नाथ ! आमनः—मनःपर्यन्तम्, अक्षवलयस्य—इन्द्रियग्रामस्य वृत्तयः—व्यापाराः, सर्वत्र शिथिलवृत्तयः—चञ्चला अपि यास्ताः, भक्तिधनेन सोष्मणाम्—ऊर्जस्विनां त्वां—चिद्रूपं प्राप्य, दृढाः—अशिथिलाः, दीर्घाश्च—भवदे[2]कात्म्येन त्वद्वदेवावस्थास्तव: शुद्धबोधरूपाः । कथमिति स्वात्मन्येवास्य विस्मयः ॥ १७ ॥

---

१ ख० पु० सर्वथा—इति पाठः ।

* [क] शब्दार्थ—अक्षवलयः = इन्द्रियों का समूह ।
वृत्तिः = (१) व्यवहार, काम । (२) स्वभाव ।

[ख] भावार्थ—हे नाथ ! इन्द्रियों का व्यवहार स्वभाव से ही सदा चञ्चल होता है । किन्तु आप के भक्त-जन जब समावेश के आनन्द को प्राप्त करते हैं, तो उनके लिए वही इन्द्रियों का व्यवहार आपके समान ही अचञ्चल और ज्ञानस्वरूप बन जाता है । ऐसा कैसे होता है, यह बड़े आश्चर्य की बात है ॥ १७ ॥

२ ग० पु० त्वदैकात्म्येन—इति पाठः ।

न च विभिन्नमसृज्यत किञ्चिद-
स्त्यथ सुखेतरदत्र न निर्मितम् ।
अथ च दुःखि च भेदि च सर्वथा-
प्यसमविस्मयधाम नमोऽस्तु ते ॥ १८ ॥

(**प्रभो** = हे प्रभु !)
(**सर्गादौ** = सृष्टि के आरम्भ में)
(**त्वया** = आपने)
(**स्वतः** = अपने स्वरूप से)
विभिन्नं = भिन्न
किञ्चित् = कुछ भी
न च = नहीं
असृजत = बनाया
वस्तुतः त्वत्तः भिन्नं किंचित् अपि न = वास्तव में आप से भिन्न कुछ भी नहीं
अस्ति = है ।
अथ = और
अत्र = इस संसार में
(**त्वया**) = आपने (कुछ भी)
सुख-इतरत् = दुःखमय
न = नहीं
निर्मितम् = बनाया है ।
अथ च = किन्तु फिर भी ।
(**सर्वं** = सब कुछ)
दुःखि च = (आपकी एकात्मता की पहचान न होने के कारण) पूर्ण रूप में दुःखमय
भेदि च = और भेदमय ही (दिखाई देता) है । (ऐसे)
असम-विस्मय-धाम = असाधारण आश्चर्य के स्थान ! (हे प्रभु !)
ते = आप को
नमः अस्तु = नमस्कार हो ॥ १८ ॥

आदिसर्गादौ त्वया न च—नैव, किंचिद्भिन्नम् असृज्यत—सृष्टम्, नाप्यस्ति स्वतो विभिन्नं किंचित्। अथ शब्दो अप्यर्थे। सर्वस्य चेत्यमानत्वेन चिन्मयत्वाद्भेदासम्भवः। अथ च सुखेतरद्—दुःखरूपं न किंचिन्निर्मितम् उक्तादेव हेतोः। किंचिच्छब्दद्वियोज्यः। अथ चैवं सर्वथैव दुःखि च भिन्नं च। अपिरेवशब्दार्थः। त्वदैकात्म्याप्रत्यभिज्ञाना-[1]देव। एवमसमविस्मयधाम—असामान्याश्चर्यभूमे ! ते-तुभ्यं नमोऽस्तु ॥

१ क० पु० ऽप्रत्यभिज्ञानाच्चैव—इति पाठः ।
ख० पु० ऽप्रत्यभिज्ञानादेवम्—इति च पाठः ।

खरनिषेधखदामृतपूरणो-
च्छलितधौतविकल्पमलस्य मे ।
दलितदुर्जयसंशयवैरिण-
स्त्वदवलोकनमस्तु निरन्तरम् ॥ १९ ॥

(**शम्भो** = हे महादेव !)
खर-निषेध-खदा-अमृत-पूरण-उच्छलित-धौत- = (आप के स्वरूप को) छुपा रखने वाली (भेद-प्रथा रूपी) भयानक खाई को (परमानन्द-रूपी) अमृत से लबालब भर देने से धो डाला गया हो (अर्थात् नष्ट किया गया हो)
विकल्प- = विकल्प रूपी
मलस्य = मल जिस का
दलित- = तथा पीसा गया हो (अर्थात् नष्ट किया गया हो)
दुर्जय- = अजेय
संशय- = शंका रूपी
वैरिणः = शत्रु जिस का, ऐसे
मे = मुझ को
त्वद्- = आप का
अवलोकनं = दर्शन (अर्थात् आप चित्स्वरूप का साक्षात्कार)
निरन्तरम् = लगातार (अर्थात् समाधि और व्युत्थान, दोनों अवस्थाओं में)
अस्तु = प्राप्त होता रहे ॥ १९ ॥

खरा—विषमा या निषेधखदा—त्वदख्यातिदरी, तस्या अमृतेन—त्वदद्वयपीयूषेण यत्पूरणं, तेनोच्छलितम्—उत्प्लावितमत एव धौतं विकल्पमलं यस्य तस्य, तथा दलितः—चूर्णितो दुर्जयः संशय एव वैरी—रिपुर्येन तादृशः सतो मम त्वदवलोकनं—चिद्घनत्वदात्मस्फुरणं, निरन्तरं—घनमस्तु ॥ १६ ॥

स्फुटमाविश मामथाविशेयं
सततं नाथ भवन्तमस्मि यस्मात् ।
रभसेन वपुस्तवैव साक्षा-
त्परमासक्तिगतः समर्चयेयम् ॥ २० ॥

नाथ = हे स्वामी !
(**त्वं तावत्** = आप पहले)
स्फुटं = (गुप्त रूप में नहीं, वरन्) प्रकट रूप में

माम् = मुझ में
आविश = समावेश कीजिए।
अथ = उस के बाद (अर्थात् जब आप ऐसा करेंगे और मैं आप चित्स्वरूप के रंग में रँगा जाऊंगा, तो)
(**अहम् अपि** = मैं भी)
भवन्तं = आप के स्वरूप में
सततम् = सदा
आविशेयम्=समावेश किया करूंगा।
यस्मात् = फलतः
(**अहं** = मैं)
परम् = (आप के) अत्यन्त
आसत्ति- = निकट
गतः = पहुँच कर
रभसेन = उत्सुकता से
तव = आप के
एव = ही
साक्षात् = प्रत्यक्ष
वपुः = स्वरूप की (अर्थात् आप के तात्त्विक स्वरूप की)
सम् = भली भाँति
अर्चयेयम् = पूजा करूँगा, (अर्थात् आप चित्स्वरूप में पूर्ण रूप में समावेश किये रहूँगा ॥ २० "

हे नाथ ! त्वं तावत् स्फुटं—प्रकटं कृत्वा न तु गूहितत्वेन समाविश। अथानन्तरम् एवं विधे त्वयि सति, उपजातसामर्थ्योऽस्मि अहं भवन्तं सततम् आविशेयं—गाढावष्टम्भेन स्वीकरोम्येवेति नियोगे लिङ्। यस्मादिति—एवं सति, परमासत्तिगतः—अतिनिकटं प्राप्तस्तवैव[1] रभसेन—त्वरया साक्षाद्वपुः—तात्त्विकं स्वरूपं सम्यगर्चयेयं—समाविशेयमिति यावत् ॥ २० ॥

त्वयि न स्तुतिशक्तिरस्ति कस्या-
प्यथवास्त्येव यतोऽतिसुन्दरोऽसि।
सततं पुनरर्थितं ममैत-
द्यदविश्रान्ति विलोकयेयमीशम् ॥ २१ ॥

(**परभैरवात्मन्**=हे पर-भैरव स्वरूप !)
कस्यापि = (आप चिद्रूप को न पहचानने के कारण) किसी (ब्रह्मा-आदि देवता) को भी
त्वयि = आप की
स्तुति- = स्तुति करने का
शक्तिः = सामर्थ्य
न = नहीं

१ ख० पु० तथैव—इति पाठः।

अस्ति = होता।
अथवा = अथवा
(**कस्यापि**)=(जो आप चित्-स्वरूप को पहचानता है,) उस असामान्य (पुरुष में)
अस्ति एव = (आप की स्तुति करने की शक्ति) होती ही है,
यतः = क्योंकि
(**त्वम्** = आप)
अति-सुन्दरः = (चिदानन्द-घन होने के कारण) अत्यन्त ही रमणीय
असि = हैं।
मम = मेरी
पुनः = तो
सततम् = सदा
एतत् = यही
अर्थितम् = लालसा है
यद् = कि
(**अहम्** = मैं)
अविश्रान्ति = लगातार (अर्थात् आठों पहर)
(**त्वाम्** = आप)
ईशं = परमेश्वर को
विलोकयेयम् = देखता रहूँ, (अर्थात् समावेश में आप का साक्षात्कार करता रहूँ)* ॥ २१ ॥

कस्यापीति—ब्रह्मोपेन्द्ररुद्रादेरपि भेदमयत्वेन चिद्घनपरमेश्वररूपाप्रत्यभिज्ञानात्। अतिसुन्दर इति—चिदानन्दघनस्वात्मरूपत्वादतिस्पृहणीयो हृदयहारी। अतो यस्त्वामात्मानं प्रत्यभिजानाति तस्य कस्यापि[1]—असामान्यस्य त्वयि स्तुतिशक्तिरस्त्येव। कस्यापीति आवर्त्य योज्यम्। मम पुनः [2]स्तोतुः सततमेतदर्थितं—वाञ्छितं, यदविश्रान्ति—निर्विरामं त्वामीशं समवलोकयेयं—साक्षात्कुर्यामिति शिवम्॥ २१॥

इति श्रीमदुत्पलदेवाचार्यविरचितस्तोत्रावल्यामाविष्कार-
नाम्नि अष्टादशे स्तोत्रे श्रीक्षेमराजाचार्यविर-
चिता विवृतिः ॥ १८ ॥

---

* भावार्थ—हे भैरवनाथ! ब्रह्मा जैसे बड़े-बड़े देवता भी आपका गुण-गान नहीं कर सकते। फिर भला मैं कैसे कर सकूं? अतः मुझे ऐसा करने की अभिलाषा नहीं है। मेरी तो बस यही लालसा है कि मैं सदा आप के स्वरूप का साक्षात्कार करता रहूँ॥ २१॥

१ ख० पु० कस्यापीति—इति पाठः।

२ ग० पु० स्तोतुः सतः—इति पाठः।

ॐ तत् सत्

अथ

उद्योतनाभिधानम् एकोनविंशं स्तोत्रम्

प्रार्थनाभूमिकातीतविचित्रफलदायकः ।
जयत्यपूर्ववृत्तान्तः शिवः सत्कल्पपादपः ॥ १ ॥

प्रार्थना- =प्रार्थना की
भूमिका- =अवस्था से
अतीत- =परे (अर्थात् बढ़ चढ़ कर) होने वाले
विचित्र- =तथा अनूठे
फल- =फल को
दायकः =देने वाले
अपूर्व- =और अलौकिक
वृत्तान्तः =व्यवहार वाले
शिवः =भगवान् शंकर रूपी
सत्- =अत्यन्त उत्कृष्ट
कल्प-पादपः =कल्प-वृक्ष की
जयति =जय हो* ॥ १ ॥

सत्कल्पतरुर्वाञ्छितमेव ददाति; शिवस्तु प्रार्थयितुमशक्यमपि—इत्यपूर्ववृत्तान्तः ॥ १ ॥

सर्ववस्तुनिचयैकनिधाना-
त्स्वात्मनस्त्वदखिलं किल लभ्यम् ।
अस्य मे पुनरसौ निज आत्मा
न त्वमेव घटसे परमास्ताम् ॥ २ ॥

---

* भावार्थ—कल्प-वृक्ष तो केवल वही चीज़ प्रदान करता है जिस की इच्छा की जा सकती है और जिस के लिए प्रार्थना की जा सकती है अर्थात् संसार का सुख। भगवान् शंकर तो परमानन्द रूपी वह चीज भी प्रदान करता है जिस की न तो इच्छा की जा सकती है और न जिसके लिए प्रार्थना ही की जा सकती है। यही उस के व्यवहार का अनूठापन है और इसी लिए वह स्वर्ग-लोक के कल्प-वृक्ष से बढ़-चढ़ कर है ॥ १ ॥

(**त्रिलोकनाथ** = हे तीनों लोकों के स्वामी !)
सर्व- = सभी
वस्तु-निचय- = (जड़ तथा चेतन) वस्तुओं के
एक- = एक-मात्र
निधानात् = आश्रय होने वाले
त्वत्- = आप
स्वात्मनः = स्वात्म-देव से
अखिलं = सब कुछ
लभ्यम् = प्राप्त हो सकता है,
किल = इस में तनिक भी सन्देह नहीं है।
पुनः = किन्तु
अस्य मे त्वम् एव निजः आत्मा = (सदा स्वरूप-परामर्श करने में लगे हुए) मुझ को आप, अपने स्वात्म-स्वरूप ही,
न घटसे = प्रकट नहीं होते, (अर्थात् व्युत्थान में आप का साक्षात्कार मुझे नहीं होता),
परम् = अन्य सिद्धियों की बात तो
आस्ताम् = दूर रही॥ २ ॥

त्वदिति—त्वत्तः स्वात्मनः सर्वार्थैकाश्रयात्किल विश्वं लभ्यम्। अस्येति—सदा स्वरूपनिभालनप्रवणस्य मम पुनः परं लभ्यमास्तां, त्वमेव निज आत्मा—स्वं स्वरूपं न घटसे—व्युत्थानसमये न प्रकाशसे इति यावत् ॥ २ ॥

ज्ञानकर्ममयचिद्वपुरात्मा
सर्वथैष परमेश्वर एव।
स्याद्वपुस्तु निखिलेषु पदार्थे-
ष्वेषु नाम न भवेत्किमुतान्यत् ॥ ३ ॥

निखिलेषु = (संसार की) सभी
पदार्थेषु = वस्तुओं में
एषः = यह
ज्ञान- = ज्ञान
कर्म- = तथा क्रिया शक्ति से
मय- = सम्पन्न
चिद्वपुः = चित्-स्वरूप
परमेश्वरः = परमेश्वर
एव = ही
आत्मा = आत्मा
(**अस्ति** = है),
(**स एव** = और वही)
सर्वथा = सब प्रकार से
वपुः = (उन का वास्तविक) स्वरूप
स्यात् = हो सकता है।
(**अन्यथा** = यदि ऐसा न होता)

तु = तो
एषु = इन वस्तुओं में
नाम = (सत्ता का) नाम
(**एव** = भी)
न भवेत् = न होता
अन्यत् = और बातों की
उत किम् = बात ही नहीं ॥ ३ ॥

सर्ववस्तुषु चिद्वपुर्ज्ञानक्रियात्मा परमेश्वर आत्मा, स एव सर्वथा— सर्वेण प्रकारेण त्वदंशाधिष्ठानेन[1] वपुः—स्वरूपं स्यात्—अस्तीति सम्भाव्यते। एष इति—स्फुरद्रूपः। ननु विचित्रकार्यकारणानां[2] नानादेशस्वरूपाणां वस्तूनां कथमेकेश्वरात्मता सम्भाव्यते ? इत्याह एषु वस्तुषु अन्यथा नामैव[3]—संज्ञैव न भवेत्, किमुतान्यत्;—कार्यकारणस्वरूपादिकम्। प्रकाशमयत्वं विना कस्याप्यसिद्धेः। अन्यथा—इत्यध्याहार्यम् ॥३॥

विषमार्तिमुषानेन फलेन त्वदृगात्मना।
अभिलीय पथा नाथ ममास्तु त्वन्मयी गतिः ॥४॥

नाथ = हे प्रभु !
विषम- = (संसार के) भयंकर
अर्ति- = दुःखों को
मुषा = दूर करने वाले
त्वद्- = आप के
दृक्- = साक्षात्कार
आत्मना = रूपी
अनेन = इस
पथा = मार्ग से
अभिलीय = (मैं आप में) लीन हो जाऊं
फलेन = (और) फल-स्वरूप
मम = मुझे
त्वन्मयी = आप से अभिन्न रूप वाली
गतिः = अवस्था
अस्तु = प्राप्त हो जाय ॥ ४ ॥

विषमार्ति—संसारतापं मुष्णाति यस्त्वद्दृगात्मा[4]—त्वत्साक्षात्काररूपः पन्थाः[5], तेन मे अभिलीय—फलेन फलतः। त्वन्मयी—त्वदेकरूपा

१ क० पु० त्वदधिष्ठानेन—इति पाठः।
२ ग० पु० करणानाम्—इति पाठः।
३ ख० पु० पुनर्नाम—इति पाठः।
४ क० पु० यस्त्वद्दृशात्मा—इति पाठः।
५ ग० पु० पन्थास्तेन—इति पाठः।

गतिः—प्राप्तिरस्तु, भुक्त्वा देवदत्तगमनमिति वत्। अभिलीय—इत्यत्र क्त्वाप्रत्ययो योजयित्वा परतोऽस्तु—इति योज्यम्। अभिलीलेति पाठे स्फुर[1]च्चिदानन्दविलासा—इति व्याकर्तव्यम्॥ ४॥

भवदमलचरणचिन्तारत्नलता-
लङ्कृता कदा सिद्धिः।
सिद्धजनमानसानां विस्मयजननी
घटेत मम भवतः॥ ५॥

(**भक्तवत्सल** = हे भक्त-प्रिय प्रभु !)	**सिद्ध-जन-** = सिद्ध योगियों के
भवत्- = आप के	**मानसानां** = हृदय में
अमल- = (ज्ञान-क्रिया रूपी) निर्मल	**विस्मय-** = आश्चर्य
चरण- चरणों की	**जननी** = उत्पन्न करने वाली
***चिन्ता-** = ध्यान रूपिणी	**सिद्धिः** = (मुक्ति रूपिणी) सिद्धि
रत्न- = रत्नों की	**मम** = मुझे
लता- = लता से	**कदा** = भला कब
अलंकृता = सुशोभित	**भवतः** = आप से
(**एवं** = तथा)	**घटेत** = प्राप्त हो जायेगी॥ ५॥

भवतोऽमलाः—शुद्धा ये चरणाः—ज्ञानक्रियादिमरीचयस्तेषु चिन्ता—पुनःपुनर्निभालनं, सैव सर्वसंपत्प्रदत्वाद्रत्नलता, तया अलङ्कृता—संप्राप्तत्वदावेशशोभा कदा मम पूर्णा सिद्धिर्घटेत भवतः सकाशात्। कीदृशी? सिद्धजनमानसानां—योगिचित्तानां विस्मयजननी॥ ५॥

---

१ क० पु० अभिलीलस्फुरत्—इति पाठः।

* शब्दार्थ—चिन्ता = ध्यान, स्मरण।
चिन्तारत्न = चिन्तामणि। यह एक कल्पित रत्न है। कहा जाता है कि यह रत्न सब इच्छाओं को पूर्ण कर देता है।
सिद्ध-जन = जिस ने योग या तप में सिद्धि प्राप्त की हो, ऐसा पहुँचा हुआ साधु।

कर्हि नाथ विमलं मुखबिम्बं
तावकं समवलोकयितास्मि ।
यत्स्रवत्यमृतपूरमपूर्वं
यो निमज्जयति विश्वमशेषम् ॥ ६ ॥

नाथ = हे नाथ !
(**अहं** = मैं)
तावकं = आप के (उस)
विमलं = निर्मल
मुख-बिम्बं = मुख-मण्डल का (अर्थात अत्यन्त उत्कृष्ट शाक्त-स्वरूप का)
कर्हि = भला कब
समवलोकयितास्मि = साक्षात्कार करूंगा,
यत् = जो
अपूर्वं = अलौकिक
अमृत- = (चिदानन्द रूपी) अमृत की
पूरं = धारा
स्रवति = बहाता है,
यः = जो (धारा)
अशेषं = इस सारे
विश्वं = (भेदप्रथा-पूर्ण) जगत् को
निमज्जयति = डुबा देती है ॥ ६ ॥

व्युत्थानावस्थितस्येयमुक्तिः । कर्हि नाथ ! विमलं मुखबिम्बं—परं शाक्तं रूपं तव समवलोकयितास्मि—साक्षात्करिष्यामि । अमृतपूरम्—आनन्दप्रसरमपूर्वम्—अलौकिकम् । लोकयितृलोक्यरूपं विश्वं निमज्जयति ॥ ६ ॥

ध्यातमात्रमुदितं तव रूपं
कर्हि नाथ परमामृतपूरैः ।
पूरयेत्त्वदविभेदविमोक्षा-
ख्यातिदूरविवराणि सदा मे ॥ ७ ॥

नाथ = हे स्वामी !
मे = मेरे
ध्यात-मात्रम् = ध्यान करते ही
उदितं = (शाक्तोपाय-क्रम से) प्रकट बना हुआ
तव = आप का
रूपं = स्वरूप
परम- = (अपने चिदानन्द रूपी) उत्कृष्ट

*अमृत- = अमृत की
पूरैः = धाराओं से
त्वद्- = आप के
अविभेद- = अद्वयानन्द रूपी
विमोक्ष- = मोक्ष के
अख्याति- = अप्रथनात्मक
दूर- = गहरे
विवराणि = रन्ध्रों को (अर्थात् अद्वय-आनन्द को छुपा रखने वाली अन्य सांसारिक इच्छाओं को)
कर्हि = कब
सदा = सदा के लिए
पूरयेत् = आप्लावित करेगा (अर्थात् डुबा देगा) ! ॥ ७ ॥

त्वदविभेद एव विमोक्षः[1]—भेदबन्धापगमः। तस्य अख्यातिः—अप्रथा, तदीयानि दूराणि विवराणि—गहनान्याकाङ्क्षामयानि गर्तानि, कर्हि—कदा मे ध्यातमात्रमुदितं—चिन्तनानन्तरमेव[2] विकसितं सत्[3] तव संबन्धि रूपं—कर्तृ, सदा परमामृतपूरैः—आनन्दविसरैः, पूरयेत्—आप्लावयेत् ॥ ७ ॥

त्वदीयानुत्तररसासङ्गसन्त्यक्तचापलम् ।
नाद्यापि मे मनो नाथ कर्हि स्यादस्तु शीघ्रतः ॥८॥

नाथ = हे प्रभु !
मे = मेरा
मनः = मन
अद्यापि = अभी भी (अर्थात् बार-बार समावेश का आनन्द लूटने पर भी)
त्वदीय- = आप के
अनुत्तर- = अलौकिक

* सारांश —

हे प्रभु ! सांसारिक इच्छाएं जब तब मेरे हृदय पर अधिकार जमा कर इसे अद्वयानन्द से वंचित रखती हैं। अतः मेरी लालसा है कि मेरे ध्यान करते ही आप का स्वरूप चमक उठे और आनन्द-अमृत की धारा से उन इच्छाओं को प्रवाहित करें, अर्थात् उन को समूल तहस नहस कर डाले ॥ ७ ॥

१ क० पु० मोक्षः—इति पाठः।

२ ग० पु० चिन्तासमनन्तरमेव—इति पाठः।

३ ख० पु० तत्—इति पाठः।

रस- =(चिदानन्द-) रस के
आसंग- = सम्पर्क से भी
सन्त्यक्त-चापलं न (भवति) = पूर्ण रूप में अपनी चंचलता नहीं छोड़ पाता,
कर्हि = भला कब
स्यात् = (ऐसा) हो सकता है ?
(अर्थात् कब मेरा मन चञ्चलता को छोड़ सकेगा !)
शीघ्रतः = काश, (ऐसा) तुरन्त
अस्तु = होता ! (अर्थात् काश, मेरा मन सदा के लिए व्युत्थान से अपना पिंड छुड़ा सकता !) ॥८॥

त्वदीयोऽनुत्तरो रसः—परचित्प्रसरः, तदासङ्गः—तत्परत्वं, तेनापि सन्त्यक्तचापलं—गलितव्युत्थानम्, अद्यापीति—असकृदास्वादितेऽपि समावेशे । कर्हि शीघ्रं स्यात्—इति गाढोत्कण्ठापरत्वं सूचयति ॥ ८ ॥

मा शुष्ककटुकान्येव परं सर्वाणि सर्वदा ।
तवोपहृत्य लब्धानि द्वन्द्वान्यप्यापतन्तु मे ॥ ९ ॥

(**भगवन्** = हे भगवान् !)
सर्वाणि = सभी
द्वन्द्वानि = (सरदी-गरमी आदि) जोड़े
त्वद्-अद्वयामृत-रस-रहितत्वेन = आप के अद्वय-अमृत-रस से रहित होने के कारण
शुष्क- = नीरस
कटुकानि = और कड़वे
एव = ही
(**सन्ति** = हैं,)
(**अतः एतानि** = अतः ये)
मे = मेरे पास
मा = (कभी) न
आपतन्तु = आ जाएं ।
परं = किन्तु (यदि ये जोड़े)
तव = आप के
उपहृत्य = (चिदानन्द के सम्पर्क को) पाकर
लब्धानि = प्राप्त हो जाएं,
(**एतानि सर्वाणि** = तो ये सभी)
अपि = ही
सर्वदा = (मेरे पास) सदा
(**आपतन्तु** = आते रहें ॥ ९ ॥)

तवोपहृत्य लब्धानि—चिन्मयत्वेन[1] त्वय्यनुप्रविश्य व्युत्थाने समावेशसंस्काररसास्वादनासादितानि[2], परं सर्वकालं सर्वाणि द्वन्द्वानि—

---

१ ग० पु० चिन्मये—इति पाठः ।

२ ग० पु० आस्वादानि—इति पाठः ।

शीतोष्णादीन्यपि[1] आपतन्तु, शुष्ककटुकान्येव—पुनस्त्वदद्वयस्पर्शामृता-[2] पूर्णत्वाद्रूक्षदुःस्वादप्रायाणि मा—मैवम्[3] ॥ ९ ॥

नाथ साम्मुख्यमायान्तु विशुद्धास्तव रश्मयः ।
यावत्कायमनस्तापतमोभिः परिलुप्यताम् ॥१०॥

नाथ = हे स्वामी !
तव = आप की
विशुद्धाः = निर्मल (अर्थात् अनुग्रह-स्वरूपिणी
रश्मयः = (अघोर-रूप) शक्तियां
(तावत् = तब तक)
साम्मुख्यम् = मेरे सामने
आयान्तु=आ जाएं, (अर्थात् साक्षात्कार के मार्ग पर देदीप्यमान बनी रहें)
यावत् = जब तक कि
काय- =(भूख, प्यास आदि) शारीरिक
मनः- = तथा (काम, क्रोध आदि) मानसिक
ताप- = दुःख रूपी
तमोभिः = अन्धकार
परि- = पूर्ण रूप में
लुप्यताम् = नष्ट हो जाए ॥ १० ॥

साम्मुख्यमायान्तु—देहादिप्रथां निर्मज्ज्य[4] प्रस्फुरन्तु । शुद्धाः—अनुग्रहपराः, रश्मयः—शक्तयः । कायमनस्तापतमोभिरिति—कायमनस्तापा एव तमांसि, तैः परिलुप्यतां—समन्तान्नश्यताम् ॥ १० ॥

देव प्रसीद यावन्मे त्वन्मार्गपरिपन्थिकाः[5] ।
परमार्थमुषो वश्या भूयासुर्गुणतस्कराः[6] ॥ ११ ॥

---

१ क० पु० शीतोष्णादीन्येव—इति पाठः ।
२ ख० पु० पुनरद्वयः—इति पाठः ।
३ घ० पु० मैव—इति पाठः ।
४ क० पु० निमज्ज्य—इति पाठः ।
५ क० पु० परिपन्थकाः—इति पाठः ।
६ ख० पु० भवेयुरिति—इति पाठः ।

देव = हे प्रकाश-स्वरूप !
त्वद्- = आप के
मार्ग- = (पारमार्थिक) मार्ग को
परिपन्थिकाः = रोके रखने वाले (अर्थात् शाक्त-भूमि में प्रवेश करने से रोकने वाले)
(**एवं** = और इसीलिए)
परमार्थ- = परमार्थ अर्थात् चिदेकता को
मुषः = छीनने वाले (अर्थात् उसे बेकार बनाने वाले)
गुण- = (सत्त्व आदि तीन) गुण रूपी अथवा इन्द्रिय रूपी
तस्कराः = चोर
यावत् = जब तक
मे = मेरे
वश्याः = वश में
भूयासुः = हो जायें,
(**तावत्** = तब तक)
(**त्वं** = आप)
प्रसीद = (मुझ पर) प्रसन्न रहिए, (अर्थात् मुझ पर दया करते रहें) ॥ ११ ॥*

प्रसादः प्राग्वत् । त्वन्मार्गपरिपन्थिकाः[1]—परमार्थशाक्तभूमिप्रवेशरोधिनः, अत एव परमार्थं[2]—चिदभेदं मुष्णन्ति—अपहरन्ति, अनुपभोग्यं सम्पादयन्ति ये गुणाः—सत्त्वादय एव तस्कराः, ते वश्या भूयासुः । तदुक्तं

'गुणादिस्पन्दनिःष्यन्दाः········ ।
·········स्युर्ईस्यापरिपन्थिनः' ॥ स्पं०, नि० १, श्लो० १९ ॥

इति । 'प्रसीद, भूयासुः'—इति लोड्लिङौ सम्भूय आशीर्विशिष्टां

---

* भावार्थ—हे प्रभु ! ये मेरी इन्द्रियाँ और सत्त्व आदि गुण मेरे बड़े शत्रु हैं । जब मैं आप के मार्ग पर चलने लगता हूँ, तो ये बटमारों की तरह मुझे रोकते हैं और मेरे परमार्थ-धन को छीन कर मुझे इससे वञ्चित रखते हैं । जरा मुझ पर प्रसन्न रहने की कृपा तो कीजिए, ताकि मैं इन बटमारों को वश में कर सकूँ और इन्हें मनमानी न करने दूँ । जब ऐसा होगा तो आप की कृपा आप से आप ही मुझे प्राप्त होगी और फिर मुझे आप के सामने गिड़गिड़ाना नहीं पड़ेगा ॥ ११ ॥

१ क० पु० परिपन्थकाः—इति पाठः ।
२ क० पु० परममर्थम्—इति पाठः ।

प्रार्थनां गमयतः। यथा लुनीहि लुनीहि—इत्यादौ लोड्वचने कर्मव्यतिहारात्। एवमन्यत्रापि स्मर्तव्यम्। स्वामिनि प्रसन्ने चौर वश्या भवन्ति—इति लौकिकोऽर्थः स्पष्ट एव ॥ ११ ॥

त्वद्भक्तिसुधासारै-
र्मानसमापूर्यतां ममाशु विभो।
यावदिमा उड्यन्तां
निःशेषासारवासनाः प्लुत्वा ॥ १२ ॥

विभो = हे व्यापक प्रभु !
मम = मेरा
मानसं = मन रूपी मानसरोवर
(**तावत्** = तब तक)
त्वद्- = आप की
भक्ति- = भक्ति रूपी
सुधा- = अमृत की
आसारैः = धाराओं से
आशु = तुरन्त
आपूर्यतां = भर दिया जाय,
यावत् = जब तक
इमाः = ये
निःशेष- = सभी
असार- = तुच्छ
वासनाः = (संकल्प-विकल्प-मय) वासनायें (रूपी पक्षी)
प्लुत्वा = एकदम उठ कर
उड्यन्ताम् = उड़ जायें ॥ १२ ॥*

१ घ० पु० लुनीहीत्यादौ—इति पाठः।

२ ग० पु० लोड्-द्विर्वचने—इति पाठः।

* (क) शब्दार्थ—

मानस = (१) मन, (२) मानस नाम का सर, मानसरोवर।

सुधा = अमृत = (१) अमृत, पीयूष (२) जल।

हंस = (१) राजहंस (२) शिवजी।

(ख) भावार्थ—

हे हंस (शङ्कर) ! बरसात आते ही हंस मानसरोवर को चले जाते हैं। उन के वहाँ पहुँचने पर और मानसरोवर के अमृत-जल से भर जाने पर वहाँ के अन्य पक्षियों के रहने के लिए अवकाश ही नहीं रहता और उन पक्षियों को स्वयं बहिष्कृत होना पड़ता है। फलतः वहाँ केवल हंस ही विराजमान होते हैं और उन से मानसरोवर की शोभा बढ़ती है।

मानसं—चित्तं सरश्च। असाराः—कुत्सिताः, सरस्यपि असारैः पूरिते, असारवासनाः—कद्रूदकवासनाः प्लुत्वा—उत्प्लुत्य स्वयमेव उह्यन्ते—बहिर्निःसरन्ति ॥ १२ ॥

मोक्षदशायां भक्ति-
स्त्वयि कुत इव मर्त्यधर्मिणोऽपि न सा।
राजति ततोऽनुरूपा-
मारोपय सिद्धिभूमिकामज माम् ॥ १३ ॥

अज = हे स्वयंभू महादेव !
मर्त्य-धर्मिणः = मरना है स्वभाव जिस का, ऐसे मनुष्य को
मोक्ष- = मोक्ष की
दशायां = दशा को पहुँचने के लिए
त्वयि = आप की
भक्तिः = भक्ति
कुतः इव = भला कैसे
(भवति = हो सकती है !)
सा = वह (भक्ति)
(तत्र = वहाँ, अर्थात् उस के हृदय में)
न राजति = चमक नहीं उठती।
(अतः त्वं = अतः आप
ततः = उस (समावेश रूपिणी) भक्ति के
अनुरूपां = योग्य (अर्थात् समावेश-मयी)
सिद्धि-भूमिकां = परम-सिद्धि-भूमि पर (अर्थात् परम-शिव-पदवी पर)
माम् = मुझे
आरोपय = पहुँचायें ॥ १३ ॥

मोक्षदशा—परमशिवता, जीवन्मुक्तता मुक्तप्रायता। यदनेनैवोक्तं 'तस्यामाद्यदशारूढा मुक्तकल्पा वयं ततः'। शिव० स्तो०, स्तो० १६, श्लो० १९ ॥

आप हंस (शिव) मेरे मानस (मन) में प्रकट हो जाइये और इसे अपनी भक्ति रूपी अमृत से भर दीजिए। फिर वहाँ तुच्छ वासनाओं के लिए अवकाश नहीं रहेगा और वह स्वयं बहिष्कृत हो जायेंगी। फलतः मुझे आप के साक्षात्कार से परमानन्द का लाभ होगा और उस से मेरे मानस (मन) की शोभा बढ़ेगी ॥ १२ ॥

१ क० पु० सिद्धभूमिकाम्—इति पाठः।

इति। मर्त्यधर्मिण इति—अप्रत्यभिज्ञातात्मस्वरूपस्य। अनुरूपामिति—प्राग्वद्रुद्रशक्तिसमावेशमयीम्। परम[1]सिद्धिभूमिं—तत्रैव प्रभुदासभावस्य स्फुटं स्फुरणात् ॥ १३ ॥

सिद्धिलवलाभलुब्धं
मामवलेपेन मा विभो संस्थाः।
क्षामस्त्वद्भक्तिमुखे
प्रोल्लसदणिमादिपक्षतो मोक्षः ॥ १४ ॥

विभो = हे व्यापक प्रभु !
(**त्वं** = आप)
माम् = मुझे
अवलेपेन = अभिमान के साथ
सिद्धि-लव- = (भेद-मय अणिमा आदि) आंशिक सिद्धियों के
लाभ- = लाभ के लिए
लुब्धं = लालायित
मा = कभी न
संस्थाः = बनाइये,
(**यतः** = क्योंकि)
प्रोल्लसत्- = अत्यन्त चमकीली-भड़कीली (अर्थात् लुभाने वाली)
अणिमा-आदि- = अणिमा आदि (आठ सिद्धियों) के
पक्षतः = आधार पर (प्राप्त किया गया)
मोक्षः = मोक्ष
त्वद्-भक्ति-मुखे = आप की भक्ति के सामने (अर्थात् आप के समावेश के आनन्द के सामने)
क्षामः = क्षीण अर्थात् अपूर्ण
(**भवति** = होता है) ॥ १४ ॥

समावेशात्मकपूर्णसिद्ध्यपेक्षया भेदमयाणिमादयः सिद्धिलवास्त-[2]ल्लाभे लुब्धं मा संस्थाः[3]। अवलेपेनेति—मां सिद्धिलवलुब्धमाकलय्य मावलेपं कुर्या इति यावत्। ननु [4]पारमेशे नये साधकानां सिद्ध्युपभोगानन्तरं

---

१ ग० पु० परसिद्धिभूमिम्—इति पाठः।
२ क० पु० तल्लाभलुब्धम्—इति पाठः।
३ ग० पु० मंस्थाः—इति पाठः।
४ ख० पु० पारमेशनये—इति पाठः।

.........'भुक्त्वा भोगांश्छिवं व्रजेत् ।'

इत्याम्नायेषु शिवतैव श्रूयते, तत्किमत्रारुचिरित्याशङ्क्य युक्तिमाह—प्रोल्लसदणिमादिपक्षादनन्तरं कालान्तरे यो मोक्षस्त्वद्भक्तिमुखे—त्वत्समावेशानन्दस्य पुरतः, क्षामः—अत्यल्पः ॥ १४ ॥

दासस्य मे प्रसीदतु
भगवानेतावदेव ननु याचे ।
दाता[1] त्रिभुवननाथो
यस्य न तन्मादृशां दृशो विषयः ॥ १५ ॥

(**नाथ** = हे स्वामी !)
(**अहं तु** = मैं तो)
ननु = सचमुच
एतावत् = इतनी
एव = ही
याचे = प्रार्थना करता हूँ कि
भगवान् = (आप) प्रभु-देव
मे = मुझ
दासस्य = दास पर
प्रसीदतु = प्रसन्न रहें ।
यस्य = जिस
(**फलस्य** = फल का)
दाता = दाता (अर्थात् जिस मोक्ष रूपी असामान्य फल का दाता)
त्रिभुवन- = तीनों लोकों के
नाथः = स्वामी (आप हैं),
तत् = वह (मोक्षात्मक फल)
मादृशां = मुझ जैसे (लोगों) की
दृशः = बुद्धि का
विषयः = विषय
न (अस्ति) = नहीं है, (अर्थात् वह मुझ जैसे लोगों की समझ से बाहिर है) ॥ १५ ॥

एतावदिति—न तु अणिमादि । प्रसीदतु इति । त्रिभुवनं प्राग्वत् । यस्येति—असम्भाव्यस्य [सम्भावितस्य] फलस्य, तत्फलं-सदृशाम्[2], इति न मादृशां[3] दृश इति—बुद्धेः ॥ १५ ॥

---

१ क० पु० धाता—इति पाठः ।

२ क० पु० मादृशम्—इति पाठः ।

३ ग० पु० तादृशाम्—इति पाठः ।

त्वद्वपुःस्मृतिसुधारसपूर्णे
मानसे तव पदाम्बुजयुग्मम् ।
मामके विकसदस्तु सदैव
प्रस्रवन्मधु किमप्यतिलोकम् ॥ १६ ॥

(प्रभो = हे प्रभु !)
त्वद्- = आप के
वपुः- = स्वरूप के
स्मृति- = चिन्तन रूपी
सुधा- = अमृत के
रस- = रस से
पूर्णे = भरे हुए
मामके = मेरे
मानसे = मन में
तव = आप के
पद-अम्बुज- = चरण-कमलों का
युग्मं = जोड़ा
किमपि = अवर्णनीय
अतिलोकं = तथा अलौकिक
मधु = (परमानन्द रूपी) अमृत को
प्रस्रवत् = बहाते हुए
सदैव = सदैव
विकसत् = खिला
अस्तु = रहे, (अर्थात् भेद रूपी संकोच को दूर करता रहे)॥१६॥

पादाम्बुजयुग्मं प्राग्वत् । विकसद्—भेदसंकोचमुज्झत् । मधु—परमानन्दरूपं माधुर्यम् । अतिलोकम्—अलौकिकम् । रसपूर्णे च मानसे अम्बुजं विकसन्मधु स्रवति ॥ १६ ॥

अस्ति मे प्रभुरसौ जनकोऽथ
त्र्यम्बकोऽथ जननी च भवानी ।
न द्वितीय इह कोऽपि ममास्ती-
त्येव निर्वृततमो विचरेयम् ॥ १७ ॥

अथ = अब
असौ = यह
त्र्यम्बकः = त्र्यम्बक नाथ (अर्थात् इच्छा, ज्ञान और क्रिया रूपिणी तीन शक्तियों का स्वामी)
प्रभुः = प्रभु, शंकर
मे = मेरा
जनकः = पिता

1 ख० पु० अस्तु—इति पाठः ।

अस्ति = है	**मम** = मेरा
अथ च = और	**न** = नहीं।
भवानी = पार्वती जी (परा-शक्ति)	**अस्ति** = है।
(**मे** = मेरी)	**इत्येव** = इतने में ही
जननी = माता (है)।	**निर्वृततमः** = अत्यन्त आनन्दित
इह = इस संसार में	(**सन्** = होकर)
द्वितीयः = दूसरा	(**अहं** = मैं)
कोऽपि = कोई भी	**विचरेयम्** = विहार करूँ ॥ १७ ॥

असाविति—चिद्घनो मे प्रभुः—अनुग्राहकः जनकः, प्रमातृतोल्लासकश्च त्र्यम्बकः। तथा भवानी—पराशक्तिः जननी प्रभ्वी चास्ति। ईदृशस्यैव प्रत्यभिज्ञातमहेश्वरस्वरूपस्य मे इह—जगति न द्वितीयः कोऽप्यस्ति। ममेति शेषे षष्ठी। इत्येव—एतावतैव। निर्वृततमः—अत्यर्थं प्रमुदितो विचरेयं—विहरेयमिति शिवम्॥ १७॥

इति श्रीमदुत्पलदेवाचार्यविरचितस्तोत्रावलावुद्योतनाभिधानैकोनविंशस्तोत्रे श्रीक्षेमराजविरचिता विवृतिः॥ १९॥



ॐ तत् सत्

अथ

चर्वणाभिधानं विंशं स्तोत्रम्

नाथं त्रिभुवननाथं भूतिसितं त्रिनयनं त्रिशूलधरम् ।
उपवीतीकृतभोगिनमिन्दुकलाशेखरं वन्दे ॥ १ ॥

(अहं = मैं)
त्रिभुवन- = तीनों लोकों के
नाथं = स्वामी,
भूति- = भस्म (के लेप) से
सितं = गोरे रंग वाले
त्रिनयनं = त्रिनेत्र-धारी
त्रिशूल- = त्रिशूल को
धरम् = धारण करने वाले
उपवीती-कृत-भोगिनम् = (वासुकि आदि) सर्पों को यज्ञोपवीत के रूप में गले में धारण करने वाले
इन्दुकला- = तथा चन्द्र-कला को
शेखरं = माथे पर धारण करने वाले
नाथं = अपने स्वामी को
वन्दे = प्रणाम करता हूँ ॥ १ ॥

त्रिभुवनं प्राग्वत् । भूतिः—विश्वमयी विभूतिः, तथा सितं—सम्बद्धं षिञ् बन्धने इत्यस्य सितशब्दः । त्रीणि—इच्छाज्ञानक्रियाख्यानि नयनानि यस्य । भेदोद्दलनहेतोः प्रज्वलद्ज्ञानरूपस्य त्रिशूलस्य धारकम् । उप—समीपे वीतीकृताः—विशेषेणेताः कृताः—अनुगृहीताः, तथा बहिः पूजानिरताः आभासनेन कान्तिमन्तः कृताः संहृताश्च भोगिनः प्रसरा येन, वी[1] गतावित्यस्य प्रयोगः । इन्दुकला—विश्वजीविनी चितिशक्तिः शेखरं—मुख्यं रूपं यस्य । समग्रमेयमयी इन्दुकला वा स्वातन्त्र्य[2]-प्रथनहेतुत्वात् शेखरः—क्रीडार्थमाहार्यं मण्डनं यस्य, तं वन्दे—इति प्राग्वत् । बाह्यक्रमेण स्पष्टोऽर्थः ॥ १ ॥

---

१ ख० पु० इणो वी गतीत्यस्य—इति पाठः ।

२ ग० पु० स्वातंत्र्यप्रथने हेतुत्वात्—इति पाठः ।

नौमि निजतनुविनिस्सरदंशुकपरिवेषधवलपरिधानम् ।
विलसत्कपालमालाकल्पितनृत्तोत्सवाकल्पम् ॥ २ ॥

निज- = जो अपने
तनु- = (चिन्मय) स्वरूप से
विनिःसरत्- = चमक उठने वाले
अंशुक-परिवेष- = किरण-मंडल रूपी
धवल- = शुभ्र (अर्थात् सफेद रंग के
परिधानं = वस्त्र को धारण करता है
(**तथा** = तथा)
विलसत्[1]-कपाल[2]-माला-कल्पित-
नृत्त[2]-उत्सव-आकल्पं = जो (तांडव नामक) नृत्य[3] रूपी उत्सव के समय चमकती[1] हुई मुण्ड[2]-माला से (अपने को) सुशोभित[4] करता है,
(**ताण्डव-प्रियम्** = ऐसे ताण्डव-प्रिय, भगवान् शंकर को)
(**अहं** = मैं)
नौमि = प्रणाम करता हूँ ॥ २ ॥

निजतनुः—चिन्मयं रूपं, ततो विनिःसरन्—स्फुरन् अंशुकपरिवेषः—रश्मिपुञ्जप्रसर एव धवलं—शुद्धं परिधानं—प्रावरणं यस्य

.........'उत्सरत्प्रकृतिः[1] शिवः' ।

इति स्थित्या स्वशक्तिचक्रेण सततमाश्लिष्टमित्यर्थः । विकसन्त्या—स्वात्मनियोजनेन देदीप्यमानतया[2] विलसन्त्या—स्फुरन्त्या कपालमालया सदाशिवादिसकलान्ताशेषप्रमातृमुण्डमालया[3] कल्पितो[4] नृत्तोत्सवे—स्वातन्त्र्यविजृम्भाभ्युदय आकल्पो मण्डनं येन । बाह्यक्रमेण स्पष्टोऽर्थः ॥

वन्दे तान् दैवतं येषां हरश्रेष्ठा हरोचिताः ।
हरैकप्रवणाः प्राणाः सदा सौभाग्यसद्मनाम् ॥ ३ ॥

(**अहं** = मैं)
तान् = उन
(**भक्तान्** = भक्त-जनों को)
सदा = सदा

---

१ क० पु० प्रसरत्प्रकृतिः—इति पाठः ।
ग० पु० प्रसरद्दृक्क्रियः शिवः—इति पाठः ।
२ ख० पु० देदीप्यमानया—इति पाठः ।
३ ग० पु० माल्या—इति पाठः ।
४ घ० पु० कल्पिते—इति पाठः ।

वन्दे, = प्रणाम करता हूँ,
येषां = जिन
सौभाग्य-सद्मनां = (परमानन्द-पूर्ण होने के कारण) सौभाय-शाली
(**भक्तानां** = भक्तों का)
दैवतं = देवता (इष्ट-देव)
हरः = महादेव है,
(**येषां** = जिन की)
चेष्टाः = सभी चेष्टाएँ
हर- = महादेव (की प्राप्ति) के
उचिताः = अनुकूल
(**भवन्ति** = होती हैं)
(**एवं** = और)
(**येषां**) **प्राणाः** = जिन का सारा जीवन
हर-एक- = केवल महादेव की
प्रवणाः = भक्ति में ही लीन
भवन्ति = बना रहता है ॥ ३ ॥

हरोचिताः—सृष्टिसंहारानुग्रहादिरूपाः । हरैकप्रवणाः—नित्यतत्समावेशरसिकाः । प्राणाः—जीवितम् । अत एव सौभाग्यसद्मत्वं—परमानन्दपूर्णत्वेन विश्वस्पृहणीयत्वात् ॥ ३ ॥

क्रीडितं तव महेश्वरतायाः पृष्ठतोऽन्यदिदमेव यथैतत् ।
इष्टमात्रघटितेष्ववदाने[1]ष्वात्मना परमुपायमुपैमि ॥ ४ ॥

(**प्रभो** = हे प्रभु !)
तव = आप की
महेश्वरतायाः = महेश्वरता (अर्थात् विश्वप्रभुता) के
पृष्ठतः एव = साथ ही
इदम् = (आप की) यह
अन्यत् = दूसरी
क्रीडितं = लीला
(**दृश्यते** = देखने में आती है ।)
यथा एतत् = वह यह है कि
(**अहम्** = मैं)
इष्टमात्र- = केवल इच्छा से ही
घटितेषु = सिद्ध बने हुए
अवदानेषु = (आप के पांच प्रकार के कार्य रूपी) अद्भुत कर्मों के करने में
आत्मना = स्वयं ही
परम् = परिपूर्ण
उपायम् = उपाय
उपैमि = प्राप्त करता हूँ । (अर्थात् आप के समावेश से मैं भी आप की तरह अनायास ही पंच-विध-कृत्य-कारी बन जाता हूँ और यही आप की दूसरी लीला है ।) ॥४॥

---

1 क० पु० ष्वपदानेषु—इति पाठः ।

समावेशस्फारेण जगत् क्रीडात्वेन पश्यत[1] इयमुक्तिः। तव महेश्वरतायाः—विश्वप्रभुतायाः पृष्ठत एव—उपर्येव अन्यदिदं क्रीडितम्। यथैतदिति—प्रदर्शनार्थम्[2], इष्टमात्र—घटितेषु—इच्छामात्रसम्पन्नेषु[3] अवदानेषु[4]—अद्भुतकर्मसु त्वदीयपञ्चविधकृत्यात्मसु चरितेषु, अहमात्मना—स्वयमेव परिपूर्णमुपायं स्वबलाक्रमणमुखेऽपि प्राप्नोमि, त्वत्समावेशात् स्वं चिद्बलमाक्रम्य त्वद्वदहं पञ्चविधकृत्यकारी यत् तत्तवापरं क्रीडितमित्यर्थः। एवकारो भिन्नक्रमः ॥ ४ ॥

त्वद्धाम्नि विश्ववन्द्येऽस्मिन्नियति क्रीडने सति।
तव नाथ कियान् भूयान्नानन्दरससम्भवः ॥ ५ ॥

नाथ = हे स्वामी!
विश्व- = सारे जगत् से
वन्द्ये = पूजे जाने योग्य
त्वद्- = आप के
धाम्नि = प्रकाश-स्वरूप परम धाम में
इयति = जब इतनी (अर्थात् इस समस्त ब्रह्माण्ड की रचना रूपिणी)
अस्मिन् = यह
क्रीडने = क्रीडा (अर्थात् लीला)
सति = है,
(**ततः** = तो भला)
तव = आप (के संपूर्ण स्वरूप) के
आनन्द-रस- = आनन्द-रस की
सम्भवः = उत्पत्ति
कियान् = कितनी
भूयान् = बड़ी (या अधिक)
(**भवेत्** = होगी!) ॥ ५ ॥

विश्ववन्द्यं यत्त्वद्धाम—त्वन्महः, तत्रान्तर् इयति—विश्वात्मन्यस्मिन् क्रीडने सति, तव कियान् भूयानिति—अनल्पः स्वानन्दरसानुरूपमेव सर्वःक्रीडति? यस्य चेयद्विश्वं क्रीडा तस्य अपर्यन्त एवानन्दः, इति स्वात्मनस्तद्दासतया श्लाघां व्यनक्ति। अत एव नाथेत्यामन्त्रणम् ॥ ५ ॥

---

१ क० पु० पश्यता—इति पाठः।
२ ग० पु० प्रदर्शनार्थे—इति पाठः।
३ ग० पु० इच्छयैव संपन्नेषु—इति पाठः।
४ क० पु० अपदानेषु—इति पाठः।

कथं स सुभगो मा भूद्यो गौर्या वल्लभो हरः ।
हरोऽपि मा भूदथ किं गौर्याः परमवल्लभः ॥ ६ ॥

यः = जो
हरः = (आनन्द-घन) महादेव
गौर्याः=गौरी (अर्थात् परा शक्ति) का
वल्लभः = प्रिय
(**अस्ति** = है,)
सः = वह
कथं = क्यों
सुभगः = सुन्दर (अथवा सौभाग्य-शाली और इसी लिए सब के लिए स्पृहणीय)
मा भूत् = न हो !
अथ = और
हरः = (समावेश के चमत्कार के कारण मनोमुग्धकारी तथा चिदानन्द-घन,) शंकर
अपि = भी
गौर्याः=गौरी (अर्थात् परा शक्ति) का
परम-वल्लभः = अत्यन्त प्रिय
किं = क्यों
मा भूत् = न हो ! ॥ ६ ॥

सुभगः—सर्वस्य स्पृहणीयः । गौर्याः—परस्याः शक्तेः, वल्लभः—स्पृहणीयः स आनन्दघनः पराभट्टारिकयालिङ्गित इत्यर्थः । हरः—समावेशचमत्कारेण हृदयहारी द्वैतपदस्य संहर्ता च यः, परशक्तेः परमवल्लभ एव ॥ ६ ॥

ध्यानामृतमयं यस्य स्वात्ममूलमनश्वरम् ।
संविल्लतास्तथारूपास्तस्य कस्यापि सत्तरोः ॥ ७ ॥

यस्य = जिस
सत्-तरोः = (समावेश-शाली) भक्त रूपी उत्तम पेड़ की
स्वात्म- = अपनी आत्मा का
मूलं = कारण (अर्थात् जन्मदाता) रूपी जड़
ध्यान- = ईश्वर-ध्यान रूपी
अमृत- = अमृत से
मयम् = परिपूर्ण
(**एवम्** = और)
अनश्वरम् = अविनाशी हो,
तस्य = उस
कस्यापि = अलौकिक
(**सत्-तरोः** =भक्तरूपी उत्तम पेड़ की)
संवित्- = विषय ज्ञान रूपी
लताः = शाखायें
(**अपि** = भी)
तथारूपाः = वैसी ही ध्यानामृत-मय और परिपूर्ण
(**सन्ति** = होती हैं) ॥ ७ ॥

यस्य—समावेशशालिनः स्वात्मनो मूलं—कारणं ध्यानामृतमयं—स्वरूपगोपनोन्मुखचिदानन्दसारप्रत्यभिज्ञातशिवभट्टारकस्वरूपम्। यथोक्तं 'अस्ति मे प्रभुरसौ जनकोऽथ'...... । शि० स्तो०, स्तो० १९, श्लो० १७ ॥ इत्यादि। अनश्वरं—चिद्रूपतयैव नित्यं, तस्य—कस्याप्यतिदुर्लभस्य सत्तरोः—सन्तापहारिणः शोभनपादपस्य संविल्लताः—नीलसुखादिज्ञानानि, तथारूपा इति—ध्यानामृतमय्य एव ॥ ७ ॥

भक्तिकण्डूसमुल्लासावसरे परमेश्वर।
महानिकषपाषाणस्थूणा पूजैव जायते ॥ ८ ॥

परमेश्वर = हे परमात्मा !
भक्ति- = भक्ति (की तीव्रता) रूपिणी
कण्डू- = खुजली के
समुल्लास- = चमक उठने के
अवसरे = समय पर
पूजा एव = (समावेश-मयी) पूजा रूपी
महा-निकष-पाषाण-स्थूणा=कसौटी के पत्थरों का बड़ा खंभा
जायते = उत्पन्न होता है, (और वह खंभा अपनी रगड़ से उस खुजली को शान्त करता है)* ॥ ८ ॥

भक्तिः—भगवदनुराग[1] एव वैवश्यदायित्वात् कण्डूस्तस्याः समुल्लासे पूर्वनिर्णीता[2] पूजैव महानिकषपाषाणस्थूणा—निघर्षोपलमयो महास्तम्भः, भक्तिकण्डूं यः प्रशमय्य आनन्दघनस्वात्मविश्रान्तिहेतुर्जायते[3] इत्यर्थः ॥८॥

सदा सृष्टिविनोदाय सदा स्थितिसुखासिने।
सदा त्रिभुवनाहारतृप्ताय स्वामिने नमः ॥ ९ ॥

---

* भावार्थ—जिस प्रकार खंभे आदि के साथ रगड़ने से खुजली की तीव्रता शान्त होती है, उसी प्रकार शंकर की भक्ति के चरम सीमा को पहुँचने पर भक्त समावेश का आनन्द उठाने में समर्थ होता है, जिस के फलस्वरूप उसे परमानन्द का लाभ होता है ॥ ८ ॥

१ ग० पु० भवदनुराग एव—इति पाठः ।
२ ख० पु० पूर्णनिर्णीता—इति पाठः ।
३ ग० पु० भवते—इति पाठः ।

सदा = जो सदा
सृष्टि- = (इस जगत् की) सृष्टि
विनोदाय = (अपने) विनोद (अर्थात् जी बहलाने) के लिए करता है,
सदा = जो सदा
स्थिति- = (इस की) रक्षा कर के
सुख- = सुख से
आसिने = बैठा रहता है
(**एवं** = तथा)
सदा = जो सदा
त्रिभुवन- = (स्वर्ग, पृथ्वी और पाताल—इन) तीनों लोकों का
आहार- = (संहार रूपी) आहार करके
तृप्ताय = तृप्त बना रहता है,
स्वामिने = ऐसे प्रभु-देव (भगवान् शंकर) को
नमः = (मेरा) प्रणाम हो ॥ ९ ॥

'तदेवं व्यवहारेऽपि प्रभुर्देहादिमाविशन् ।
भान्तमेवान्तरर्थौघमिच्छया भासयेद्बहिः ॥'

ई० प्र०, १ अ०, ६ आ०, ७ का० ॥

इति स्थित्या देहादिमाविशतोऽपि भगवतः प्रतिक्षणं तत्तदनन्तग्राह्यग्राहकाद्याभाससंयोजन[1]वियोजनक्रमेण सृष्ट्यादिहेतुत्वम् । यथा[2] चैतत्तथा मया स्पन्दसन्दोहे वितन्य निर्णीतमिति स एवावेद्यः ॥ ९ ॥

न क्वापि गत्वा हित्वापि न किंचिदिदमेव ये ।
भव्यं त्वद्धाम पश्यन्ति भव्यास्तेभ्यो नमो नमः ॥१०॥

(**प्रभो** = हे स्वामी !)
ये = जो
भव्याः = भाग्यशाली (भक्त-जन)
क्वापि = किसी (विशेष द्वादशान्त आदि) स्थान को
न = न
गत्वा = जा कर ही
(**एवं** = तथा)
किंचित् अपि=(हान-आदान आदि) किसी कर्म को
न = न
हित्वा = त्याग कर ही
इदम् एव = इसी (दुःख-पूर्ण) संसार को ही
भव्यं त्वद्-धाम=आपका मोक्ष संपदाप्रद स्वरूप

१ क० पु० संयोजनावियोजनक्रमेण—इति पाठः ।
२ ग० पु० यथा च तत्तथा—इति पाठः ।

पश्यन्ति = समझते हैं,
तेभ्यः = उन को
नमो नमः = बार-बार (मेरा) नमस्कार हो* ॥ १० ॥

एकान्तद्वादशान्तादिपदं परमलोकं चागत्वा, भोगानधरभूमीः शरीरं चात्यक्त्वा इदमेव—अप्रबुद्धानां हेयाभिमतं भव्यं त्वद्धाम—चिद्घनं ये पश्यन्ति, भव्याः—दिव्यमहार्थदृष्ट्याविष्टास्तेभ्यो नमो नमः; वीप्सयैषामेव परतत्त्ववित्त्वं ध्वनति ॥ १० ॥

भक्तिलक्ष्मीसमृद्धानां किमन्यदुपयाचितम् ।
एतया वा दरिद्राणां किमन्यदुपयाचितम् ॥११॥

भक्ति- = (स्वरूप-समावेश-मयी) भक्ति रूपिणी
लक्ष्मी- = लक्ष्मी से
समृद्धानां = संपन्न (भक्तों) के लिए
अन्यत् = और
किम् = क्या
उपयाचितम् = मांगने योग्य है ? (अर्थात् और किसी वस्तु की इच्छा नहीं रहती ।)
एतया वा दरिद्राणाम् = और जो इस संपत्ति से रहित हों, (अर्थात् जिन को ऐसी भक्ति रूपिणी संपत्ति प्राप्त न हो), उनके लिए
अन्यत् = (ऐसी भक्ति के सिवा) और
किम् = क्या
उपयाचितम् = मांगने योग्य है ? (अर्थात् वे इसी को चाहते हैं) ॥ ११ ॥

किमन्यदिति—प्राप्तव्यस्य प्राप्तत्वात् नास्त्येव अन्यद्याचितव्यम् । किमन्यदिति—परमार्थस्यानासादनात् किमन्येनासारप्रायेणेत्यर्थः ॥११॥

---

* अप्रबुद्ध योगी-जन संसार और इस के क्रिया-कलाप अर्थात् विविध कार्यों को त्याग कर जंगल जाते हैं और वहाँ भगवान् की खोज करते हैं, पर फिर भी सफल नहीं होते । किन्तु समावेश-शाली भक्त-जन इसी दुःखालय जगत् को भगवान् का जीता-जागता तथा जाज्वल्यमान स्वरूप समझते हैं और इसी के बीच में रहते हुए तथा सभी लौकिक कार्यों को करते हुए वे भगवान् के साक्षात्कार का आनन्द लूटते हैं ॥ १० ॥

१ क० पु० एनया—इति पाठः ।

दुःखान्यपि सुखायन्ते विषमप्यमृतायते ।
मोक्षायते च संसारो यत्र मार्गः स शाङ्करः ॥ १२ ॥

यत्र = जहाँ (अर्थात् जिस मार्ग पर चलने से)
दुःखानि = दुःख
अपि = भी
सुखायन्ते = सुख बन जाते हैं,
विषम् = विष
अपि = भी
अमृतायते = अमृत बन जाता है
च = और
संसारः = यह संसार (भी)
मोक्षायते = मोक्ष (की प्राप्ति) का साधन बन जाता है,
सः = वह
शांकरः = भगवान् शंकर का
मार्गः = मार्ग (अर्थात् परम शाक्त-पद)
(**अस्ति** = है) ॥ १२ ॥

[1]त्रयमप्येतच्चिदानन्दघननिजबलाक्रमणादेव भवति । मा[2]र्गः—प[3]रं शाक्तं पदम् ॥ १२ ॥

मूले मध्येऽवसाने च नास्ति दुःखं भवज्जुषाम् ।
तथापि वयमीशान सीदामः कथमुच्यताम् ॥१३॥

ईशान = हे स्वतंत्र प्रभु !
भवत्- = आप के
जुषां = भक्तों को
मूले = आरम्भ,
मध्ये = मध्य
च = और
अवसाने = अन्त में (अर्थात् संवित् के उदय, प्रसर तथा विश्रांति में)
दुःखं = (कोई) दुःख
नास्ति = नहीं होता,
तथापि = तो भी
वयं = हम
सीदामः = कष्ट उठाते हैं,
कथम् (**एतत्**) = यह क्या बात है ।
(**इति**) **उच्यताम्** = ज़रा कहिए तो ! ॥ १३ ॥

१ क० पु० यत्र सर्वमप्येतत्—इति पाठः ।
२ ग० पु० मार्गपदम्—इति पाठः ।
३ ग० पु० शाक्तपदवाचकम्—इति पाठः ।

प्राग्वत् व्युत्थानावस्थितस्योक्तिः । मूले मध्येऽवसाने इति—संविदुदयप्रसरविश्रांतिषु। सीदामः—व्युत्थानेनाभिभूयामहे ।। १३ ।।

ज्ञानयोगादिनान्येषामप्यपेक्षितुमर्हति[1] ।
प्रकाशः स्वैरिणामेव भवान् भक्तिमतां प्रभो[2] ॥१४॥

प्रभो = हे प्रभु !
अन्येषां = कुछ लोगों के लिए
भवान् = आप
ज्ञान- = ज्ञान,
योग- = योग
आदिना अपि = (तथा क्रिया) आदि (उपायों) की भी
अपेक्षितुम् = अपेक्षा करने के
अर्हति = योग्य होते हैं ।
(**परं** = किन्तु)
स्वैरिणां = (समावेश-शाली और इसी लिए) स्वेच्छाचारी
भक्तिमतां = भक्त-जनों के लिए
(**भवान्** = आप का स्वरूप)
(**सदा** = सदा)
प्रकाशः = प्रकट
एव = ही
भवति = होता है* ।। १४ ।।

प्रभो ! केषांचित् ज्ञानयोगक्रियाद्युपायैर्भवान् स्फुरति, भक्तानां पुनः स्वैरिणाम्—उपायानपेक्षिणां त्वत्समावेशात् प्राप्तत्वन्महिम्नां च भवान् प्रकाशस्वभावः सदेति यावत् ।। १४ ।।

भक्तानां नार्तयो नाप्यस्त्याध्यानं स्वात्मनस्तव ।
तथाप्यस्ति शिवेत्येतत्किमप्येषां बहिर्मुखे ॥१५॥

---

१ क० पु० इवापेक्षितुमर्हति—इति पाठः । २ ग० पु० विभो इति पाठः ।

* भावार्थ—हे प्रभु ! सामान्य भक्तों को ज्ञान, क्रिया तथा योग आदि अनेक उपायों का आश्रय लेना पड़ता है और इस प्रकार बड़ा परिश्रम तथा माथा-पच्ची करना पड़ता है । फिर कहीं उन को आप के स्वरूप का साक्षात्कार प्राप्त होता है । किन्तु आप के समावेश-शाली भक्तों को कोई ऐसा कष्ट उठाना नहीं पड़ता । उन्हें उपायों की झंझट में फ़ंसना नहीं पड़ता । वे अपने व्यवहार में स्वतंत्र होते हैं । फिर भी उन्हें आप के स्वरूप-साक्षात्कार का आनन्द सदा और अनायास ही प्राप्त होता है । यही आप की भक्ति का अनूठापन है ।। १४ ।।

(परमात्मन् = हे परमेश्वर !)
भक्तानां = (आप के समावेशशाली) भक्तों को
न = न तो
आर्तयः = दुःख ही
(सन्ति = होते हैं)
न अपि = और न
तव = आप
स्वात्मनः = स्वात्म-स्वरूप की
आध्यानम् = (प्राप्ति की अभिलाषा के कारण) चिन्ता ही
अस्ति = होती है ।
तथापि = तो भी
किमपि = (परमानन्द से अभिन्नता को सूचित करने वाला), अलौकिक
शिव = 'हे शिव'
इत्येतत् = ऐसा शब्द
बहिः = बाहर से (अर्थात् व्युत्थान-दशा में)
एषां = इन भक्तों के
मुखे = मुख में
अस्ति = रहता है, (अर्थात् यह शब्द इन के मुख से आप से आप ही उच्चरित होता रहता है) ॥१५॥

आर्तयः—क्लेशाः । आध्यानं—प्राप्त्यभिलाषेण[1] चिन्तनम् । तव स्वात्मन इति—स्वात्मतयैव स्फुरतः । तथापीति—भक्तत्वादेव । किमपीति—परमानन्दैकात्म्यव्यञ्जकं[2] निर्निमित्तं च ॥ १५ ॥

सर्वाभासावभासो यो विमर्शवलितोऽखिलम् ।
अहमेतदिति स्तौमि तां क्रियाशक्तिमीश ते ॥१६॥

ईश = हे विश्वेश्वर !
अहम् = 'मैं ही
एतत् = यह
अखिलम् = समस्त जगत् हूँ'
इति = ऐसा
यः = जो
सर्व- = सभी
आभास- = प्रकाशों का
अवभासः = प्रकाश
विमर्श- = स्वात्म-परामर्श से (अर्थात् परमानन्द के चमत्कार से)
वलितः = परिपूर्ण बना हुआ
(अस्ति = है),
तां = उसी
ते = आप की

१. क० पु० प्राप्त्यभिलाषचिन्तनम्—इति पाठः ।
२ ग० पु० व्यञ्जनम्—इति पाठः ।
३ ख० पु० अपि सन्—इति पाठः ।

क्रिया-शक्तिम्=(अहं-परामर्श रूपिणी) क्रिया-शक्ति की
(**अहं** = मैं)
स्तौमि = स्तुति करता हूँ, (अर्थात् उसी में समावेश करता हूँ)॥१६॥

अहमेतदखिलमिति यः सर्वाभासावभासः—सदा विश्वेश्वरप्रकाशः। कीदृक्? विमर्शेन—परमानन्दचमत्कारेण वलितो—वृतः, क्रियाशक्तिम्—ईशशक्तिम्, ईश ते स्तौमि—इति प्राग्वत्[1] ॥ १६ ॥

वर्तन्ते जन्तवोऽशेषा अप ब्रह्मेन्द्रविष्णवः।
ग्रसमानास्ततो[2] वन्दे देव विश्वं भवन्मयम् ॥१७॥

देव = हे प्रभु!
(**जगति** = इस संसार में)
अशेषाः = (क्षेत्रज्ञ नाम से प्रसिद्ध) सभी
जन्तवः = जीव
(**एवं** = तथा)
ब्रह्मा- = (सृष्टि-कर्ता) ब्रह्मा,
इन्द्र- = (शासन-कर्ता) इन्द्र
विष्णवः = और (स्थिति-कर्ता) विष्णु
अपि = भी
***ग्रसमानाः** = ग्रसमान अर्थात् सदैव अपने-अपने विषयों का आहार करने में लगे हुए ही
वर्तन्ते = दिखाई देते हैं,
ततः = इसलिए (मैं)
भवत्-मयं विश्वं = आप (सर्वाहरण-शाली) से अभिन्न बने हुए जगत् को
वन्दे = प्रणाम करता हूँ ॥ १७ ॥

अपि ब्रह्मेन्द्रविष्णव इति—सृष्टिस्थितिकारिणः प्रसिद्धाः। आसतां रुद्रादयः, तेऽपि यावदशेषा जन्तवः—क्षेत्रज्ञाः ग्रसमानाः—सदा स्वविषयाहृतिप्रवणा वर्तन्ते—तिष्ठन्ति यतो हे देव—अशेषप्रमात्रादिरूपेण क्रीडाशील! ततो विश्वं भवन्मयं विश्वं—ग्रसनशीलत्वदद्वयरूपं वन्दे—प्राग्वत् ॥ १७ ॥

१ ग० पु० पूर्ववदिति पाठः। २ घ० पु० ग्रस्यमानाः—इति पाठः।

* आशय यह है कि इस संसार में ऐसा कोई जीव नहीं जो रूपादि विषयों का आहार करने में न लगा हो। सभी तो विषयों का आहार करने में लगे ही रहते हैं, अतः समस्त संसार आप सर्वाहरणशाली का स्वरूप धारण करके ही ठहरा है।

सतो विनाशसम्बन्धान्मत्परं निखिलं मृषा ।
एवमेवोद्यते[1] नाथ त्वया संहारलीलया ॥ १८ ॥

नाथ = हे स्वामी !
संहार- = (इस जगत् के) संहार की
लीलया = लीला से (अर्थात् इस खेल के द्वारा)
त्वया = आप से (हमें)
एवमेव = यही
उद्यते = बतलाया जाता है, (अर्थात् आप इसी बात की सूचना देते हैं),—
सतः = '(संसार में) होने वाले (सभी पदार्थों तथा जीवों) का
विनाश- = नाश होने के
संबन्धात् = कारण
मत्-परं = मुझ चित्-स्वरूप से भिन्न (अर्थात् मेरे सिवा)
निखिलं = सब कुछ
मृषा = असत्य (अर्थात् असत् या सत्ता-हीन)
(**अस्ति** = है)'* ॥ १८ ॥

हे नाथ ! संहारक्रीडया एवमेवोच्यते—मत्तः—चिदेकरूपात्परमुल्लासितस्वभावत्वादधिकमिव यत्किंचित् सदाशिवान्तं तन्मृषा—न पृथग्भवतीत्यर्थः; यतः सतः—अनधिकस्याप्याधिक्येन इव आभासमानस्य विनाशेन सम्बन्धाच्चिदात्मन्येव विगलितत्वेन स्थितिर्भवति । तदुक्तं

'यत्सदाशिवपर्यन्तम्…… ।' स्व० तं०, प० १०, श्लो० १२६४ ॥

इत्यादि

'विनाशोत्पत्तिसंयुतम् ॥' स्व० तं०, प० १०, श्लोक १२६५ ॥

इत्यन्तम् । तथा

'कार्यताक्षयिणी तत्र…… ।' स्पं०, नि० १, श्लो० १४ ॥

इत्यादि ॥ १८ ॥

---

[1] क० पु० एवमावेद्यते—इति पाठः ।

* सारांश—हे नाथ ! आप की 'संहार-लीला' से यही सूचित हो जाता है कि आप चिदात्मा के सिवा जो कुछ जड़-चेतन है, वह अन्त में आप में ही लीन होता है । अतः उस की अपनी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है ॥१८॥

ध्यातमात्रमुपतिष्ठत एव
त्वद्वपुर्वरद भक्तिधनानाम् ।
अप्यचिन्त्यमखिलाद्भुतचिन्ता-
कर्तृतां प्रति च ते विजयन्ते ॥ १९ ॥

वरद = हे वरदाता भगवान् !
(**मित-योगिभिः**=परिमित सिद्धिवाले योगियों के)
अचिन्त्यम् = ध्यान में न आ सकने वाला
अपि = होते हुए भी
त्वद्- = आप का
वपुः = चिन्मय-स्वरूप
भक्ति- = (समावेश-मयी) भक्ति के
धनानां = धनी भक्तों को
ध्यात-मात्रम् एव = ध्यान लगाते ही
उपतिष्ठते=तत्क्षण उपलब्ध होता है।
(**अतः**) **च** = और इसी लिए
ते = वे भक्त-जन
अखिल- = ध्यान संबन्धी सभी
अद्भुत- = आश्चर्य-जनक
चिन्ता- = कार्यों के—
कर्तृतां प्रति = करने में
विजयन्ते = (अन्य सभी लोगों से) बढ़-चढ़ कर होते हैं* ॥ १९ ॥

मितयोगिभिश्चिन्तयितुमशक्यमपि यत्स्वरूपं भक्तिधनानां ध्यातमात्रमुपतिष्ठते—ध्यानसमनन्तरमेव सन्निधीयते इत्यर्थः । ते च भक्ताः अखिलायाः अद्भुतचिन्तायाः कर्तृतां प्रति विजयन्ते—त एवासामान्यविस्मयप्रवर्तकाः सर्वोत्कर्षेण[1] वर्तन्ते इत्यर्थः ॥ १९ ॥

---

* (क) शब्दार्थ—अद्भुत = आश्चर्य-जनक, चमत्कार-पूर्ण ।
चिन्ता = ध्यान ।
कर्तृता = कार्य काम ।

(ख) भावार्थ—हे प्रभु ! सामान्य योगी आप चित्स्वरूप का ध्यान भी नहीं कर सकते । किन्तु समावेश-शाली भक्तों को ध्यान लगाते ही आप का साक्षात्कार प्राप्त हो जाता है और अपने इस सौभाग्य के बल पर वे चमत्कार-पूर्ण कार्य कर सकते हैं । इस प्रकार जो बात औरों के लिए असंभव होती है, वह आप के भक्तों के लिए बायें हाथ का खेल होता है । यही आपकी भक्ति की महिमा तथा विलक्षणता है ॥ १९ ॥

१ ग० पु० सर्वोत्कर्षिणः—इति पाठः ।

तावकभक्तिरसासव-
सेकादिव सुखितमर्ममण्डलस्फुरितैः ।
नृत्यति वीरजनो निशि
वेतालकुलैः कृतोत्साहः ॥ २० ॥

(**महेश्वर** = हे परमेश्वर !)
तावक- = आप की
भक्ति-रस- = (समावेश-मयी) भक्ति के रस रूपी
आसव- = मधु के
सेकात् = सेचन से
इव = मानो
सुखित- = आनन्दित बने हुए
मर्म-मण्डल- = (भेद-प्रथा रूपी) पाश-समूहों के कारण
स्फुरितैः = चमकते हुए
वेताल- = (इन्द्रिय रूपी) वेतालों के
कुलैः = समूहों से
कृत-उत्साहः = उत्साहित होकर (अर्थात् चिद्विकास-संपन्न होकर)
वीर-जनः = (संसार रूपी बड़े पशु को मारने वाले) शूर-वीर लोग (अर्थात् भक्त-जन)
निशि = (माया रूपिणी) रात में ही
नृत्यति = (चित्-विकास से) नाच उठते हैं ॥ २० ॥

बाह्योऽर्थः स्पष्टः । वीरजनः—विदारितसंसारमहापशुः भक्तजनो[1] निशि—मायामध्य एव, नृत्यति—चिद्विकासेन विलसतितराम् । कथं ? तावकभक्तिरसासवसेकात्—त्वत्समावेशामृतसेचनादिव,[2] सुखितानि—आनन्दवन्ति[3] यानि मर्ममण्डलानि—पाशसञ्चयास्तेषां संबन्धिभिः स्फुरितैः—आसनमुद्राबन्धैः[4] वेतालकुलैः—पशुहृदयाघट्टकप्रत्ययोदयानु-[5]वर्तिशक्तिशतैः कृतोत्साहः—परिपोषितचिदभ्युदयः ॥ २० ॥

१ ग० पु० भक्तलोकः—इति पाठः ।
२ ख० पु० सेकादिव—इति पाठः ।
३ घ० पु० आनन्दनन्दितानि—इति पाठः ।
४ क० पु० आसनमुद्रासदृशैः—इति पाठः,
ग० पु० विचित्रैः स्तोभमुद्राबन्धैः—इति च पाठः ।
५ ग० पु० पशुहृदयाच्च दृकप्रत्यय—इति पाठः ।

आरब्धा भवदभिनुति-
रमुना येनाङ्केन मम शम्भो ।
तेनापर्यन्तमिमं कालं
दृढमखिलमेव भविषीष्ट ॥ २१ ॥

शम्भो = हे कल्याण-कारी प्रभु !
अमुना येन = (समावेश की श्रेष्ठता को दिखाने वाले) जिस
अङ्केन = (अलौकिक) प्रकार से
(**इयं** = यह)
भवत्- = आप की
अभिनुतिः = स्तुति
आरब्धा = की गई है,
तेन एव = उसी प्रकार से
(**असौ** = यह समावेश-आश्रित आप की स्तुति)
इमम् = इस
अखिलम् = सारे
अपर्यन्तं = अनन्त
कालं = समय तक (अर्थात् सदैव)
दृढं = दृढ (अर्थात् अविचलित) होकर
भविषीष्ट = होती रहे, (अर्थात् मैं सदा आप की ऐसी स्तुति करता रहूं) ॥ २१ ॥

इति श्रीमदुत्पलदेवाचार्यविरचितस्तोत्रावलौ राजानकलक्ष्मणविरचित-
भाषाटीका समाप्तेति शिवम् ।



* क्वचिदप्यसदृशशैलीदर्शनादनार्ष एवायं[2] श्लोकस्तथापि व्याख्यायते । अमुना—चिद्द्वयसमावेशोत्कर्षप्रदर्शिना, येनाङ्केन—सर्वजनासंलक्ष्येण प्रकारेण, शम्भो तव स्तुतिरारब्धा, तेन प्रकारेण अपर्यन्तमिममखिलं कालं दृढम्—अविचलं कृत्वा असौभविषीष्ट—प्राप्नुयात् । भू प्राप्तौ—इत्यस्य एतद्रूपमिति[3] शिवम् ॥ २१ ॥

१ क० पु० अभिनतिः—इति पाठः ।
* नोट—विवृति-कार श्री क्षेमराज जी ने लिखा है—'ग्रन्थकार की शैली के असदृश दीख पड़ने के कारण ऐसा जान पड़ता है कि यह श्लोक आर्ष अर्थात् श्रीमान् ऋषि उत्पलदेव जी का नहीं बनाया हुआ है ॥' पाठक-गण इसका स्वयं विचार करें कि श्री क्षेमराज जी ने ऐसा क्यों लिखा है ।
२ ख० पु० इवायम्—इति पाठः ।
३ क० पु० रूपम्—इति पाठः ।

क्लेशान्विनाशय विकासय हृत्सरोज-
मोजो विजृम्भय निजं ननु नर्तयाङ्गम् ।
चेतश्चकोरचितिचन्द्रमरीचिचक्र-
माचम्य सम्यगमृतीकुरु विश्वमेतत् ॥ १ ॥

श्रुतिपथमिता सूक्तिश्रेणी धुनोति भवातपं
निरुपमपरानन्दव्याप्तिं तनोति च तत्क्षणात् ।
इयमिति विभोः शम्भोर्भक्त्या परं परमेष्ठिनो
विहितललितव्याख्यास्माभिः कृतार्थजनार्थितैः ॥ २ ॥

विश्वत्रयेऽपि विशदैरसमस्वरूपैः
शास्त्रैस्तथा विवरणैः प्रथितैव कीर्तिः ।
तस्माद्गुरोरभिनवात्परमेशमूर्तेः
क्षेमो निशम्य विवृतिं व्यतनोदमुत्र ॥ ३ ॥

इति श्रीमदीश्वरप्रत्यभिज्ञाकाराचार्यचक्रवर्तिवन्द्याभिधानोत्पलदेवाचार्य-
विरचिते चर्वणाभिधाने विंशे स्तोत्रे महामाहेश्वर-
श्रीक्षेमराजविरचिता विवृतिः ॥ २० ॥



वेदाग्निखशराब्दे हि रोहिण्यां कुजवासरे ।
पौषमासे सिते पक्षे तथा चैकादशीतिथौ ॥ १ ॥

शारिकाप्रभयोर्भक्त्या तुष्यता ज्ञप्तये तयोः ।
राजानलक्ष्मणेनेयं भाषाटीका मया कृता ॥ २ ॥

मन्येऽनया भवेन्नूनं जनानां भविनामपि ।
भुक्तिमुक्तिप्रदा भक्तिः शिवे स्वात्ममहेश्वरे ॥ ३ ॥

सांख्ययोगादिशास्त्रज्ञः पाणिनीये पतञ्जलिः ।
शिवार्करश्मिसंपातव्याकोशहृदयाम्बुजः ॥ ४ ॥

महामहाहेश्वरः श्रीमान् राजानकमहेश्वरः ।
शैवशास्त्रगुरुः स मे वाक्पुष्पैरस्तु पूजितः ॥ ५ ॥

इति निवेदयति शिवभक्तानुचरः काश्मीरदेशवास्तव्यः राजानकलक्ष्मणः ।



श्लोकानुक्रमणिका

